उर्वशी का समस्या-संदर्भ

(हैदराबाद विश्व विद्यालय की पी. एच. डी. उपाधि के लिए

प्रस्तुत शोध-प्रबध)

(1982)

-: प्रस्तुतकर्ता :-

ओम प्रकाश मिश्र एम. ए.

निर्देशिका :

डा. (श्रीमती) नूरजहां बेगम

एम. ए. (हिन्दी). एम. ए. (संस्कृत) पी. एच-डी.

प्राध्यापिका, हिन्दी विभाग

हैदराबाद विश्वविद्यालय, हैदराबाद

अध्यक्ष

डा. चन्द्रभान रावत

एम. ए., पी. एच-डी., डी-लिट्.

आचार्य एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग

हैदराबाद विश्वविद्यालय, हैदराबाद

C E R T I F I C A T E

Certified that this thesis is a bonafide record of work done by Sri Om Prakash Mishra, M.A., Senior Research Fellow, for Ph.D., Hindi, University of Hyderabad, Hyderabad, under my guidance and supervision during the period 1979-82 and this thesis has not formed in whole or part, the basis for the award of any other Degree, Diploma or any other similar title.

Noorjahan Begum

SUPERVISER

HYDERABAD.
Date :

आमुख

भूमिका के बहाने कुछ कहना विवशता को परम्परा हो सकती है किन्तु मेरे निकट यह मेरे प्रस्तुत अनुसन्धान का वह शब्द प्रा-रूप है जो एक दिन समूची विराटता के साथ मेरी सीमाओं में उद्भासित हो उठा था तथा जिसे रूपायित करने के लिए मेरे समस्त प्रयास निरन्तर चिन्तन बिन्दुओं को जुटाते रहे हैं। .....

ओम प्रकाश मिश्र

****

सत्यान्वेषण तत्पर:

अनुसन्धान का प्रत्येक कार्य वस्तुत: सत्य की तलाश है । सत्य जो काल की शाश्वतता में प्रवाह की चेतनता है, जिसमें हम सब सम्पृक्त, अर्द्ध-सम्पृक्त तथा असम्पृक्त स्थितियों में रहते हैं । हमारी जागरूकता एवं सुषुप्ति दोनों ही चेतना संपृक्त होने पर ही अभिज्ञान का विषय बनतीं हैं । प्रबुद्धता के प्रयास में जब भी व्यक्ति गोताखोरी करता है उसके हाथ प्राय: घोंघे और सीपी ही लगते हैं क्योंकि मोती का होना उसका अपना होना है जिसके अस्तित्व की आब का उजास उसे गहन नीलिमा में झिलमिलाता तो दृष्टिगत होता है किन्तु उसे पा लेने का प्रयास उसके अपने बोध के साथ ही बिखर जाता है ।

काल-बोध आदमी के खिलाफ आदमी की सबसे बड़ी लड़ाई है । इस लड़ाई में उसे ढेरों चुनौतियों का सामना करनापड़ता है । ये चुनौतियाँ अपनी क्षुरता में आदमी के अनगढ़पन को तराश - तराश कर उसे नया संस्कार देती रहतीं हैं । मेरे निकट ये भी इनकी भूमिका काफी अहं रही है । उर्वशी अध्ययन के दौरान मुझे सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण उर्वशी का वह कथन लगा जिसमें वह पुरूरवा को घर लौट जाने का परामर्श देती हुई कहती है, " मैं वायु के समान दुष्प्राप्य हूँ । ×

****

× "दुरापना वात इवाहमस्मि" - ऋगवेद 2/10/96

तथा

"मैं मनोदेश की वायु व्यग्र व्याकुल चंचल" - दिनकर, उर्वशी, पृष्ठ 74

***

उर्वशी का समस्या संदर्भ

काव्य की केन्द्रीय समस्या की तलाश जीवन की केन्द्रीय समस्या की तलाश है जो अनेक समस्याओं के मध्य संदर्भित रहती है किन्तु जिसकी आहट हर तट पर सुनी जा सकती है । अव्यक्त का व्यक्त रूप ही व्यक्तित्व है जिसके उभरते ही समस्याएँ सहसा प्रकाशवती हो उठती हैं । जीवन की मूल समस्या के अनुसंधान में मेरे लिए मनोविज्ञान, दर्शन तथा समाज-मनोविज्ञान जैसे अनुशासनों में प्रवेश अपरिहार्य होगया था क्योंकि जब तक जीवन की केन्द्रीय समस्या को निर्धारित न कर लिया जाय काव्य में अनुस्यूत समस्या की ओर संकेत किया भी कैसे जा सकता है ? केन्द्र की यह खोज ही मेरे निकट सत्यानुसंधान रही है जिसका फलित रूप उर्वशी के समस्या संदर्भ में यत्किंचित व्यक्त हो सका है ।

यत्किंचित इसलिए भी क्योंकि पूर्णता का प्रत्येक प्रयास अंतत: अपूर्णता में ही पर्यवसित होता है । मनुष्य अपने आप में जब तक अपूर्ण है तब तक उसका अपनी कृति के संबंध में पूर्णता का दावा व्यर्थ है ।

काव्यानुशीलन के अनेक मार्ग हैं और सभी अपनी-अपनी गरिमा में महान हैं किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उन मार्गों के अतिरिक्त अन्य मार्ग संभव ही नहीं । जीवन के जिस दृष्टिकोण से मैंने उर्वशी को देखने का प्रयास किया है उससे अन्य रचनाओं को भी देखा-परखा जा सकता है ।

***

***

***

उर्वशी का समस्या संदर्भ

***

****

उपसंहार में शोध यात्रा के समस्त निष्कर्षों को अत्यंत संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत करते हुए अनागत मेधा के भावी रेखा पथ का संकेत किया गया है ।

इस शोध प्रबन्ध को भी अन्य शोध प्रबन्धों के समान अनेक सीमाएँ हैं । उदाहरण के लिए मैंने इस प्रबन्ध में अपने विवेचन को मात्र कथ्य की उस आकुलता तक सीमित रखा है जिसकी अभिव्यक्ति अपनी रचनात्मकता में कला की विभिन्न विधाओं का उनकी बहुआयामिता में सृजन करती है । इसीलिए उर्वशी के शिल्पविधान या भाषा की अर्थवत्ता पर कुछ भी नहीं कहा गया है । इसके साथ ही मनोविज्ञान, समाजशास्त्र कामशास्त्र तथा दर्शनशास्त्र जैसे अनुशासनों का उपयोग भी अत्यंत सीमित दायरे में रहकर ही किया गया है । विस्तार और गहनता से बचने के मूल में प्रबन्ध की अन्विति के बिखराव का भय तथा मेरी अपनी बुद्धि का बौनापन दोनों ही प्रमुख रहे हैं, जिसे मैं अपनी शोध धर्मिता को पूरी बौद्धिक ईमानदारी के साथ स्वीकार करता हूँ ।

अनुगृहीत हूँ विभागाध्यक्ष गुरुवर डा. चन्द्रभान रावत का जिन्होंने प्रस्तुत विषय को न केवल शोध के लिए स्वीकृत किया प्रत्युत जीवन के कठिनतम क्षणों में अभिभावकत्व का अयाचित वरदान देकर रक्षा की ।

****

***

जीवन सहचरी श्रीमती विश्व मोहिनी मिश्रा के प्रति कृतज्ञता का प्रदर्शन उनको नाराजगी को सहज ही मोल लेना है जो एक पति होने नाते मैं कभी न लेना चाहूंगा परन्तु उनका नामोल्लेख भी न करना उस तपस्या का अपमान होगा जिसके बल बूते पर उन्होंने मुझे अध्ययन की समूची अवधि में परिवार की समस्त समस्याओं से पूर्णत: मुक्त रखा ।

ओम प्रकाश मिश्र

क्रम/ अनुक्रम

खण्ड : एक : दृष्टिकोण *

0 प्रस्तावना .....24.

0.1 अनुसन्धान सत्यान्वेषण .....25.

0.1.1 सत्यान्वेषण : पूर्वस्थित वस्तुओं तथा तथ्यों का अभिज्ञान .....26..

0.1.2 सत्य का स्वरूप .....28..

0.1.2.1 तैतिरीयोपनिषद में .....28.

0.1.2.2 छान्दोग्य उपनिषद में .....27.

0.1.2.3 कठोपनिषद में .....29.

0.1.2.4 हेराक्लीतियन मत .....29.

0.1.2.5 बर्टेन्ड रसेल .....30.

0.1.3 सत्य दर्शन : दृष्टिकोण .....30.

0.1.4 आचार्य रजनीश का मत .....31.

0.2 सत्यान्वेषण : मानवीय प्रयासों की परिणति 32

0.3 सत्यान्वेषण : मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण 33

0.3.1 मनोवैज्ञानिक मनोजैविक ऊर्जा:जैविक अभिव्यक्ति.35

0.3.2 मनोजैविक ऊर्जा : कामोर्जा 40

0.3.3 कामोर्जा की अभिव्यक्ति : अवकाश बोध 41

0.4 सत्यान्वेषण : मनोदार्शनिक दृष्टिकोण 42

0.5 आध्यात्मिक व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति :कविता.47

0.5.1 साहित्यिक दृष्टिकोण 46

0.6 सत्य का अदृश्य और अनिर्वचनीय वर्णन : कविता.48

0.7 सत्य के अदृश्य और अनिर्वचनीय की खोज : समस्या संदर्भ 49

0.7.1 उर्वशी का समस्या संदर्भ : सत्यान्वेषण की यात्रा.50

खण्ड : एक : अब तक *

1 उर्वशी की रचना एक महत्वपूर्ण घटना 53
1.1 उर्वशी अचेतन मन की अभिव्यक्ति का काव्य .53
1.2 कृति/ चिन्तन/ समस्या : पारस्परिक सम्बन्ध.55
1.3 प्रचलित मत : सहमति/ असहमति .....56.
1.4 कामाध्यात्म : एक प्रश्न 57
1.5 अस्पष्ट केन्द्रीय समस्या : शोध-यात्रा का प्रस्थान विन्दु 66

खण्ड : दो : समस्या *

2 प्रस्तावना 74
2.1 समस्या: एक विवेचन .....75.
2.1.2 समस्या का मनोवैज्ञानिक स्वरूप .....86.
2.1.3 समस्या का सामाजिक स्वरूप .....89..
2.1.4 समस्या का मनोदार्शनिक स्वरूप .....94.

खण्ड : दो : केन्द्रीय समस्या की तलाश

2.2 प्रस्तावना .....99.
2.2.1 काव्य की रचना प्रक्रिया में .....99.
2.2.2 निष्कर्ष .....126.

खण्ड : दो : केन्द्रीय समस्या की तलाश

2.3 उर्वशी की रचना प्रक्रिया में .....132.

खण्ड : दो : केन्द्रीय समस्या की तलाश : व्यक्तित्व और परिवेश

2.4 उर्वशीकार के व्यक्तित्व में .....157.
2.4.1 व्यक्तित्व : एक अध्ययन 159

खण्ड : दो : केन्द्रीय समस्या की तलाश

2.4.1.1 स्वरूप.....159
2.4.1.2 युंग 168
2.4.1.3 व्यक्तित्व में के तीन स्तर 172
2.4.1.3.1 जैविक स्तर 174
2.4.1.3.2 सामाजिक स्तर 175
2.4.1.3.2.1 लेविन का क्षेत्र सिद्धान्त 178
2.4.1.3.2.2 आवश्यकता सिद्धान्त : एरिक फ्राम :.....184
2.4.1.3.2.2.1 सम्बन्धित रहने की आवश्यकता 185
2.4.1.3.2.2.2 अतिक्रमण की आवश्यकता 185
2.4.1.3.2.2.3 मूलबद्धता की आवश्यकता 185
2.4.1.3.2.2.4 पहचान की आवश्यकता 185
2.4.1.3.2.2.5 अनुस्थापन की आवश्यकता 186
2.4.1.3.2.3 कैरेन हार्नी 186
2.4.1.3.2.3.1 जनसमुदाय की ओर बढ़ने की आवश्यकता 187
2.4.1.3.2.3.2 जनसमूह से दूर हटने की आवश्यकता 187
2.4.1.3.2.3.3 जनसमुदाय के विरुद्ध उठने की आवश्यकता .187
2.4.1.3.2.3.4 हैरी स्टैक सुलीवन 187
2.4.1.3.2.5 मरे.....188
2.4.1.3.2.5.1 मुख्य आवश्यकतायें 189
2.4.1.3.2.5.2 गौण आवश्यकतायें 189
2.4.1.3.2.5.3 प्रत्यक्ष आवश्यकतायें 189
2.4.1.3.2.5.4 अप्रत्यक्ष या गुप्त आवश्यकतायें 190
2.4.1.3.2.6 जी. डब्लू . आलपोर्ट 190
2.4.1.3.2.7 अब्राहम . एच. मासलॉव 191
2.4.1.3.3 व्यक्तित्व का अध्यात्मिक स्तर 193
2.4.1.3.3.1 शरीर सिद्धान्त 193

खण्ड : दो : केन्द्रीय समस्या की तलाश

2.4.1.3.3.2 संश्लेषण सिद्धान्त 199

2.4.1.4. व्यक्तित्व अस्तित्व बोध से आत्म बोध तक 202

2.4.1.5 व्यक्तित्व मूल्यांकन एवं परिवेश 205

2.4.1.5.1. भौतिक परिवेश .....206.

2.4.1.5.2 मानसिक परिवेश .....206.

2.4.1.6 व्यक्तित्व मूल्यांकन तथा केन्द्रीय समस्या ..206.

खण्ड : दो : परिवेश

2.4.2.1. परिवेश : एक अध्ययन .....211.

2.4.2.2 भौगोलिक परिवेश .....212.

2.4.2.3 प्राकृतिक परिवेश .....213.

2.4.2.3.1 उपज एवं प्रमुख व्यवसाय .....214.

2.4.2.3.2 मानवीय प्रकृति परिवेश .....215.

2.4.2.4 ऐतिहासिक परिवेश .....215.

2.4.2.5 आर्थिक परिवेश .....221.

2.4.2.5.1 भारतीय ग्रामीण अर्थ व्यवस्था .....223.

2.4.2.5.1.1 उद्योग धन्धे .....223.

2.4.2.5.1.2 कृषि .....225.

2.4.2.5.1.2.1 भूमिहर .....226.

2.4.2.5.1.2.2 बिहार में नील की खेती .....227.

2.4.2.5.1.2.3. अकाल .....228.

2.4.2.6 राजनैतिक परिवेश .....229.

2.4.2.6.1 आतंकवादी कार्य .....232.

2.4.2.7 सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवेश .....234.

2.4.2.7.1 धर्म .....236.

2.4.2.7.2 शिक्षा .....236.

2.4.2.7.3 साहित्यिक परिवेश .....238.

खण्ड : दो : केन्द्रीय समस्या की तलाश

2.4.2.7.4 बिहार का लोक मानस 238

2.4.2.7.4.1 अन्धविश्वास 239

2.4.2.7.4.2 ईर्ष्यालु 240

2.4.2.7.4.3 सीमित आवश्यकताओं वाले 240

2.4.2.7.4.4 स्त्रियों का रहन-सहन 240

2.4.2.7.4.4.1 परदा प्रथा 240

2.4.2.7.4.4.2 वेश-भूषा 240

2.4.2.7.4.4.3 आलस्य एवं आभूषण-प्रियता 241

2.4.2.7.4.5 बाल-विवाह, तथा शिक्षा के प्रति उदासीनता 241

2.4.2.7.4.6 त्योहार 241

2.4.2.8 निष्कर्ष 241

खण्ड : दो : उर्वशीकार व्यक्तित्व और परिवेश विश्लेषण

2.4.3. उर्वशीकार व्यक्तित्व और परिवेश विश्लेषण 247

2.4.3.1 बहिरंग व्यक्तित्व एवं पारिवारिक परिवेश 249

2.4.3.1.1 प्राकृतिक परिवेश 252

2.4.3.1.2 आर्थिक परिवेश 254

2.4.3.1.3. राजनैतिक परिवेश 262

2.4.3.1.4 सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवेश 268

2.4.3.1.4.1 पूजा-पाठ और भूत-प्रेतों में विश्वास 270

2.4.3.1.4.2 शिक्षा और साहित्य सृजन 271

2.4.3.1.4.2.1 साहित्य सृजन 273

2.4.3.1.4.3 जीविका और सम्मान 275

2.4.3.2 अन्तरंग व्यक्तित्व 276

2.4.3.3 व्यक्तित्व विश्लेषण 282

2.4.3.4. अस्तित्व बोध के तल पर असंतुष्ट व्यक्तित्व दिनकर 292

खण्ड : तीन : समस्या

3.1	तथ्य	307
3.1.1	तथ्य : एक	308
3.1.2	तथ्य : दो	315
3.1.3	तथ्य : तीन	319
3.1.4	तथ्य : चार	352
3.1.5	तथ्य : पाँच	358

खण्ड : तीन : अनुशीलन 363

3.2.1	अमरत्व की समस्या	365
3.2.2	व्यक्तित्व के विकास की समस्या	369
3.2.3	सौन्दर्य बोध की समस्या	372
3.2.4	काम की समस्या	375
3.2.5	नारी स्वत्व की समस्या	379

खण्ड : तीन : विश्लेषण

3.3.1	अमरत्व की समस्या : स्वरूप	385
3.3.1.1	परोक्ष रूप	385
3.3.1.2	प्रत्यक्ष रूप	386
3.3.1.2.1	जैवतलीय अमरत्व की समस्या	386
3.3.1.2.2	अध्यात्म तलीय अमरत्व की समस्या	389
3.3.2	विश्लेषण	392
3.3.3	संश्लेषण	395
3.3.4	व्यक्तित्व के विकास की समस्या	398
3.3.4.1	रचना प्रक्रिया में परोक्ष का प्रत्यक्षीकरण	398
3.3.4.2	तुलना : व्यक्तित्व-विकास की समस्या का परोक्ष आयाम	401
3.3.4.2.1	तुलना होनता की ग्रन्थिका प्रत्यक्षीकरण	401
3.3.4.2.1.1	स्वर्ग -लोक और पृथ्वी	402

खण्ड : तीन : विश्लेषण

3.3.4.2.1.1.1 पृथ्वी की महत्ता यानी स्वर्ग का अपकर्ष ...403

3.3.4.2.1.2 देवता और मनुष्य की तुलना : विभिन्न आयाम.405

3.3.4.2.1.2.1 देवता और मनुष्य भौतिक तल पर :शरीर सौंदर्य.406

3.3.4.2.1.2.2 देवता और मनुष्य सामर्थ्य-सीमा पर 407

3.3.4.2.1.2.3 देवता और मनुष्य कर्मोपभोग के तल पर 408

3.3.4.2.1.2.4 देवता और मनुष्य अमरत्व की परम्परा में जैविक तल पर 409

3.3.4.2.1.2.5 देवता और मनुष्य चारित्रिक तल पर 410

3.3.4.3 प्रत्यक्ष का रेखांकन 410

3.3.4.3.1 उर्वशी 410

3.3.4.3.2 पुरूरवा 413

3.3.4.3.3. औशीनरी 415

3.3.4.3.4 आयु 416

3.3.4.3.5 च्यवन और सुकन्या 416

3.3.4.3.6 अप्सरायें 417

3.3.5. विश्लेषण 418

3.3.6. संश्लेषण 419

3.3.7 सौन्दर्य बोध और उसकी समस्या 422

3.3.7.1 स्वरूप 429
१ उर्वशीकार की दृष्टि में

3.3.7.2 सौन्दर्यबोध की समस्या कृति में 432

3.3.7.3 विश्लेषण 438

3.3.7.4 संश्लेषण 439

3.3.8. कामकी समस्या 442

3.3.8. काम : ज्ञात की अज्ञात भूमिका 443

3.3.8.1 काम समस्या का अविर्भाव एवं उसके विभिन्न आयाम 446

3.3.8.2 उर्वशी में काम समस्या का स्वरूप 450

खण्ड : तीन : विश्लेषण

3.3.8.2.1	उर्वशी में काम समस्या का परोक्ष स्वरूप	450
3.3.8.2.2	उर्वशी में काम समस्या का प्रत्यक्ष स्वरूप	453
3.3.8.2.2.1	जैविक आयाम	453
3.3.8.2.2.1.1	पुंसत्वहीनता	453
3.3.8.2.2.1.2	शीतलता	455
3.3.8.2.2.2	सामाजिक आयाम	457
3.3.8.2.2.3	मानसिक आयाम	459
3.3.8.2.2.4	दार्शनिक आयाम	463
3.3.8.2.2.5	व्यावहारिक आयाम	466
3.3.8.3	विश्लेषण	469
3.3.8.4	संश्लेषण	472
3.3.9.	नारी स्वत्व की समस्या	474
3.3.9.1	समस्या का स्वरूप	475
3.3.9.1.1	मातृत्व नारी स्वत्व की समस्या का प्रथम आयाम	476
3.3.9.1.2	गृहणीत्व नारी समस्या का द्वितीय आयाम	477
3.3.9.1.3.	काम नारी अस्मिता की समस्या का तृतीय आयाम	478
3.3.9.1.4	पुरुष व्यवस्था: नारी स्वत्व की समस्या का चतुर्थ आयाम	481
3.3.9.2	विश्लेषण	484
3.3.9.3	संश्लेषण	489
3.4	संश्लेषण	
3.4.1	समस्या/ समस्यायें	492

खण्ड : तीन : संश्लेषण

3.4.2 व्यक्तित्व संश्लेष की समस्या का काव्य : उर्वशी 505

3.4.3 आत्मसाक्षात्कार की समस्या का काव्य : उर्वशी 515

खण्ड : तीन : उपसंहार

4 शोध-यात्रा के अंतिम पड़ाव पर 525

नोट :- * प्रवाह की अक्षुण्णता के कारण प्रबन्ध में शीर्षक न देकर मात्र अंको द्वारा काम लिया गया है ।

खण्ड : एक

सत्यान्वेषण की यात्रा

पुरूरवः । पुनरस्तं परेहि,
दुरापना वातइवाहमस्मि

- ऋग्वेद

---=--- सत्यान्वेषण तत्परः पथिगतः ---=---

सत्य, स्यात् केवल आत्मार्पण, केवल शरणागति है
उसके पद पर, जिसे प्रकृति तुम मैं ईश्वर कहता हूँ ।

- दिनकर

दृष्टिकोण

विद्वज्जनों को प्रस्थान पूर्व मान्यता होती है कि वे जानते हैं और दूसरे भी जानते होंगे मेरा निवेदन यह है कि दूसरे जानते होंगे किन्तु मैं नहीं जानता ।

- अस्तु -

मेरे निकट मेरा अज्ञान और अनुत्तरित प्रश्न ही मेरे पूँजी हैं और प्रस्तुत प्रयास उनकी ही आधी-अधूरी अभिव्यक्ति ।

0 सत्यान्वेषण की यात्रा

देखने के लिये पाँच उपकरणों की आवश्यकता है -

(1) दृश्य,
(2) दृष्टा,
(3) दृष्टि,
(4) प्रकाश तथा
(5) दूरी ।

दृश्य से तात्पर्य है जो है, अर्थात् वह विराट जो हमारे चारो ओर फैला हुआ है । होना ही दृश्य है । दृष्टा देखने की दूसरी शर्त है । दृष्टा के अभाव में दृश्य महत्वहीन है । यदि देखने वाला ही न हो तो दृश्य की बात ही अर्थहीन हो जाती है । वस्तुत: इसे स्वीकार करना चाहिये कि दृष्टा वही है जिसके पास दृष्टि है । दृष्टि से तात्पर्य देखने की क्षमता । दृष्टि के अभाव में दृष्टा का अस्तित्व भी संदिग्ध हो उठता है, परन्तु दृष्टा वह भी हो सकता है जिसमें देखने की आकुलता हो, अभीप्सा हो और अभी तक दृष्टि को उपलब्ध न हुआ हो । ऐसे दृष्टा भी कालान्तर में देर-अबेर दृष्टि सम्पन्न हो सकते हैं । इसके साथ ही ऐसे भी दृष्टा है, जो दृष्टि के अभाव में भी अपने दृष्टत्व को असंदिग्ध मानते हैं, तथा दर्शन का दावा करते हैं । अस्तु दृष्टा और दृष्टि को अलग-अलग स्वीकारना ही मुझे श्रेयस्कर लगता है । चाहें तो कह सकते हैं कि सम्यक् दृष्टि से सम्पन्न दृष्टा । दृष्टि के साथ सम्यक् विशेषण जोड़ने की आवश्यकता नहीं किन्तु यह व्यक्तिगत भाविक विवशता भी हो सकती है ।

प्रकाश के अभाव में दृश्य की परिकल्पना स्पष्ट नहीं होती । दृश्य

के अस्तित्व को नकारने का नहीं उसके बोध का प्रश्न है । यहाँ पर इस तर्क में जाने की आवश्यकता नहीं कि प्रकाश शाश्वत है अथवा अन्धकार । सूर्य शाश्वत है इसलिये प्रकाश भी एक सातत्य है किन्तु सूर्य की स्थिति और गति के नियम इस सातत्य के यथावत् रूप में कठिनाई उत्पन्न करते हैं । प्रकाश का अभाव अन्धकार है, अर्थात् अभावात्मक स्थिति ही अन्धकार है तथा भावात्मक स्थिति प्रकाश । इसके साथ ही दर्शन की प्रक्रिया में दूरी के महत्व को अस्वीकृत नहीं किया जा सकता । वास्तविकता तो यह है कि दूरी यानी डिस्टेन्स के अभाव में दृश्य का दर्शन संभव ही नहीं । दर्पण को यदि आँख से सटा दिया जाय तो कुछ भी नहीं देखा जा सकता । निकटता दर्शन में बाधक होती है ।

दृश्य, दृष्टा, दृष्टि, प्रकाश तथा दूरी के होते हुए भी दृश्य को पूर्ण रूप से देखना संभव नहीं । दृष्टि की एक भौतिक सीमा होती है उसका अतिक्रमण संभव है परन्तु भौतिक जगत् में नहीं । सीमा का कुल इतना ही अर्थ है कि जहाँ तक हम जानते हैं उसके आगे भी कुछ है । कहा जा सकता है कि सीमा के लिये भी कम से कम दो की आवश्यकता होती है । भौतिक जगत् में यह सीमा दृष्टि की ही हो सकती है, जिसे प्रकारान्तर से दृष्टा की सीमा भी कहा जा सकता है । दर्शन की प्रक्रिया में दृष्टा प्रायः दृश्य के सम्बन्ध में, उसकी सीमा के सम्बन्ध में सूचना देता है जो मुख्य रूप से दृष्टा की सीमा की सूचना ही हो सकती है, दृश्य की नहीं । दृश्य विराट है और दृष्टि क्षुद्र । अस्तु क्षुद्र के लिये यह संभव नहीं कि वह विराट को जैसा वह है वैसा देख सके । इसीलिये समस्त वर्णन जो वस्तु जगत् में हमें उपलब्ध है मात्र दृष्टिकोण कहे जा सकते हैं । दृष्टा दृश्य को जब भी देखता है उसके और दृश्य के मध्य एक कोण की सृष्टि हो ही जाती है । दृष्टिकी यही अपूर्णता अनुसन्धान को जननी और अनुसन्धाता की प्रेरणा होती है ।

0.1 अनुसन्धान के क्षेत्र में यह एक स्वीकृत प्रतिज्ञा है कि अनुसन्धान सत्य काअन्वेषण है । × इस प्रतिज्ञा से दो तथ्य हमारे सामने आते हैं -- पहला यह

× डॉ. राजबली पाण्डेय, अनुसन्धान की प्रक्रिया और प्रविधि, अनुसन्धान की प्रक्रिया , सं. डॉ. सावित्री सिन्हा तथा डॉ. विजेन्द्र स्नातक, पृ.167.

कि - सत्य है, क्योंकि जो है नहीं उसका अनुसन्धान भी संभव नहीं, तथा दूसरा यह कि जो सत्य है वह अपने स्पष्ट रूप में नहीं है अस्तु उसके अनुसन्धान की आवश्यकता है । इसी संदर्भ में एक तीसरा प्रश्न उठ सकता है कि जिस सत्य का हम अनुसन्धान कर रहे हैं तथा जिसका अस्तित्व हम स्वीकार कर चुके हैं उसका स्वरूप क्या है ? उसका परिचय क्या है ? हम सत्य से परिचित होकर जब सत्यानुसन्धान में प्रवृत्त होते हैं तो उसे सत्यानुसन्धान की प्रत्यक्ष विधि कहा जा सकता है, परिचय के अभाव में अनुसन्धान संभव ही नहीं । दूसरी विधि है असत्य के रूपों से परिचित हो जाना और उन्हें अस्वीकृत करते जाना । इसे अप्रत्यक्ष या परोक्ष विधि कहा जा सकता है । दोनो स्थितियों में परिचय अनिवार्य है । स्यात् इस दूसरी स्थिति को ही वेद नेति-नेति कहते हैं । कथ्य को स्पष्ट करने के लिये हम यहाँ पर एक माला का उदाहरण ले सकते हैं । माला में हमें मनके दृष्टिगत होते हैं किन्तु मनके माला नहीं हैं । इस तथ्य को अ-स्वीकार नहीं किया जा सकता । माला मनकों की जोड़ है परन्तु यह जोड़ मात्र माला नहीं है । इस जोड़ को एक क्रम से व्यवस्थित एवं ग्रथित करने वाला एक सूत्र भी होता है जिसका पता हमें मात्र उस ग्रन्थि से चलता है जो पूरी माला में कहीं छिपी रहती है । सूत्र भी माला नहीं है । किन्तु निश्चित रूप से सूत्र ही वह कारण है जो समस्त मनकों के मध्य अदृश्य रूप से स्थित रहकर भी उन्हें माला का आकार प्रदान करता है । इसी सूत्र के प्रति जिज्ञासा और उसकी गवेषणा अनुसन्धान की प्रतिज्ञा है । माला के इस उदाहरण में विशेष रूप से वह ग्रन्थि महत्वपूर्ण है जो सूत्रान्वेषण में सहायक होती है । निष्कर्ष रूपेण यह स्वीकार किया जा सकता है कि अनुसन्धान वस्तुत: जिज्ञासा, जिसे कि सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक आइन्सटीन ने हस्तगत प्रश्न की संज्ञा दी है, के प्रति चारित्रिक समर्पण है[X] तथा वह निर्माण कार्य न होकर मात्र पूर्वस्थिति वस्तुओं से परिचित होना भर है ।[2]

X. "Research was largely a matter of character and devotion to the question at hand", Aylesa Forsee, Albert Enstien, theoritical physicist, the Mac Millan Co. New York, 1963, page 159.

2. Ibid, page 74.

0.1.2.2 छान्दोग्य उपनिषद के छठ प्रपाठक के बारहवे खण्ड में उद्दालक आरुणि और श्वेतकेतु को कथा के माध्यम से सत्य के स्वरूप का निर्धारण करने का सुन्दर प्रयास किया गया है । उद्दालक आरुणि अपने पुत्र श्वेतकेतु को त्तवमसि का उपदेश देता हुआ कहता है कि -

" वट वृक्ष का फल लाओ । श्वेतकेतु ने कहा पिता जी, लेआया । तोड़ो इसे । तोड़दिया । इसमें क्या देखते हो ? भगवन । इसमें बहुत से छोटे - छोटे दाने हैं । सारे इन दानो मे से एक को तोड़ो । पिता जी तोड़ दिया । इसमें क्या देखते हो ? पिता जी । इसमें तो कुछ भी नहीं दीखता ।

" पिता ने कहा हे सौम्य । जिसे तू कुछ नहीं कह रहा है, जिस अणुरूप को तू नहीं देख पा रहा है, सौम्य । इस अणुरूप में से ही वह महान वट वृक्ष खड़ा हो जाता है । इस बात पर श्रद्धा कर ।

वह जो अणिमा है, सूक्ष्म तत्व है, यह सब स्थूल जगत् उसी का शरीर है, वही सत्य है, वह सत्य ही आत्मा है, हे श्वेतकेतु । तत्वमसि - तू अर्थात् तेरा आत्मा तत्व है, अर्थात् " सत" है तेरा शरीर " तत्व " वस्तु नहीं है । अथवा तत्वमसि - तू वह है तू भी उसी तरह " सत" है असत नहीं ।[×]

× न्यग्रोध फलमत आहारेतोंद भगवइति । भिन्धीति । भिन्नं भगव इति । किमत्र पश्यसीत्यण्त्य इवेमा धाना भगव । इत्यासामेकां भिन्धीति । भिन्न भगव इति । किमत्र पश्यसीति । न किंचित भगव इति । --
छान्दोग्य उपनिषद, 1/12/6.[पृ.559.]

तं हो वाच यं वै सोम्यैतमणिमानं न निभाललयस एतस्य वै सोम्यैषोअणिम्न एवं महानन्यग्रोधस्तिष्ठति । श्रद्धत्स्व सोम्येति । छा. उ. 2/12/6.पृ.560.

स य एषोअणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्वमसि श्वेतकेतो इति । भूय एवं भगवान् तथा सोम्येति होवाच् ।" - 3/12/6 पृ. 560.

0.1.2 सत्य के सम्बन्ध में विचार करना हो कुछ अजीब -सा प्रतीत होता है । अजीब इसलिये नहीं कि सत्य साधरण -सी बात है प्रत्युत इसलिये कि सत्य शब्द से परिचित होते हुये भी सत्य के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान न के बराबर है । सत्य ही वह शब्द है जिसके सम्बन्ध में हम सब कुछ समझने का दावा सरलता से करते रहे हैं किन्तु आज तक मानवी मेधा यदि कुछ सबसे कम समझ सकी है तो वह भी सत्य ही है ।

0.1.2.1 तैत्तिरीयोपनिषद में सत्य के स्वरूप को निर्धारण करने का प्रयास किया गया है --

> " उसने कामना की । मैं एक से अनेक हो जाऊँ, प्रजनित हो जाऊँ । उसने तप किया । तप करके करने के बाद उसने यह सब सृजा । जो कुछ भी है उसकी सृष्टि करके - उसे रचकर उसमें वह अनुप्रविष्ट हो गया । ब्रह्म के सृष्टि में अनुप्रविष्ट होने पर ब्रह्म के दो रूप होगये । एक रूप सत् है, दूसरा त्यत अर्थात् तत् है । ॥ सत वह है जो दृश्यमान संसार है -- यह भी ब्रह्म रूप है, तत् वह जो यह नहीं है वह है, अदृश्यमान है, वह भी ब्रह्म रूप ही है । ॥ ब्रह्म का एक रूप निरूक्त रूप है, जिसका निर्वचन हो सकता है, दूसरा अनिरूक्त रूप है जिसका निर्वचन वर्णन नहीं हो सकता एक रूप निलयन रूप है, दूसरे के आश्रय से स्थित है दूसरा अनिलयन रूप है, अर्थात् बिना किसी दूसरे के सहारे स्थित है । एक रूप विज्ञान रूप है, चेतन रूप है, दूसरा अविज्ञान रूप है जड़ रूप है । एक रूप सत्य रूप है दूसरा अनृत रूप है कार्य रूप है इस प्रकार सत्य और त्यत- यह और वह इन दोनो रूपों के मेल से- सत का "स" और तत का "त" मिलकर ब्रह्म का सत्य रूप हो जाता है । ब्रह्म का "सत" और "त्यत" ब्रह्माण्ड में सत्य रूप कहलाता है । सत्य शब्द "सत" के " स" और "त्यत" "त्य" के मेल से बनता है । "×

× " सो अकामयत । बहुस्यां प्रजायेयेति । स तपोअतपयत । स तपस्तप्त्वा । इदं सर्वम सृजत । यदिदं किंच । तत् सृष्टवा । तदेवानुप्रविष्यत् । तदनुप्रविष्य । सच्च त्यच्चाभवत् । निरुक्तं चानिरुक्तं च । निलयंचानिलयनं च । विज्ञानंचाविज्ञानं च । सत्यंच अनृतं च । यदि द किंच । तत सत्यमित्याचक्षते । तदत्येष श्लोको भवति च । " - ब्रह्मानन्दवल्लो षष्ठ अनुवाक् तैत्तिरीयोपनिषद, एकादशोपनिषद ॥पृ.भाग॥ सत्य-व्रत सिद्धान्तालंकार प्रथम संस्करण .

0.1.2.3. कठोपनिषद में सत्य शब्द की व्याख्या करते हुये श्री सत्यव्रत जी लिखते हैं कि :-

" वैदिक साहित्य में "ऋत" तथा "सत्य " ये दो शब्द पाये जाते हैं । -- ऋतं च सत्यंचाभीद्धात्तपसाअध्यजायत् - तपोमय ब्रह्म से " ऋत" तथा " सत्य " प्रकट हुये । ऋत का अर्थ है .....निरपेक्ष सत्य (एब्सोल्यूट ट्रुथ) तथा सत्य का अर्थ है .... सापेक्ष सत्य (रिलेटिव ट्रुथ) सत्य तो परिस्थिति के अनुसार बदल सकता है, " ऋत" परिस्थिति पर आश्रित नहीं है । "×

0.1.2.4. सत्य के इसी स्वरूप को पुष्टि करते हुये ग्रीक दार्शनिक हेराक्लीतुस लिखता है कि -

" प्रत्येक वस्तु अग्नि में शिखा के समान है ।"[2]
"(everything like flame in a fire)"

-- तुम एक ही नदी में दो बार पैर नहीं रख सकते क्योंकि ताजा पानी सदा तुम्हारे ऊपर से प्रवाहित हो रहा है ।

(You cannot step twice into the same river, for fresh waters are ever flowing in upon you)3

तथा - " सूर्य प्रतिदिन नया होता है ।

"The sun is every day new" 4

इसप्रकार हम देखते हैं कि हेराक्लीतुस प्रवाह को ही सत्य मानता है ।

"everything is in a state of flux" 5

× कठोपनिषद, एकादशोपनिषद (प्रथम भाग) पृ. 76.

2. Bertrand Russel, History of Western Philosophy George Allen and Unwin London-1946. page-60.

3. Ibid, page-63

4. Ibid, page-63

5. Ibid, page-59.

****

दर्शन के इस सत्य का कवित्वमय रूप "वान" की कविता में अत्यंत सुन्दर ढंग से व्यक्त हुआ है :--

" पिछली रात मैंने देखा,
"सत्य "
शुद्ध अन्तहीन प्रकाश्य प्रभामय प्रकाशवृत्त
शान्तिमय ज्योतिपुंज
घूमता काल
जिसके तल - समेट अपने
वर्ष, दिन, पल- अनुपल
छाया चक्रवत्, समाहित विश्व जिसमें
- गतिवत् । "×

0.2.5 प्रवाह सत्य के इस स्वरूप पर विचार करते हुये प्रसिद्ध दार्शनिक वर्टेन्ड रसेल ने स्पष्ट लिखा है कि -

" चाहे कोई भी विषय हो कोई भी व्यक्ति सत्य के पूर्ण एवं आत्यांतिक रूप पर पहुँच हो नहीं सकता । "2

0.1.3. प्रश्न उठता है कि सत्य को देखने का ढंग क्या हो सकता है ? सत्य का साक्षात्कार करने में मानव अन्तत: असफल क्यों रहता है ? क्या सत्य का साक्षात्कार संभव हो नहीं अथवा फिर उस अनुभूति को अभिव्यक्ति नहीं होती । तथा इसके साथ ही इस स्थिति में भी क्या सत्य की खोज महत्वपूर्ण है ?

****

× "I saw eternity the other night,
Like a great ring of pure and endless light,
All calm as it was bright;
And round beneath it, Time in hours, days, years,
Driven by the spheres
Like a vast shadow moved, in which the world
And all her train were hurled"- Vaughn.
(Quoted by Russel History of western Philosophy, page-65)

2. No man is likely to have arrived at complete and final truth on any subject whatever, Ibid, page-58.

0.1.4. प्रथम प्रश्न का उत्तर देते हुये आचार्य रजनीश कहते हैं :-

" सत्य का अर्थ है जैसा है वैसा ही देखना । "×

परन्तु जैसा है वैसा ही देखना संभव ही नहीं पाता । इस असंभाव्यता का कारण भी दृष्टा वाह्य न होकर दृष्टान्तर्गत ही है :--

" जो वहाँ बाहर है जैसा है, वैसा ही, हम तक नहीं पहुँचता हमारा मन उसे विकृत कर लेता है - सजा सवाँर लेता है, सजावट कर लेता है, आभूषण पहना देता है । "2

इस तथ्य का अनुभव विश्व को मेधा, जिसने भी पूर्ण सत्य को समझने का प्रयास किया स्यात् सदा से करती आयी है तभी तो आइन्सटीन जैसे वैज्ञानिक विचारक को स्वीकार करना पड़ा कि --

" यदि हमें विश्व को समझना है तो हमें अपने आप को पंचेन्द्रियों के पूर्वाग्रहों से मुक्त करना ही चाहिये । जो हम देखते हैं, सुनते हैं और स्पर्श करते हैं, हमें मूर्ख बना सकता है । "3

सत्य के अवगाहन में हम पूर्णत: निर्पेक्ष हो ही नहीं सकते । हमारा अस्तित्व, हमारा होना स्वयं बाधक सिद्ध होने लगता है । कहना अनुपयुक्त न होगा कि पूर्ण सत्य का अनुभवन ज्ञ सत्य से पूर्ण तादात्म्य स्था-पित किये बिना संभव ही नहीं जब तक पूर्ण तादात्म्य स्थापित नहीं होता तब तक सत्य का जो भी अनुभव होगा वह खण्डित अनुभव ही होगा । अनुभवन की इस प्रक्रिया में बहुत संभव है अनुभव कर्ता का पूर्ण ज्ञान, उसकी पूर्वमान्यातयें स्वयं अवरोधक बन जायें । इसप्रकार जिसका बोध होता है वह केवल खण्डित सत्य

× आचार्य रजनीश, अध्यात्म उपनिषद, रजनीश फाउन्डेसन पूना, 1976, पृ. 42.

2. वही, पृ. 42.

3. "If we are to understand the Universe, we must free ourselves from the prejudices of our five senses. What we see, hear and touch can fool us" - (Aylesa Forsee - 'Albert Einstein)

हो हो सकता है । हम देखते हैं कि माध्यम स्वयं अनुभव को पूर्ण नहीं होने देता । द्वैत की स्थिति अपूर्णत्व की स्थिति है । सत्य से एकात्मकता स्थापित होने के पश्चात् कुछ भी शेष नहीं रहता । न अनुभव कर्ता न अनुभव । आचार्य रजनीश ने इस तथ्य की ओर अध्यात्म उपनिषद में अत्यंत सुन्दर ढंग से संकेत किया है-

> " पोपोफ एक साधिक थी - और गहरी साधिका थी और पियोत्तर दिमित्रोविच आस्पेन्स्की के पास साधना करती थी । एक दिन बैठी थी पास, एक सज्जन ने आकर आस्पेन्सकी से पूछा ईश्वर है या नहीं । तो ऑस्पेन्सकी ने कहा ईश्वर । नहीं, ईश्वर नहीं है । फिर ऑस्पेन्सकी थोड़ी देर रुका और उसने कहा ; लेकिन मैं कोई गारन्टी भी नहीं कर सकता, क्योंकि जो भी मैं जानता हूँ वह सब माध्यम से ही जाना गया है । कभी आँखों से देखा है- लेकिन आँख का भरोसा क्या ? कभी कान से सुना है लेकिन कान गलत सुन सकते हैं । कभी हाँथ से छुआ है लेकिन हाथ का क्या कहना । अभी तक सीधा नहीं देखा है । अभी तक आमने-सामने नहीं हुआ हूँ, इसलिये कोई गारन्टी ही नहीं है । अभी तक जो भी जाना है उससे मुझे ईश्वर का कोई अनुभव नहीं हुआ । लेकिन जरूरी नहीं कि ईश्वर न हो । इससे सिर्फ मेरी खबर मिलती है कि मेरे अनुभव क्या हैं ? "×

0.2 जहाँ तक मुझे ज्ञात है अध्ययन एवं अध्यापन का सुयोग तथा सौभाग्य इस पृथ्वी पर मात्र मानव जाति को ही निसर्ग से प्राप्त हुआ है । आज विश्व में अनेक विषयों पर गुरु गम्भीर अध्ययन चल रहा है जिसके फलस्वरूप अनेक नूतन दृष्टियाँ और तथ्य उपलब्ध हो रहे हैं । विचार पूर्वक देखा जाय तो समस्त अध्ययन का केन्द्रबिन्दु मानव ही है । मानव का अध्ययन या तो अपने विषय में होता है अथवा परिवेश के जो उसके समानधर्मी जीवधारियों द्वारा निर्मित होता है, या फिर उस जगत् के सम्बन्ध में जिसे भ्रमवश जड़ कह दिया जाता है । मनुष्य जगत् का अध्ययन जिज्ञासा वश करता

× आचार्य रजनीश , अध्यात्म उपनिषद, पृ. 13.

है किन्तु जिज्ञासा के मूल में स्थित उसके उपयोगितावादी दृष्टिकोण को नकारा नहीं जा सकता । अध्ययन की सूक्ष्मता एवं विविधता को लेकर अनेक सत्यों का उद्घाटन आयेदिन होता रहता है अथवा फिर एक ही अन्तर्भूत सत्य के विभिन्न आयाम इसप्रकार उजागर होते रहते हैं । कहना अनुचित न होगा कि अध्ययन की विशिष्टता एक ही मूल सत्ता को समझने का मानुषी प्रयास है किन्तु यह मूल सत्ता इतनी व्यापक है जिसे उसकी समग्रता में समझने का प्रयास बिना उसे विभक्त किये, किया ही नहीं जा सकता । एक उदाहरण द्वारा अपनी बात स्पष्ट करना चाहूँगा । मान लीजिये कोई व्यक्ति मनुष्य की शरीर रचना को पूरी तरह समझना चाहता है तो उसे मनुष्य के एक-एक अंग का विशिष्टतापूर्वक सम्यक् अध्ययन करना होगा अन्यथा उसका समस्त ज्ञान अन्ध-गज न्याय से उच्च वस्तु नहीं हो सकता । शरीर रचना को लेकर ही यदि किंचित व्यापक धरातल पर विचार किया जाय तो स्पष्ट हो जायेगा कि हृदय विशेषज्ञ हृदय के सम्बन्ध में अधिकतम् जानने का दावा कर सकता है किन्तु अधिक सम्भावना इस बात की है कि उसे नेत्रों अथवा श्रवण या फिर गले के सम्बन्ध में कोई विशेष ज्ञान न हो । हृदय के सम्बन्ध में उसकी जानकारी पूर्णता के निकट तो हो सकती है किन्तु नितान्त पूर्ण नहीं हो सकती अथवा फिर कदाचित यह स्वीकार भी कर लिया जाय कि उसकी जानकारी हृदय के सम्बन्ध में आत्यंतिक रूप से पूर्ण है तो यह इससे यह निष्कर्ष निकालना नितान्त भ्रामक होगा कि उसकी यह जानकारी पूर्ण मनुष्य की जानकारी है । इसी प्रकार मनुष्येतर प्राणियों का अध्येता समस्त प्राणी जगत् के सम्बन्ध में किसी निश्चित एवं निर्भ्रान्त मत की स्थापना नहीं कर सकता तथा भौतिक जगत का अन्वेषी भौतिक जगत को पूर्ण जानकारी कभी भी प्राप्त नहीं कर सकता । प्रस्तुत कथन से तत्वत: यह स्वीकार करने में कठिनाई नहीं होनी चाहिये कि जीवन के आस-पास घूमती हुई ये समस्त दृष्टियाँ पूर्णता के निकट होते हुये भी खण्डित दृष्टियाँ हैं किन्तु जीवन के इस अध्ययन के प्रयास में एक दृष्टि ऐसी भी है जो मनुष्य को पूर्ण इकाई मानकर उसका अध्ययन करती है । और वह अध्ययन दृष्टि है साहित्य की ।

पुन: कहना चाहूँ-गा कि प्रकृति या परिवेश का अध्ययन करने वाली दृष्टि एकांगी हो सकती है किन्तु समूचे मनुष्य का उसकी समग्रता में अध्ययन करने वाली दृष्टि, जोकि साहित्य की दृष्टि होती है अधूरेपन से अधिक से अधिक दूर और निकटता का स्पर्श करती हुई होती है । इस दृष्टि की बड़ी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह मनुष्य को पूर्ण इकाई मानकर समूचे मनुष्य का बहु-आयामी अध्ययन प्रस्तुत करती है ।

उपर्युक्त कथन से कतिपय निष्कर्ष सरलता से प्राप्त किये जा सकते हैं :-

(1) मानव जाति को ही अध्ययन का सुयोग और सौभाग्य प्राप्त है ।

(2) सम्पूर्ण अध्ययन का केन्द्रबिन्दु मानव है जिसके सम्भावित आयाम इस प्रकार है :-

(क) मानवीय शरीर रचना का अध्ययन ।

(ख) मानवीय मनोरचना का अध्ययन ।

(ग) मानवीय परिवेशों का प्रवृत्तिगत अध्ययन जिसे इस प्रकार विभाजित किया जा सकता है :-

(1) सामाजिक संदर्भों में,

(11) आर्थिक संदर्भों में,

(111) राजनैतिक संदर्भों में तथा

(4) इतिहासिक संदर्भों में ।

(घ) परिवेशों का प्रकृतिगत अध्ययन जो इस प्रकार है:-

(1) भौतिकशास्त्रीय अध्ययन

(2) रसायनशास्त्रीय अध्ययन

(3) भूगोलिक अध्ययन

(4) खगोलिक अध्ययन

(5) भूगर्भिक अध्ययन

(6) वनस्पतिशास्त्रीय अध्ययन

(7) जंतुशास्त्रीय अध्ययन इत्यादि ।

(3) अध्ययन को ये सभी दृष्टियाँ अपूर्ण हैं क्योंकि ये सभी उसकी समग्रता का अध्ययन न करके अंगों का ही अध्ययन करतीं हैं ।

(4) मानव को पूर्ण इकाई के रूप में मानकर उसके बहु आयामी अध्ययन का प्रयास मात्र साहित्य में होता है ।

0.3. निष्कर्षों को लेकर ही सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न यह उठता है कि मानव क्या है, तथा साहित्य किस प्रकार उसका उसकी समग्रता में अध्ययन करता है ?

कहना अनुपयुक्त न होगा कि मानव पर्याप्त विवाद का विषय रहा है । मनु के सन्तान की रूप में उसकी व्याख्या किसी महत्वपूर्ण तथ्य की ओर संकेत करने में अधिक सफल नहीं प्रतीत होती । आदम और हौवा की कथा भी कोई सफल समाधान नहीं है । परिभाषा देना तो और भी कठिन कार्य है । भाषा की परिधि में मानव को बाँधने का प्रयास मानवीय मेधा की असफलता का सबसे बड़ा उदाहरण है ।

कहते हैं एक बार प्लेटो अपने शिष्यों को समझा रहा था कि आदमी दो टाँगोवाला पंख हीन पशु है । मैंने इस तू लेग्ड एनीमल विदाउट फिदर्स । जिसे निकट ही घूमते हुये उसके समकालीन संत डॉयज़नीज ने सुना और फिर उसने एक मुर्गे के पंख नोचकर प्लेटो के समक्ष रखते हुये पूँछा कि क्या यही तुम्हारा आदमी है ? प्लेटो चकराया और उसने फिर से परिभाषा देने का प्रयास किया किन्तु आज तक मानव अपरिभाषित ही है ।

0.3.1 मानव के समानार्थी शब्द व्यक्ति से इस प्रश्न का कुछ धुँधला सा उत्तर प्राप्त होता है । कहा जा सकता है कि जो व्यक्त है वही व्यक्ति है । इस दृश्य जगत् में बहुत कुछ व्यक्त है किन्तु सबको व्यक्ति की संज्ञा नहीं दी जा सकती । वस्तुत: "व्यक्त " में इकार का संयोग उसे एक ऐसी इयत्ता प्रदान करता है जिसके कारण वह अव्यक्त के अन्य व्यक्त रूपों से अधिक महत्वपूर्ण एवं विशिष्ट हो जाता है । परन्तु इस उत्तर के प्राप्त होते ही एक अन्य प्रश्न का जन्म होता है कि व्यक्त होने से पूर्व अर्थात् जो व्यक्त हुआ है, उसकी अ-व्यक्तावस्था भी होनी चाहिये ; अव्यक्त ही व्यक्त होता है तो अव्यक्त क्या

है ? इस अव्यक्त चिन्तन को लेकर विश्व में अनेक दर्शनों का जन्म हुआ तथा उनकी विविध व्याख्याये प्रस्तुत की जा चुकी हैं । हम यहाँ पर उनके बारे में न जाकर उस मनोवैज्ञानिक संकेत को अपनाने का प्रयास करेंगे जो व्यक्त और अव्यक्त दोनो को ही सरलतम् व्याख्या करता है । प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक कुर्त लेविन ने व्यक्ति को संरचनात्मक दृष्टिकोण से, ऐसी रचना माना जो कि विश्व की प्रत्येक वस्तु से भिन्न है । × उल्लेखनीय है कि लेविन ने संरचनात्मक दृष्टिकोण की व्याख्या शून्य विस्तार के दृष्टिकोण से की है[2] तथा व्यक्ति को ऊर्जा की जटिल संरचना के रूप में स्वीकार किया है । [3]

अधिक उपयुक्त होगा कि हम व्यक्ति और साहित्य को लेकर उठये गये प्रश्नो में जाने से पूर्व व्यक्ति के सम्बन्ध में आये ऊर्जा संरचना पर कुछ विचार कर लें । कार्य करने की क्षमता ऊर्जा कहलाती है + [4] जिसे किसी तंत्र के उस गुण के रूप में स्वीकार किया ~~xxxxxx~~ गया है जो प्रणाली के अन्य तंत्र पर कार्य करने के साथ ही कम होती है ।[5] इसके साथ ही यह भी स्वीकृत तथ्य है कि ऊर्जा का न तो निर्माण हो सकता है न नाश यद्यपि इसका रूपान्तरण संभव है । तथा किसी भी तन्त्र में ऊर्जा का कुल योग स्थान (स्थिर) रहता है । [6]

मनोविज्ञान की भाषा में ऊर्जा के इस ख रूप को मनोऊर्जा की संज्ञा से अभिहित किया गया है । व्यक्तित्व के कार्यों का सम्पादन करनेवाली ऊर्जा मनोर्जा कहलाती है । The energy by which the work of Personality is performed is called Psychic energy - Hall & Lindzey- Theories of Personality, page-(92-93).

×"Person as structural concent is-----an entity set apart from every thing of the world", Hall & Lindzey, Theories of personality, John Willey & Sons Inc. New York-1975. page-211.

2. Structural concept has been spatically defined, Ibid, p.211.

3. Person is a complex energy system. Ibid, page-226.

4. "Capacity for doing work", Mc. Grow Hill, Encyclopedia of Science and Technology, Macgrowhill Book Co. 1977 - p.685.

5. Energy is that property of system which dimishes when the system does work on any other system by an amount equal to the work done. Ibid, page-685.

6. Energy cannot be created or destroyed although it can be changed from one form to another. Thus in any isolated and closed system, the sum of all forms of energy remains constant. Ibid, page-456.

****

मनोजार्ा को जोवन ऊर्जा को अभिव्यक्ति कहा गया है जो वस्तुत: जैविक संरचना को हो ऊर्जा है ।[X]

शरोर को दैवोय ऊर्जा को सरलतम व्याख्या कठोपनिषद में देखोजा सकतो है जो इस प्रकार है :-

" न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जोवितक्श्वन ।
इतरेणतु जोवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ । 5/5.

शरोर में तथा अपान दो शक्तियाँ हैं । प्राण का काम संवय (एनाबालिज्म) तथा अपान का काम विचय (केटाबालिज्म) करना है । प्राण तथा अपान से कोई नहों जो रहा है, किसो और हो शक्ति से मनुष्य जोता है ऐसो शक्ति जिसके ये दोनो आश्रित हैं - वहो आत्मा है ।

ऊर्जा के इस स्वरूप को आत्मा तक तथा आत्मा के इस स्वरूप को परमात्मा के रूप में व्याख्यायित करने का यह उपनिषदोय प्रयास आत्यांतिक सत्य का स्पष्ट संकेत है :-

" सब सोये हुओं में जो जागता है और जो वस्तु जैसो होनो चाहिये उसे वैसा हो हर समय निर्माण कर रहा है वहो शुक्र है, वहो ब्रह्म है, वहो अमृत कहलाता है । सब लोक उसो में आश्रित हैं उससे कोई बढ़-चढ़ कर नहों है । यहो ब्रह्म है ।

य एष सुप्तेषु जार्गति कामं कामं पुरूषेण निर्मिमाण:
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतंमुच्चते
तस्मिल्लोका: श्रिता : सर्वे तदुनात्मेति क्श्चन् ।
कठ. उ. 8/5.

जैविक ऊर्जा आत्मा को ओर और आत्मा, परमात्मा को संकेतित करतो प्रतोत होतो है । ऐसो स्थिति में स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि परमात्मा क्या है ? कैसा है उसका स्वरूप जिसे चरम सत्य (एब्सोल्यूट ट्रुथ) अथवा (अल्टोमेट रियलिटो) या फिर विशुद्ध ऊर्जा (एब्सोल्यूट एनर्जो) कहा जाता है ।

****

X. "Psychic energy is the manifestation of the life energy which is the energy of the organism as a biological system." ---- Ibid, page, 92-93.

****

छान्दोग्य उपनिषद के चतुर्थ प्रपाठक में ब्रह्म के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास इस प्रकार किया गया है :-

" प्राणो ब्रह्मं । कं ब्रह्मं । खं ब्रह्मेति । "×

कं का अर्थ है सुख स्वरूप, खं का अर्थ है आकाश । "ख" अर्थात् आकाश मात्रा को अभिव्यक्त करता है, कं अर्थात् सुख गुण (क्वालिटी) को अभिव्यक्त करता है, मात्रा में आकाश से बड़ा कोई वस्तु नहीं, गुण में सुख से बढ़ कर कुछ अभिप्रेय नहीं । ब्रह्म मात्रा में आकाश के समान है, ब्रह्म गुण में सुख के समान है ।[2]

कठोपनिषद में परमात्मा का स्वरूप इस प्रकार संकेतित किया गया है :-

परमात्मा अणु से भी अणु है । सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है । वह तो महान से भी महान है । इसी जीव रूपी जन्तु को हृदय रूपी गुफा में छिपा बैठा है । उसे कर्म जाल से मुक्त व्यक्ति, जो शोक रहित है, परमात्मा की महिमा से , प्रसाद से ही देख सकता है । [3]

परमात्मा के स्वरूप को क्रमश: अधिक स्पष्ट करते हुये उपनिषदकार आगे लिखते हैं :-

" वहाँ शब्द नहीं, स्पर्श नहीं, रस नहीं, गन्ध नहीं, उत्पत्ति - विनाश नहीं । वह नित्य है, अनादि है, अनन्त है, महान है सबसे परे है, ध्रुव है निश्चल है, एक रस है । मनुष्य जब उसे निश्चित रूप से जान लेता है तो मृत्यु के मुख से छूट जाता है । "[4]

****

× छान्दोग्य उपनिषद5/10/4.

2. एकादशोपनिषद (प्रथम भाग) सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार, (प्रथम सं.) विजयपाल लखनपाल एण्ड कं. विद्याविहार 4 बलवीर एवन्यू, देहरादून,पृ.462.

3. अणोरणीयान्महतो महीयानात्मस्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् ।
तमक्रतु: पश्यति वीतशोकोधातु प्रसादान्महिमानमात्मन: कठ/2/30.

4. अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाअरसं नित्यंगन्धवच्चयत् ।
अनाहानन्तं महत: परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते ।।कठ/15/3.

" वह तो इतना भासमान है कि वहाँ सूर्य का प्रकाश फीका पड़ जाता है । वहाँ चन्द्र और तारे प्रकाशहीन हो जाते हैं, विद्युत भी उसके प्रकाश के सामने फीकी पड़ जाती है, फिर इस अग्नि का तो कहना ही क्या ? उसी की आभा से, उसी के प्रकाश से सूर्य, चन्द्र -तारे विद्युत तथा अग्नि प्रकाश देते हैं, उसी के प्रकाश से स्वयं प्रकाशित हो रहे हैं ।"×

आँख से देखने के लिये उसका रूप ठहरता नहीं । आँख उसी के रूप पर टिकना चाहती है, परन्तु टिकते ही जिस पर वह टिक रही होती है वह उसका रूप नहीं होता । आँख उस पर टिकते-टिकते नहीं टिक पाती । हाँथ उसे पकड़ते-पकड़ते नहीं पकड़ पाते । मनीषी लोग आँखसे और हाँथ से नहीं हृदय से और मन से उसे पकड़ पाते हैं । जो यह बात जानते हैं वे अमृत हो जाते हैं । [2]

आचार्य रजनीश ब्रह्म के स्वरूप को अत्यंत सरल शब्दों में स्पष्ट करते हुये कहते हैं कि :---

" ब्रह्म हमारा होना है । ..... उसे छोड़ने का कोई उपाय नहीं, उसे पाने का कोई उपाय नहीं । "[3]

जो है उससे न तो भागने का उपाय है और न उसे पाने का इस तथ्य को स्वीकार करने के पश्चात् ब्रह्म, आत्मा, मन शरीर और संसार का संबंध को स्पष्ट करते हुये वे कहते हैं --

" ब्रह्म जब मन के साथ बंधता है तो संसार हो जाता है ब्रह्म जब मन से टूटता है तो परम ब्रह्म हो जाता है । और जब आत्मा बंधती है शरीर के साथ तो शरीर अनिवार्य हो जाता है, क्योंकि मन को

× न तत्र सूर्योभाति न चन्द्रतारकंनेमा विद्युतोभान्तिकुतोऽयमग्निः ।
तमेवभान्तिमनुभातिसर्वं तस्यभासा सर्वमिदं विभाति ।। कठउ./15/5.

2. नसंदृशेतिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम ।
हृदा मनीषो मनसा अभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्तेभवन्ति ।कठउ/9/6.

3. आचार्यरजनीश, अध्यात्म उपनिषद, पृ. 392.

वासनाओं को तृप्ति बिना शरीर के नहीं हो सकती ।"×

0.3.2 परम ब्रह्म विस्तार की अनन्त सम्भावना है और ब्रह्म उसका व्यक्त स्वरूप । परमात्मा भी ऊर्जा की आत्यांतिक अवस्था है आत्मा उसका गतिक स्वरूप । जैसा कि हम पहले कह चुके हैं कि ऊर्जा कार्य करने की क्षमता का नाम है किन्तु कार्य करने की क्षमता का उस समय तक कोई बोध संभव नहीं जब तक कार्य का सम्पादन न हो । होना आत्मा है तो होने की क्षमता का नाम परमात्मा है । यह क्षमता ही चरम स्थिति है । अनन्त क्षमताओं केकेन्द्रीभूत कल्पना का नाम परम ब्रह्म या परमात्मा के अतिरिक्त और कुछ हो ही नहीं सकता । विज्ञान के क्षेत्र में इस संभावना के अर्द्धस्फुट रूप को ही क्वांटा की संज्ञा से अभिहित किया गया है । ज्ञान के क्षेत्र में स्थिति कुछ विचित्र है। होना एक अपूर्व क्रिया है, एक अर्द्धस्फुट स्वर है किन्तु जो हो चुका है उसके आधार पर हमारी अन्वेषी मेधा खूब तर्क कर सकती है उसके चारों ओर निश्चितता के दायरों का भी निर्माण कर सकती है तथा उनके आधार पर सिद्धान्तों की घोषणा कर सकती है किन्तु जो अभी अव्यक्त है, अस्फुट है तथा व्यक्त और स्फुट का मूल कारण है उसके सम्बन्ध में धार्मिक चाहे अन्ध श्रद्धा से भले ही काम ले ले किन्तु निश्चितता और सोपानबद्धता की आकुल वैज्ञानिक दृष्टि प्राक्कल्पना से आगे बढ़ने का साहस जुटा ही नहीं पाती इसीलिये बुद्धिवादियों के लिये परमात्मा विचार की प्राक्कल्पना से अधिक कुछ कैसे हो सकता है ?[2]

अब तक हमने देखा कि जीवन की ऊर्जा किस प्रकार जैविक तल से उठकर उस परम सत्य तक की यात्रा करती है अब देखना यह है कि अब तक जिस ऊर्जा की हम चर्चा करते रहे हैं वह जैविक तल पर कैसे व्यक्त होती है तथा साहित्य का निर्माण किस प्रकार जीवन की सम्पूर्णता को संकेतित करता है ?

× आचार्य रजनीश, अध्यात्म उपनिषद, पृ. 392.

2. "परमात्मा का ध्यान की एक हाइपोथिसिस है"- वही.पृ,170.

डॉ. कुर्त लेविन द्वारा प्रस्तुत मानव की व्याख्या की चर्चा करते हुये हमने संकेत किया था कि उन्होंने मानव को संरचनात्मक दृष्टि से ऐसी रचना के रूप में स्वीकार किया है जो विश्व में प्रत्येक वस्तु से भिन्न है इसके साथ ही यह भी कहा था कि संरचनात्मक दृष्टिकोण की व्याख्या उन्होंने शून्य विस्तार के दृष्टिकोण से की है ।

जैविकतल पर ऊर्जा की अभिव्यक्ति आवश्यकता के रूप में होती है । डॉ. कुर्त लेविन के व्याख्याकार लेखक द्वय हाल तथा लिंडजे उपर्युक्त मत को पुष्टि करते हुये लिखते हैं कि --

" आवश्यकता ऊर्जा को मुक्त करती है, तनाव को बढ़ाती है मूल्यों का आदान-प्रदान करती है तथा बल का निर्माण करती है । "×

X "A need releases energy, increases tension, imparts value and creates force" - Theories of Personalities.page-232.

आवश्यकता के रूप जैविकतल पर ऊर्जा की अभिव्यक्ति होती है किन्तु प्रश्न उठता है कि आवश्यकता क्या है ? हम सभी इस शब्द का जीवन में प्रयोग करते हैं और आवश्यकता का अनुभव भी करते हैं परन्तु इस आवश्यकता की भाषागत अभिव्यक्ति सरल नहीं है । सुप्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक हैरी स्टैक सुलीवन आवश्यकताओं की व्याख्या करते हुये कहते हैं कि --

" आवश्यकताओं का सम्बन्ध जीवन की जैव रसायनिक कमियों (रिक्वायरमेन्ट्स) से है । वे जीवन की ऐसी परिस्थितियाँ हैं जैसे भोजन, जल, और ऑक्सीजन की कमियाँ, जो जैविक अवस्था में असन्तुलन उत्पन्न कर देती हैं । "2

०.३.३ उपर्युक्त परिभाषा से जो महत्वपूर्ण निष्कर्ष प्राप्त किये जा सकते हैं वे इस प्रकार हो सकते हैं --

(i) आवश्यकताओं का सीधा सम्बन्ध कमियों यानी न्यूनताओं से है। न्यूनता अर्थात् खालीपन यानी एक रिक्तता।

2. Needs are connected with Physio Chemical requirements of life they are such conditions as lack of foods or water or oxygen which produces disequilibrium in the economy of the organism. Ibid. page-144.

एक स्पेश । एक शून्यता ।

(2) यह शून्यता जीवन में असन्तुलन उत्पन्न कर देती है । असन्तुलन का अर्थ अराजकता नहीं होता । असन्तुलन से सीधे या सम्बन्ध एक हलचल से लगाया जा सकता है । हलचल का अर्थ है जब प्रत्यक्ष रूप से गति का आभास हो । गति का यह आभास हो तो ऊर्जा की अभिव्यक्ति है ।

04. ऊर्जा शब्द के उच्चारण से हमें ऊर्जा के सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात नहीं हो सकता हाँ उच्चारण की जो क्षमता है, वह कदाचित किसी को शक्ति का अप्रत्यक्ष बोध करा दे तो यह एक पृथक बात होगी । वस्तुत: गति और ऊर्जा के सम्बन्ध में हम प्राय: इतने असावधान रहते हैं कि उसके सातत्य को समझ ही नहीं पाते । ऐसा नहीं है कि उसे समझने का प्रयास नहीं किया गया अथवा किया नहीं जा सकता किन्तु अतिनिकटता भी तो परिचय में बाधक ही सिद्ध होती है । परिचय के लिये भी अपरिचय की आवश्यकता होती है एक दूरी की जरूरत होती है । जिस क्षण जीवन में यह दूरी फलित होती है परिचय की खोज की यात्रा का आरम्भ भी उसी क्षण से हो जाता है ।

जैविक तल पर ऊर्जा की यह अभिव्यक्ति पशु तथा मानव दोनों मे ही कामोर्जा के रूप में प्रस्फुटित होती है । कामोर्जा जैविक तथ्य है । यही कामोर्जा जब मानसिक स्तर पर दृष्टिगत होती है तो उसे प्रेम की संज्ञा से अभिहित किया जाता है । चिन्तन के स्तर पर इस ऊर्जा का रूप विचार का होता है । ×

विचार के क्षेत्र में विचारों में अनेकता होती है । अर्थात् मनुष्य के जीवन में विचार का जो स्तर होता है उसमें एक साथ अनेक विचारों का अस्तित्व संभव है यही कारण है कि एक विचारधारा विशेष में गुजरता व्यक्ति

x. "Ideas are forces in some translated form" - William James, The principles of Psychology Vol.I Dover Publication Inc. 180 Varic Street, New York 1950, page-137

अचानक ही दूसरी धारामें दिखाई देने लगता है । प्रेम का काव्य शौर्य की गाथा बन जाता है, भावों की कोमलता एकाएक ओज की धारा बन फूट पड़ती है और कभी-कभी तो यह सब इतना अप्रत्याशित होता है कि हम आश्चर्य चकित रह जाते हैं । कथा प्रेम की होती है, शब्दावली ओज की । इतना विरोधाभास जिसे देखकर बुद्धि चकरा उठती है । विचारों की यह विरलता या विभिन्नता गणित के नियमों से नहीं समझी जा सकती । मान लीजिये किसी के मन में एक साथ दो विचार उत्पन्न होते हैं जिन्हें हम अपनी सुविधा के लिए "अ" और "ब" कह सकते हैं । इन दोनों विचारों के साथ-साथ उनके योग से उत्पन्न एक तीसरा विचार "स" "अ" और "ब" का योग नहीं हो सकता । दो भिन्न विचार एक तीसरी वस्तु को प्रभावित करते हैं जिसे विलियम जेम्स जैसे मनोवैज्ञानिक ने आत्मा के रूप में स्वीकार किया है । इसे उन्होंने संयुक्त विचार मानते हुये भी नूतन मनोतथ्य के रूप में स्वीकारा है । विभिन्न विचार उससे सम्बन्धित तो हो सकते हैं किन्तु उसके संघटकों के रूप में नहीं । वे तो मात्र इस नूतन मनोतथ्य के उत्पादन का अवसर प्रदान करते हैं । ×

मनोजगत का विचार तथा भौतिक जगत का परमाणु ऊर्जा की समानान्तर कोटियाँ हैं । इन्हें भूल रूप से बहुत पृथक सत्ता के रूप में ग्रहण किया ही नहीं जा सकता । परमाणुवादी विचारक वस्तुत: वस्तुवादी विचारक होता है। उसके लिये मात्र परमाणु ही परम सत्य है । वस्तु का अस्तित्व उसके लिये एक स्थिति में बहुत महत्वपूर्ण नहीं रह जाता । न परमाणु की एक विशिष्ट व्यवस्था हो तो उसके निकट सत्ता की अभिव्यक्ति या वस्तु की पहचान बनती है । परन्तु पहचान के इस संदर्भ में सबसे महत्वपूर्ण तत्व है व्यक्ति का अपना होना क्योंकि समस्त पहचानों को जिससे संदर्भित करने वाला व्यक्ति होता है, मानव मस्तिष्क होता है । परिचय की सभी निर्मितियाँ बुद्धि की उपज हैं ।

---

x. the two separate ideas can never by any logic be made to figure as one and the samething as the associated idea. The separate ideas exist, they say, but affect a third entity, the soul. This has the compounded idea, if you so please to call it, and the compounded idea is an altogether new psychic fact to which the separate ideas stand in relation, not of constituents but of occasions of production. William James - Principles of Psychology (Vol-I) page-161.

मन का एक ढंग विशेष हैं । × पूर्णरूपेण बुद्धिवादी ढंग से कुछ भी सोचा उनहीं जा सकता । व्यक्ति निरपेक्ष होने का कितना ही दावा क्यों न करे अपनी समूची निरपेक्षता में भी "वह" शामिल होता ही है । प्रश्न उठ सकता है कि यदि समस्त निर्मितियाँ बुद्धि की हैं तो बुद्धि किसकी निर्मिति है इसका उत्तर खोजता मनोवैज्ञानिक मस्तिष्क की कोशिकाओं तक ही पहुँच सका, इसके आगे बुद्धि भ्रमित होने लगती है । दर्शन की भाषा में उसे मिथ्या की संज्ञा दी जा सकती है । " मिथ्या का अर्थ असत्य नहीं होता । मिथ्या का अर्थ होता है सत्य और असत्य के बीच में .....अर्थ है जो असत्य है, लेकिन सत्य जैसा लगता है ।[2] मस्तिष्क की कोशिकाओं से उलझकर मनोवैज्ञानिक हैरानी का अनुभव करता है । यदि प्रत्येक कोशिका एक चेतना है तो उसे स्वतन्त्र रूप से कार्य करना चाहिये परन्तु स्वतन्त्र रूप से कोशिका कार्य नहीं करती अस्तु उसकी समग्रता ही एक चेतना होसकती है। मनोवैज्ञानिक ऐसे निश्चित उत्तरों के अभाव में, जिन्हें मूर्तित किया जा सके पूर्णत: विचार जगत में प्रवेश कर जाता है । वस्तु जगत की निर्मितियों को आत्मसात् करने का उसका प्रयास उसे स्वयं भू परिकल्पना के तट पर खड़ा कर देता है जहाँ उसके निकट आत्मा या सेल्फ का एक अन्य जगत् उद्भासित हो उठता है । हमें इसके दो कारण प्रतीत होते हैं -- पहला यह कि समग्रता के प्रवाह में सब कुछ स्वयं घटता प्रतीत होता है तथा दूसरा यह कि समस्त घटना को संज्ञायित करनेवाला व्यक्ति स्वयं होता है अस्तु इस स्थिति में आत्मानुभूति का बोध पर्याप्त महत्वपूर्ण प्रतीत होता है । आत्मा के सम्बन्ध मे विचार करते हुये प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक विलियम जेम्स लिखते हैं कि -

> " आत्मा के सम्बन्ध में प्रत्येक बात इस धारणा पर निर्भर करती है कि हम उसे किस रूप में ग्रहण करते हैं उसे हम एक विराट सत्य के रूप में स्वीकार करते हैं अथवा एक संकुचित वस्तु के रूप में । इस

2 आचार्य रजनीश, अध्यात्म उपनिषद, पृ. 150.

× The things for clear headed atomistic evolutionist are not. Nothing is but the everlasting atoms. When grouped in certain way we name them this thing or that but the thing we name has no existence out of our mind. William James - Principles of Psychology. page-16

इस सम्बन्ध में विद्वतापूर्ण सिद्धान्त यह है कि आत्मा पूर्ण की समग्रता तथा उसके अंशों में समान रूप से विद्यमान ही रहती है । "[x]

यात्रा के प्रस्थानविन्दु चाहे जो भी हों गन्तव्य के निकट पहुँच कर समस्त मार्ग एक दूसरे में गड्मड्ड हो जाते हैं । भौतिक जगत का विचारक सूक्ष्मतर रूपों से गुजरता हुआ अपनी और यंत्रों की सीमा रेखा पर बैठकर विचारों को उड़ाने भरने लगता है, व्यक्तित्व और चेतना के आयामों से गुजरता मनोवैज्ञानिक आत्मा पर ठहर जाता है और रागात्मक वृत्तियों को जोनेवाला, रक्त की भाषा और लिपि[2] पर अपने विश्वास को केन्द्रित कर अपनी समस्त गतियों को समर्पण में विसर्जित कर देता है[3], भक्त परमात्मा की निकटता का अनुभव करता है, चिन्तक ब्रह्म, प्रकृति, शक्ति अथवा शून्य पर विचरण करने लगता है । नामों की भिन्नता शब्दावली का भाषायी तन्तु जाल देखने में भिन्न हो सकता है किन्तु अपने मूल में इसमें कोई भेद नहीं है । इसी समग्रता की शोध शब्दावली में सत्य के नाम से जाना जाता है । यह सत्य मात्र कथन भर के

x. "Everything depends on what we conceive the soul to be, an extended or an inextended entity-----.The scholistic doctrine is that the soul is totality present, both in the whole and in each and every part of the body". William James: Principles of Psychology (Vol-I) page-214.

2. "पढ़ो रक्त की भाषा, विश्वास करो इस लिपि का ", रामधारी सिंह दिनकर, उर्वशी, पृ. 46.

3. " जहाँ जहाँ तुम रहीं निष्पलक नयनों की आभा से
रहा सोंचता मैं , आगे तुम जहाँ जहाँ जाओगी,
साथ चलूँगा मैं सुगन्ध से खिंचे हुये मधुकर सा । " वही, पृ.80.

लगाता है, उतनी गहरी समाधि लगाये बिना कवि भी सत्य को नहीं पा सकता । "×

0.6.1 कवि सत्य को पा सकता है अथवा नहीं या फिर वैज्ञानिक अथवा समाज-शास्त्री सत्य को पाते है या नहीं यह बहुत विवादस्पद विषय है । क्या सत्य को पाया जा सकता है ? क्या सत्य कहीं खो गया है ? क्या ~~सत्य~~ व्यक्ति का अपना होना ही सत्य नहीं है ? इन सब प्रश्नों में उलझने से पूर्व अधिक उचित तो यह देखना है कि क्या उर्वशी के रचयिता दिनकर के मानस में ऐसा ही कोई विचार था । क्या उनके निकट भी जीवन के सत्यान्मोचन को कोई प्रश्न था ? सत्य के स्वरूप पर उन्होंने विचार किया है । सत्यान्वेषण की आकांक्षा उनके मानस में थी । यात्रा पर ~~प्र~~ निकल पड़ने को आकुल मन में विचारों एवं विकल्पों का जन्म होता है । दिनकर जी सत्य के दो रूप मानते है :-

" सत्य के दो रूप ~~होते~~ हैं एक संवृत्ति सत्य और दूसरा ~~है~~ परमार्थ सत्य । संवृत्ति सत्य वह है जो दिखाई पड़ता है, किन्तु जो सत्य का असली रूप नहीं है । परमार्थ सत्य वह है जो दिखाई नहीं पड़ता किन्तु जो सत्य का असली रूप है । "2

उपर्युक्त कथन से सरलता से ~~समझा~~ यह समझा जा सकता है कि जो दृष्टिगत होता है यानी इन्द्रियगत सत्य है वह उस लकीर के समान है जो गाड़ी के गुजर जाने के बाद धूल में बन जाती है । गाड़ी की लकीर सत्य है किन्तु तथ्य के रूप में इससे गाड़ी के स्वरूप का उसकी गति का हमें एक आभास तो होता है किन्तु उसका कोई स्पष्ट चित्र नहीं उभरता । उभर भी नहीं सकता । मूर्तता के समस्त प्रयास विचार के अनुगामी होते हैं । इससे यह भी समझा जा सकता है कि गति अपने चरम रूप में स्थिरता सी

× रामधारी सिंह दिनकर, अर्धनारीश्वर, प्रथम संस्करण, पृ. 59.

2. रामधारी सिंह दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, पृ. 152.

भर के लिये होता है, जब तक इसको और इंगित करने का प्रयास किया जाता है वह तथ्य में परिवर्तित हो जाता है। हम एक उदाहरण ले सकते हैं नदी अपनी समग्रता में तथ्य है उसके प्रवाह का सातत्य एक सत्य है किन्तु प्रवाह यानी सातत्य को देखने का कोई उपाय विज्ञान के पास नहीं। समय के जिस खण्ड में हम अपनी दृष्टि उठाते हैं वर्तमान अतीत में ढल जाता है, किन्तु इस सब का जोड़ उसकी समग्रता हमारे सामने स्थूल रूप में प्रतीत होती है। इस स्थूलता को संकेतित करना ही हमारा उद्देश्य है।

प्रश्न उठ सकता है कि प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के सम्बन्ध में इस कथन का औचित्य क्या है? प्रत्येक कृति के मूल में सत्य एक सातत्य के रूप में विद्यमान रहता है जिसे स्थूल रूप से विद्वज्जन अपनी-अपनी सुविधानुसार नामांकित कर लिया करते हैं। उस सत्य को संकेतित करने के लिये उससे परिचय की आवश्यकता पर कदाचित प्रश्नचिह्न नहीं लगाया जा सकता है। अपने आत्यांतिक रूप में सत्य के रूप अलग-अलग नहीं रहते, इस सम्बन्ध में उर्वशीकार का भी मत अत्यंत स्पष्ट है जिसे आत्मसात् किये बिना "उर्वशी के समस्या संदर्भ" में प्रवेश किया भी कैसे जा सकता है? "उर्वशी" एक काव्य कृति है अस्तु दिनकर जी के इस मत का उपयोग इसके संदर्भ में अनुचित न होगा --

> " मनुष्य के भीतर एक सूक्ष्म आध्यात्मिक व्यक्तित्व है, उसीने अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम खोजते हुये कविता का आश्रय लिया और इसी जीवन को अभिव्यक्त करने के लिये कविता प्रादुर्भूत हुई।"×

0.5 आध्यात्मिक व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति का माध्यम कविता है जिसमें सत्य को ही अभिव्यक्त होती है --

> " कविता कोई हवाई चीज नहीं है। योगी वैज्ञानिक अथवा समाजशास्त्री सत्य की खोज करने के लिये जितनी गहरी समाधि

× रामधारी सिंह दिनकर, अर्धनारीश्वर, प्रथमसंस्करण, जनवाणी प्रकाशन, कलकत्ता, पृ. 56.

प्रतीत होती है । गति यदि इतनी अधिक हो तो उसका नैरन्तर्य एक मूर्तता को उभारने लगता है । ×

सत्य में बुनियादी विश्वास आदमी के अन्दर होता है ।[2] यह विश्वास उसे अनुसन्धान में प्रवृत्त करता है । प्रत्येक प्रयास एक गति है जिसकी प्रेरणा सदा अन्त:करण से उठा करती है । प्रेरणा और प्रयास के संयुक्त रूप को विकास कहा जाता है, जो वस्तुत: ऊर्जा की अभिव्यक्ति है । " ज्ञान के विकास का अर्थ है सम्प्रति ज्ञान में सुधार जो मात्र सत्य के निकटतर पहुँचने की आशा में होता है । [3] संप्रति ज्ञान का अर्थ है हमारे चारो ओर के बोध का विस्तार जो काल के एक आयाम में आकार ग्रहण करता है और जब तक उसकी आकृति की रेखायें उभरती हैं सृजन की अगली प्रक्रिया आरम्भ हो जाती है । अन्तर्बोध हमें परिचालित करता रहता है उस तादात्म्य विन्दु के अन्वेषण के लिये जहाँ से प्रवाह की शाश्वतता के मूल रूप का निकटता से भावन किया जा सके ।

0.6 कदाचित यह भी समझा जा सकता है कि प्रस्तुत अध्याय में सत्य के रूप पर अधिक बल देकर विभिन्न अनुशासनों का विचित्र घालमेल प्रस्तुत किया गया है । घाल-मेल के गड़बड़ झाले में पड़ना हमारा उद्देश्य नहीं, हम तो मात्र इस तथ्य की ओर संकेत करना चाहते हैं कि प्रत्येक अनुशासन मात्र एक प्रस्थान विन्दु है, वह गन्तव्य स्थल पर ये समस्त भेद समाप्त हो जाते हैं । जीवन का यह गन्तव्य विभिन्न संज्ञाओं में हो सकता है किन्तु इससे कोई महत्वपूर्ण अन्तर नहीं पड़ता । साहित्य में भी यह धारा होती है क्योंकि इसके अभाव में साहित्य का जन्म ही संभव नहीं परन्तु उसके चतुर्दिक छायी हुई अन्य निर्मितियाँ प्राय: हमें उस मूल का अवगाहन नहीं करने देतीं । सत्य

× " उड़ता हुआ विशिष्ठ अम्बर में स्थिर समान लगता है ।" दिनकर, उर्वशी, पृ. 54.

2. "जूलियस फूचिक, फाँसी के तख्ते से, अनुवादक अमृतराय, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1977, पृ. 82.

3. All growth of knowledge consist in the improvement of existing knowledge which is changed in the hope of approaching nearer to the truth. Karl Popper; Objective knowledge: An evolutionary Approach. Oxford University Press. Page-71.

***

रूप से यद्यपि दोनों में भेद है । भेद है कहने की अपेक्षा भेद प्रतीत होता है कहना अधिक उपयुक्त होगा । उर्वशीकार के शब्दों में :-

> " किन्तु कवि और वैज्ञानिक के सत्य में भेद है । ..... विज्ञान स्थूलता को बला है । ..... कविता वस्तुओं के सूक्ष्म रूप का मूल्य ढूँढ़ती है, वह उन पक्षों का विश्लेषण करती है जो गणित की भाषा में व्यक्त नहीं किये जा सकते । और मैं चूँकि बुद्धि भी गणित को छोड़कर और भाषा समझ नहीं सकती, इसलिये कविता अपने, विश्लेषण का परिणय बुद्धि में नहीं, बल्कि हृदय के सामने निवेदित करती है ; क्योंकि हृदय उन संकेतों को समझ सकता है जिनके माध्यम से अदृश्य और अनिर्वचनीय का वर्णन करता है । "×

अदृश्य और अनिर्वचनीय का वर्णन करते समय भाषा की समस्त शक्ति को उसका प्रयोग करने की मानवीय क्षमता संकेतों को सीमा से आगे नहीं बढ़ने देती इसलिये कदाचित व्यक्ति को भाषा की क्षमता टूटती सी प्रतीत होने लगती है ।

0.7.1 " उर्वशी" में व्याप्त इसी अदृश्य और अनिर्वचनीय का अन्वेषण समस्या संदर्भ के अन्तर्गत प्रस्तुत करना मेरा उद्देश्य है । इसे स्पष्ट करने के लिये तथ्यों के उजास में विश्लेषण के पथ पर तर्क की उँगली पकड़ कर मैं अपनी यात्रा प्रारम्भ करता हूँ यद्यपि तर्क का महत्व मेरे निकट उस गाड़ी से अधिक नहीं है जिसे पकड़ कर कोई शिशु चलना सीखता है । तर्क अर्थात् युक्ति से कुछ भी सिद्ध नहीं होता, कदाचित कभी जीवन में कुछ सिद्ध होता प्रतीत हो भी तो यह नहीं भूलना चाहिये कि इस सिद्धि के मूल में अं युक्ति है । यदि एक युक्ति से कुछ सिद्ध किया जा सकता है तो दूसरी युक्ति से उसका खण्डन भी किया जा सकता है । इसके साथ ही ऐसी स्थिति सिद्ध होने या असिद्ध होनेवाली बात महत्वपूर्ण नहीं रह जाती प्रत्युत वह युक्ति ही महत्वपूर्ण

× रामधारी सिंह दिनकर, अर्धनारीश्वर, पृ. 59-60.

हो उठती जिसके सहारे कुछ सिद्ध या असिद्ध होता है । प्रश्न उठ सकता है कि तर्क की इस सीमा से परिचित होते हुये भी मैंने तर्क की उँगली पकड़ना क्यों स्वीकार किया ? तर्क समझने में सहायक हो सकता है । वस्तु स्थिति के बहुआयामी पक्षों पर उसकी सहायता से विभिन्न कोणों से विचार करने का प्रयास किया जा सकता है । इस प्रयास के बाद तर्क को ढोते फिरना ठीक वैसा ही है जैसे नदी पार करने के पश्चात नाव को, कृतज्ञता ज्ञापन के लिये, सिर पर उठाये फिरना । खोज की यात्रा का प्रारम्भ जिज्ञासा के बिन्दु से होता है । जिज्ञासा के नाभिक के आस-पास सन्देह के इलेक्ट्रॉन और प्रोट्रॉन भी चक्कर काटते रहते हैं । जिज्ञासा का गतिशील नाभिक तथा उसके चतुर्दिक परिभ्रमण करते सन्देह के इलेक्ट्रॉन औा प्रोट्रॉन खोज की जिजीविषा और प्रयास को जीवन्तता प्रदान करते हैं । इसके अतिरिक्त एक अन्य मार्ग है आस्था का समर्पण का जिसमें प्रत्यक्षत: महत्व स्वीकार की भावना और पूर्वग्रह के रूप में विद्यमान रहती है । पूर्वग्रह पूर्वाग्रही महत्व समर्पण की सम्भावना के तो निकट होता है परन्तु उसके अपने खतरे हैं । समर्पण से नवीन तथ्यों की स्थापना संभव है, यह भी संभव है कि समर्पण कर्ता सत्य के निकट अपने को अनुभव करने लगे किन्तु उसके इस सानिध्य को और भक्ति को कोटि में रखा जा सकता है विज्ञान को नहीं । विज्ञान का खण्ड का अनुभव है, अनुभव ही नहीं खण्ड की सिद्धि है परन्तु यह खण्ड भी तो विराट का ही अंश है । खण्ड का यह अनुभव ही आगे चलकर विराट के विचार का जन्मदाता बन जाता है और इस प्रकार विज्ञान की सीमायें समर्पण के तट पर बुद्धि की वीथियों के रागात्मक लास्य को आत्मसात् करने लगती हैं । तर्क कहीं पीछे छूट जाता है और कल्पना जो सम्बुद्धि के अधिक निकट होती है, नेत्रोन्मीलन करने लगती है । ऐसी स्थिति में कल्पना का तल ज्ञान की अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण सिद्ध होता है ।×

× "Imagination is more important than knowledge. For Knowledge is limited, whereas imagination embraces the entire world, stimulating progress, giving birth to evolution. It is strictly speaking a real factor in scientific research." - Albern Einstein Cosmic Religion Covic Freiede - New York - 1931. Page-97.

हमने प्रस्तुत प्रबन्ध में इस कल्पना का प्रश्रय लिया है ।

गत पृष्ठों में जो कुछ कहा गया वह आवश्यक था उस पहचान के लिये जिसके अभाव में खोज संभव हो नहीं । सत्य के सम्बन्ध में धुँधलो हो सही किन्तु यह पहचान कदाचित उस सातत्य के निकट व्यक्ति को ला सके जिसके जिसको अभिव्यक्ति उसका अपना होना है । सातत्य को यह धारा " उर्वशी" में किस रूप में प्रवाहित हुई इसको खोज के लिये भी गत पृष्ठों में जो कुछ कहने का प्रयास किया गया है उसे कहना आवश्यक था । चिन्तन को शाश्वत्ता, काव्य में उसको व्याप्ति कलाकार को जिजीविषा और साहित्य को सार्वभौमिकता होती है जिसके उद्घाटन का प्रयास प्रस्तुत शोध प्रबन्ध है । फिर भी इसको सीमा है । इसको सीमा है आत्यांतिक अनिश्चितता । मानवीय मेधा को आकुलता सदा प्रयास करती रही है जिसके परिणाम स्वरूप पारम्परिक रूप से नये क्षितिजों का निर्माण होता रहा है किन्तु इस सम्बन्ध में दो मतो के लिये कोई स्थान प्रतीत नहीं होता कि " आत्यांतिक रूप से कुछ भी निश्चित नहीं होता । [X]

X. There is no absolute certainity:
Karl.R. Popper: Objective Knowledge : An Evolutionary Approach page-37.

1 अब तक

महान कृतियों एवं कृत्यों का जन्म एक ऐसी घटना है जिसमें मानवीय योग-दान माध्यम से अधिक श्रेय का अधिकारी प्रतीत नहीं होता । यह नितान्त प्रासांगिक ही है कि उस कृति या कृत्य से माध्यम को अपनी पहचान भी विशिष्टता प्राप्त करले; इसीलिए महान कलाकार महान कृतियों के निर्माता नहीं होते प्रत्युत महान कृति महान कलाकारों को जन्म दिया करती है । व्यक्ति की पहचान उसके कृत्यों से ही निर्मित होती है तथा विशिष्टता प्राप्त करती है । यह भी इस संदर्भ में कम महत्वपूर्ण नहीं है कि विशिष्टता की एककोटि पर आसीन व्यक्ति अथवा प्रतिष्ठा के एक शिखर पर बैठा कलाकार पुन: किसी महत्वपूर्ण कलाकृति के निर्माण का गौरव प्राप्त कर ले; उसके माध्यम से पुन: कोई ऐसी रचना अवतरित हो जाय कि उसकी विशिष्टता की एक और कोटि निर्मित हो उठे । हिन्दी साहित्य-जगत में "उर्वशी" की रचना भी एक ऐसी ही घटना है जिसे सद्य-मुक्त ही "कामायनी" के बाद की सबसे महत्वपूर्ण घटना कहा जा सकता है ।[×]

1.1 वस्तुत: कोई भी कृति मात्र इसके या उसके कह देने भर से महत्वपूर्ण नहीं हो जाती । महत्वपूर्णता उसकी विशिष्टता का दूसरा नाम है । "उर्वशी" सबसे पहले तो इसलिए महत्वपूर्ण है कि इसकी रचना में उर्वशीकार अपने को माध्यम से अधिक स्वीकार नहीं करता :-

---

× डा. सत्यकाम वर्मा, "दिनकर की उर्वशी एक मूल्यांकन", उर्वशी विचार और विश्लेषण, सं. डा. वचनदेव कुमार, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1977 पृष्ठ 185.

मैं घोर चिन्तना में धँस कर
पहुँचा भाषा के उस तट पर
था जहाँ काव्य यह धरा हुआ,
सब लिखा-लिखाया पड़ा हुआ ।
बस ऐसे गहन गोते का सुख
ले आया इसे जगत् सम्मुख । ×

प्रश्न उठ सकता है कि कलाकार द्वारा कला के निर्माण में अपने आप को माध्यम से अधिक स्वीकार न करना उसकी विनम्रता का सूचक भी तो हो सकता है । कलाकार की इस विनम्रता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता किन्तु इससे सम्बन्धित दूसरा महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि क्या माध्यम उस सबसे पूर्ण रूपेण परिचित होता है जो उसके माध्यम से अवतरित होता है ? जब माता-पिता अपनी औरस सन्तान के सम्बन्ध में ऐसा कोई दावा नहीं कर सकते तो फिर कलाकार के लिए तो यह और भी कठिन है । कहा जा सकता है कि सन्तान जीवित प्राणी होती है उस पर अन्य व्यक्तियों तथा परिवेश का प्रभाव पड़ता है जब कि रचना पर व्यक्तियों तथा परिवेश का प्रभाव नहीं पड़ सकता । वस्तुत: रचना भी पूर्णरूपेण जीवित इकाई होती है तथा उस पर भी व्यक्ति एवं परिवेश का प्रभाव पड़ता है । पृथक् मन: स्थितियों वाले व्यक्तियों के निकट उसके पृथक् रूप उद्भासित होते हैं क्योंकि रचना एक कला है जो बहुआयामी होती है, उसके किसी एक आयाम विशेष को आत्यांतिक घोषित करना उसके साथ अन्याय करना है; यद्यपि इस प्रकार की घोषणा भी तथ्यहीन नहीं होती । वस्तुत:

× रामधारी सिंह दिनकर, मृति तिलक, पृष्ठ 55

एक तथ्य का दूसरे तथ्य से विरोध नहीं होता, वे एक दूसरे के विपरीत नहीं होते, क्योंकि जो कुछ भी विपरीत या विरोधी प्रतीत होता है मूलत: वह उसका ही एक अंग होता है । लेकिन दृष्टि की सीमा उसे समग्रता में देखने नहीं देती । साधारणत: समझा यह जाता है कि पूर्व के विपरीत पश्चिम है तथा दक्षिण उत्तर का विरोधी, किन्तु यदि विचार पूर्वक देखा जाय तो पश्चिम पूर्व का तथा उत्तर दक्षिण का ही तो विस्तार है । बुद्धि अपनी सुविधा के लिए खण्डन किया करती है और फिर इन खण्डों को अलग-अलग पहचान इन्हें संज्ञायित करती रहता है । खण्ड विराट के अभिन्न अंग होते हैं उससे पृथक् नहीं । रचना के क्षणों में भी मानस में एक ही धारा के अन्तर्गत विचारों की अनेक तरंगें उठा करती हैं और उनका सबका सीम्मलित अंश रचना में उतरता है । रचनाकार चेतन रूप से उस धारा विशेष से अपना तादात्म्य स्थापित रखने का प्रयास करता प्रतीत होता है, किन्तु अचेतन रूप से उस धारा में कैसी लहरियाँ किन प्रभावों से विशेष निर्मित होतीं हैं तथा वे लहरें रचना पर अपने चिह्न किन रूपों में अंकित करतीं है इसका बहुत प्रामाणिक लेखा-जोखा कलाकार के पास प्राय: नहीं होता । "उर्वशी" भी इस जटिलता का अपवाद नहीं है । "कामायनी" के पश्चात् आज तक सर्वाधिक चर्चित कृति यदि कोई है तो वह है दिनकर की "उर्वशी" । मैं यहाँ पर कहना चाहूँगा कि जब मैं सर्वाधिक शब्द का प्रयोग कर रहा हूँ तो अपनी सीमा को ध्यान में रख कर ही कर रहा हूँ । सर्वाधिक कहने का अधिकारी वस्तुत: वही व्यक्ति हो सकता है जिसने "कामायनी" के पश्चात् प्रकाशित होने वाली समस्त कृतियों तथा उनकी समस्त चर्चाओं का परिचय पा लिया हो । मेरी शक्ति सीमित है और

ज्ञान जैसी कोई चीज मेरे निकट प्रतीत नहीं होती । हाँ, एक धुंधला और मोहिम उजास में उगते प्रश्न मुझे परिचालित अवश्य करते रहते हैं, तथा वही मेरी एकान्तयात्रा के सहयात्री हैं, इसलिए मेरे निकट सर्वाधिक आने योग्यत अर्थ में ही अपनी महत्ता या गरिमा को समेटे हुए है ।)

1.3 कृति कलाकार के चिन्तन का परिणाम होती है और चिन्तन समस्या का प्रतीक क्योंकि, समस्या के अभाव में चिन्तन संभव ही नहीं । चिन्तन के इन बिन्दुओं को साहित्य की भाषा में प्राय: प्रतिपाद्य की संज्ञा से अभिहित किया जाता है । किसी भी कृति को लेकर प्राय: उसका प्रतिपाद्य जानकर संतोष कर लिया जाता है उसके अन्तर में गहरे पैठने पर अनेक प्रश्न चिह्नों को झूलते देख कर अनायास ही उनसे कतरा कर निकल जाने की प्रवृत्ति बलवती हो उठती है । इसप्रकार रचना का केन्द्र बिन्दु या तो अव्याख्यात ही रह जाता है अथवा फिर उन सह वृत्तों की परिधियों के मध्य भटकता प्रतीत होता है जिनकी निर्मितियों में विभिन्न दृष्टिकोणों का प्रमुख हाथ रहता है ।

जहाँ तक दृष्टिकोणों के निर्माण का प्रश्न है वहाँ पर कहना चाहूंगा कि पूर्वाग्रहों की महत्वपूर्ण भूमिका रहती है । रचनाकार अथवा बुद्धिजीवी पाठक, जिसे समीक्षक भी कहा जा सकता है किसी क्षण विशेष में रचना के सम्बन्ध में जो वक्तव्य दे देता है उसे प्रमाणिक मान लिया जाता है, इसके साथ ही यदि इस प्रकार का वक्तव्य रचयिता स्वयं देता है और रचना की परिधि पर उसे स्वीकार किए जाने के कारण भी हो तो वक्तव्य की प्रामाणिकता सन्देह की समस्त सीमाओं के पार गुजर जाती है । ऐसी स्थिति में जो भी भावक, दृष्टा या पाठक

उस रचना का अवलोकन करता है उसके जाने अन्जाने उसके पूर्वग्रह उसे लीक से हट कर सोचने की अनुमति नहीं देते और इस प्रकार पूर्व कथनों का समर्थन सम्वर्द्धित होता जाता है । मैंने "उर्वशी का अध्ययन इसके प्रकाशन के 12 वर्षों के पश्चात् पहली बार किया था । मुझे यह स्वीकार करने में कोई संकोच नहीं है कि उस समय तक "उर्वशी" के सम्बन्ध में प्रकाशित किसी भी प्रकार की सामग्री का मुझे कोई बोध नहीं था । "उर्वशी" के अध्ययन का मुझ पर प्रभाव पड़ा और उसे देखने की मेरी अपनी दृष्टि रही है जो उस दृष्टि से बहुत दूर तक सहमत नहीं जो उर्वशीकार की अथवा "उर्वशी के समीक्षकों की रही है । अपने अभिप्राय को स्पष्ट करने के लिए मैं अधिकांश मतों का उल्लेख करना चाहूँगा जो उर्वशी के प्रतिपाद्य या मूल समस्या की ओर संकेतित करते हैं । प्रमुख मतों का उल्लेख करने से पूर्व यह भी स्पष्ट करना चाहूंगा कि ये मत गलत नहीं हैं लेकिन उर्वशी में इनके अतिरिक्त भी कुछ है जो कम महत्वपूर्ण नहीं और कदाचित उसे रचना के केन्द्रबिन्दु के रूप में स्वीकारा जा सकता है । मेरा अनुसन्धान प्रस्तुत
1.4 मतों का विरोधी न होकर पूरक है । "उर्वशी" रचना के उद्देश्य को लेकर सबसे पहले उर्वशीकार का मत :-

> फिर क्या था ? सब खुल गए भेद,
> हो उठा विभासित कामवेद ।[×]

> " मैं तो केवल पुरुरवा और उर्वशी का चित्रण करना चाहता था जिनके दर्शन मुझे नये मनोभावों और नई नारियों में मिलते ही रहते हैं ।" [2]

× रामधारी सिंह दिनकर, मृति तिलक, पृष्ठ 55

2. डा. रणवीर रांग्रा, सृजन की मनोभूमि, पृष्ठ 111

[डा. रणवीर रांग्रा द्वारा यह साक्षात्कार ता. 13.1.1968 को लिया गया था]

" सृष्टि विकास की जिस प्रक्रिया के कर्त्तव्य पक्ष का प्रतीक मनु और इड़ा का आख्यान है, उसी प्रक्रिया का भावना पक्ष पुरूरवा और उर्वशी की कथा में कहा गया है । "×

डा. विजेन्द्रनारायण सिंह :-

" उर्वशी प्रेम की अतीन्द्रियता का आख्यान है ।"[2]

डा. हजारी प्रसाद द्विवेदी का मत है कि :-

" कवि का अभिप्रेत विषय उर्वशी है ---- उद्दाम मानस वेग ।"[3]

श्री चोडे वरपुराम शेषय्या :-

" सनातन पुरुष और प्रकृति की रहस्यमय भित्ति ही इसका अवलम्ब है । " [4]

डा. नगेन्द्र :-

" नर-नारी का प्रेम, दर्शन की शब्दावली में काम तथा काव्य शास्त्र की शब्दावली मे रति -- मानव जीवन की सबसे प्रमुख प्रबल वृत्ति है और उर्वशी काव्य का वही आधार विषय है ।"[5]

× रामधारी सिंह दिनकर, उर्वशी, भूमिका, पृष्ठ "ख"

2. डा. विजेन्द्रनारायण सिंह, उर्वशी उपलब्धि और सीमा, परिमल प्रकाशन इलाहाबाद, पृष्ठ 56

3. डा. वचनदेव कुमार, उर्वशी विचार और विश्लेषण, पृष्ठ 2

4. वही पृष्ठ ×।8× श्री चोडवरपु रामशेषय्या, उर्वशी, पत्रिका दक्षिण

5. भारत, वर्ष 9 अंक ।।-।2 सितम्बर, 1961, दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा मद्रास, पृष्ठ 31

5. डा. वचनदेव कुमार, उर्वशी विचार और विश्लेषण, पृष्ठ 10

उर्वशी का समस्या का संदर्भ

डा. सावित्री सिन्हा :-

" ------ कवि के सामने एक समस्या है --- काम अथवा प्रेम की समस्या । और दर्शन तथा मनोविज्ञान द्वारा इस समस्या उद्‌घाटन उर्वशी के कवि का उद्‌देश्य रहा है ।" ×

डा. प्रभाकर माचवे :-

" मुझे लगता है कि नारी में निहित चिरन्तन प्रेयसी और चिरन्तन माता का द्वन्द्व दिनकर ने इस काव्य में प्रस्तुत कियाहै ।"[2]

श्री प्रभाग चंद्र शर्मा :-

" प्रेय से श्रेय की ओर उद्‌वयन उर्वशी काव्य का प्राण स्वर है ।"[3]

डा. शेखर चंद जैन :-

" कवि ने उर्वशी के माध्यम से आधुनिक युग को युद्ध के पश्चात् मुख्य समस्या -- काम और प्रेम पर अपने विचार प्रकट किए हैं । "[4]

× डा. वचनदेव कुमार, उर्वशीविचार और विश्लेषण, पृष्ठ 40

2. वही, पृष्ठ 27

3. श्री प्रभागचंद्र शर्मा, उर्वशी, हिन्दी महाकाव्य, आकाशवाणी प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय भारत सरकार 1968, पृष्ठ 50

4. डा. शेखरचंद्र जैन, राष्ट्र कवि दिनकर और उनकी काव्य कला, जयपुर पुस्तक सदन, जयपुर, 1973 पृष्ठ 114

डा. रघुवंश :-

" उर्वशी अधिक काव्यात्मक प्रयत्न है, जिसमें कवि ने शारीरिक सौन्दर्य और भावात्मक प्रेम के सूक्ष्म सम्बन्धों को आध्यात्मिक ऊँचाई पर व्यक्त किया है । " ×

डा. कृष्णदत्त पालीवाल :-

" काम की आध्यात्मिक महिमा का आख्यान ही कृति का मूल वर्ण्य विषय है जिसमें कवि को पर्याप्त सफलता मिली है ।"[2]

डा. एन.पी.कुट्टन पिल्लै :-

" कामायनी और उर्वशी का मुख्य प्रतिपाद्य काम है ।"[3]

डा. शान्तिगोपाल पुरोहित :-

" उर्वशी के पुरातन आख्यान की पृष्ठभूमि पर कवि ने अपने नारी सम्बन्धी विचार शृंगारिक भावनाएँ व्यक्त की हैं ।"

डा. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी :-

" उर्वशी की शृंगार चेतना में आज की काम मूलक समस्याएँ प्रमुख हैं ।

× डा. रघुवंश, समसामयिकता और आधुनिक हिन्दी कविता, केन्द्रीय हिन्दी संस्थान आगरा, 1972, पृष्ठ 77

2. डा. कृष्णदत्त पालीवाल,, नया सृजन नया बोध, राजेश प्रकाशन दिल्ली, 1973, पृष्ठ 204

3. डा. एन.पी. कुट्टन पिल्लै, अध्ययन और अनुसन्धान, प्रगति प्रकाशन, आगरा, 1975, पृष्ठ 103

4. डा. शान्तिगोपाल पुरोहित, दिनकर के काव्य का मनोवैज्ञानिक विवेचन, राष्ट्रकवि दिनकर और उनकी साहित्य साधना, सं. प्रताप चंद्र जैसवाल, समीक्षालोक कार्यालय आगरा 1976, पृष्ठ 6

नर-नारी प्रेम जो मानव जीवन की सबसे बड़ी सच्चाई है, "उर्वशी" का मुख्य कथ्य है । " ×

श्री नारायण चतुर्वेदी :-

" उनके काव्य का चरम उत्कर्ष उनकी उर्वशी में है जिसमें उन्होंने मनुष्य के जीवन की पूर्णता के लिए काम की भूमिका पर बड़े कीवत्वपूर्ण ढंग से अपने विचार प्रकट किए हैं । " 2

डा. द्वारिका प्रसाद सक्सेना :-

" निस्संदेह "उर्वशी" कामाध्यात्म की गीतिका है । " 3

डा. संतोष कुमार भार्गव :-

"आधुनिक देश-काल की अनेक समस्याएँ भी इसमें आयी हैं । पुरूरवा की व्यक्तिगत समस्या है पुत्र का अभाव और उर्वशी की समस्या है पति और पुत्र में एक का सामीप्य और दोनों के देख लेने पर स्वयं का अस्तित्व समाप्त हो जाना । "4

× डा. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, आधुनिक हिन्दी कविता, 1977, पृष्ठ 102

2. श्री नारायण चतुर्वेदी, पावन स्मरण, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1977, पृष्ठ 64

3. डा. द्वारिका प्रसाद सक्सेना, हिन्दी के आधुनिक प्रतिनिधि कवि, विनोद पुस्तक मंदिर आगरा 1977, पृष्ठ 404

4. डा. संतोष कुमार भार्गव, उर्वशी एक नवीन दृष्टि, दिनमान प्रकाशन, नई दिल्ली, 1978 पृष्ठ 126

डा. चन्द्रभान रावत :-

" कामाध्यात्म की दीर्घ परम्परा को आधुनिक तर्कों से प्रमाणित करने की चेष्टा "उर्वशी की रचना प्रक्रिया में आद्यान्त व्याप्त है ।"×

जय सिंह नीरद :-

"काम उर्वशी के कथ्य की केन्द्रीय चेतना है और यह केन्द्रीय चेतना जब उसकी सम्पूर्ण भावात्मक स्फीति और वैचारिक गरिमा से मण्डित हो जाती है तो उसे कामाध्यात्म की संज्ञा देकर हम उर्वशी का कथ्य मान लेते हैं ।"2

डा. निर्मला जैन :-

" उर्वशी की मूल समस्या काम की है । "3

श्री नेमि चंद्र जैन :-

" दिनकर जी स्त्री-पुरुष के प्रणयाकर्षण के माध्यम से मानव में देवत्व की चाह और मनुजोचित कामनाओं के बीच भटकते टकराते रहने के अन्तर्द्वन्द्व को दिखाना चाहते हैं । "4

× डा. चन्द्रभान रावत, उर्वशी कामाध्यात्म, राष्ट्रकवि दिनकर और उनकी साहित्य साधना, सं. प्रताप चंद जैसवाल, समीक्षालोक कार्यालय, आगरा, पृष्ठ 131

2. जय सिंह नीरद, आधुनिकता के हासिए में उर्वशी, साहित्य भारती, दिल्ली, पृष्ठ 76

3. वही पृष्ठ 155

4. श्री नेमिचन्द्र जैन, उर्वशी एक भाव विश्लेषण, कल्पना जनवरी, 1964, पृष्ठ 47

मुक्ति बोध :-

" उर्वशी एक बृहत् कल्पना स्वप्न है, जिसके द्वारा और जिसके माध्यम से लेखक अपनी कामात्मक स्पृहाओं का आदर्शीकरण करता है और उन्हें सर्वोत्तम आध्यात्मिक औचित्य प्रदान करता है । "×

श्री भारत भूषण अग्रवाल :-

" उर्वशी को कामाध्यात्म का काव्य यों ही नहीं कहा गया है, वह उसकी यार्थिय व्याख्या है । " 2

गत पृष्ठों में हमने उर्वशी के प्रतिपाद्य या केन्द्रीय चेतना को स्पष्ट करने वाले पच्चीस मतों का उल्लेख किया जिसमें उर्वशीकार का अपना मत भी सम्मिलित है । इन मतों में यदि डा. सतीश कुमार भार्गव का मत अलग कर दिया जाय तो लग-भग सभी मत एक से प्रतीत होते हैं । शब्दों की बदलाहट से बहुत अधिक अन्तर नहीं होता ।[3] सबसे पहले हम उर्वशीकार के मन्तव्य को और अधिक स्पष्ट करने के लिए उसकी डायरी के कतिपय अंशों को प्रस्तुत करना उचित समझते हैं । डायरी के ये अंश इस बात की पुष्टि करते हैं कि उर्वशी काव्य की केन्द्रीय समस्या काम है अथवा

× उर्वशी के सम्बन्ध में मुक्तिबोध की प्रतिक्रिया कल्पना जनवरी, पृष्ठ 36

2. वही पृष्ठ 62

3.

काम ही उर्वशी की चेतना का केन्द्र बिन्दु है :-

27 मई, 1968 ई दिल्ली

" लडकियाँ खुश हैं कि मैंने काम अध्यात्म को नई फिलासफी निकाली है ।

प्रश्न - आध्यात्मिक काम की कल्पना आप किस आधार पर करते हैं ?

काम की उत्तेजना दो व्यक्तियों को पिघला कर एक कर देती है, यानी ऐसी स्थिति हो जाती है कि वे बहकर एक दूसरे में समा जाते हैं । उस समय शारीरिक वासना शारीरिक नहीं रहती, वह रूपान्तरित होकर दिव्य प्रेम बन जाती है, जिसकी हम केवल कल्पना कर सकते हैं ।

मनुष्य अपने हाथों से इसतरह छूट जाता है कि आनन्द के अतिरेक में वह प्रेमी में समा जाना चाहता है । उसके भीतर पहुँचकर मर जाना चाहता है । आनन्द की दीप्ति के बिना धर्म नीरस और केवल विचार मात्र रह जाता है । धार्मिक रूप से अपने आप को छोड़े बिना काम केवल यांत्रिक क्रिया मात्र है । किन्तु काम का यह आध्यात्मिक आनन्द प्रयत्न साध्य नहीं है, वह कभी-कभी आप से आप आ जाता है । उसकी प्रतीक्षा करो उसे ग्रहण करने को तैयार रहो, वह पाया नहीं ग्रहण किया जाता है । ×

अपने इस मत की पुष्टि करते हुए श्री रामधारी सिंह दिनकर एक अन्य स्थल पर अपनी डायरी में ही डा. राज को उनके प्रश्न का उत्तर

× रामधारी सिंह दिनकर, दिनकर की डायरी

29जून, 1969 ‖ दिल्ली ‖

डा. राज का प्रश्न : उर्वशी में जो कामाध्यात्म है वह कैसे सिद्ध होता है ?

काम आध्यात्मिक विकास का बाधक इसलिए समझा जाता है कि अध्यात्म और प्रकृति को हमने परस्पर भिन्न मान लिया है। अध्यात्म को हमने इस दृष्टि से समझा है कि वह क्या नहीं है, इस दृष्टि से नहीं कि वह क्या है। पिछली दृष्टि से देखने पर अध्यात्म प्रकृति का विरोधी नहीं है, न काम अध्यात्म का शत्रु है।

ब्रह्मचर्य को हमने अध्यात्म का नित्यसंगी मान लिया है। किन्तु जनक और व्यास क्या अखंड ब्रह्मचारी थे ? श्री अरविन्द और कबीर ने नारी के कामिनी रूप को जाना था या नहीं ?

भोजन और उपवास दोनों प्राकृतिक कार्य हैं। लेकिन धर्म के नाम पर ब्रह्मचर्य मनुष्य पर प्रकृति की ओर से यह बाध्यता नहीं है कि वह संभोग करे ही, खाना खाए ही या जीवित रहे ही।

उपवास की तरह ब्रह्मचर्य भी स्वाभाविक कृत्य है। लेकिन धर्म के नाम पर ब्रह्मचर्य धारण करने वालों का मुख्य दोष यह है कि अध्यात्म के लिए वे काम को निश्चित बाधा मानकर चलते हैं, मानों ईश्वर की अनुभूति और नारी की अनुभूति, इन दोनों में से मनुष्य को कोई एक ही अनुभूति प्राप्त हो सकती है दोनों नहीं।

काम के प्रति संतों की दृष्टि निषेधात्मक रही है । शारीरिक कृत्य का तो निषेध है ही, संत मानस चित्रों का भी निषेध सिखाते हैं । इससे शरीर और मन की एकता का भंजन होता है । वास्तव में मन शरीर का ही एक अंश है ।

ईश्वर और प्रकृति, इन दोनों के बीच प्रतियोगिता नहीं है कि मनुष्य एक को ग्रहण करे और दूसरे को त्याग दे ।

शरीर का काम, संयत काम, सामाजिक मर्यादा को मानकर एक घाट पर बहने वाला काम, पाप नहीं है । पाप वह तब हो जाता है, जब काम मन को अपने वश में कर लेता है और और मन शरीर को हाँकने लगता है, जबर्दस्ती हाँकने लगता है । तन का काम अमृत है, लेकिन मन का काम गरल है ।

आनन्दातिरेक प्रकृति का धर्म होना चाहिए । जब यह आनन्द जीवन के अन्य क्षेत्रों मे नहीं मिलता, तब मनुष्य बलपूर्वक, इच्छापूर्वक उसकी खोज काम में करने लगता है । यही पाप है । उर्वशी में जितना कहा गया है, उससे शायद कुछ अधिक कहा जाना चाहिए था । लेकिन उस अकथ्य को भाषा उर्वशी के पास नहीं है, क्योंकि वह मेरे पास नहीं है । मैं सिर्फ इंगित करना चाहता था कि प्रकृत जीवन बिताकर भी आदमी संत हो सकता है । "×

●1.5 उर्वशीकार की डायरी के उपर्युक्त दो लम्बे अंशों से यह भली प्रकार सिद्ध होता है कि वह काम अध्यात्म को उर्वशी काव्य की केन्द्रीय चेतना मानता है तथा सौंदर्य को महत्व वह यहाँ

अनावश्यक रूप से प्रदान कर रहा है उसकी यह धारणा उर्वशी से मेल नहीं खाती जिसके सम्बन्ध में यथावसर चर्चा की जायेगी । निष्कर्ष रूप से यह तो स्वीकार किया ही जा सकता है कि वह कामाध्यात्म को प्रमुखता प्रदान कररहा है । अब हम उर्वशीकार के उस मत को ही यहाँ पर प्रस्तुत करना उचित समझते हैं जो उसके अपने अब तक के मत के विरोध में प्रतीत होता है । डा. रणवीर रांग्रा को दिए गए एक साक्षात्कार मे वह कहता है :-

> " कामाध्यात्म बड़ा गोलमटोल शब्द है । यदि इसका अर्थ काम और अध्यात्म के बीच द्वन्द्व हो तो उसका प्रयोग सही माना जायेगा, अन्यथा इस शब्द का प्रयोग उर्वशी काव्य के प्रसंग में नहीं किया जाना चाहिए ।"×

इसके पूर्व कि कामाध्यात्म, जिसे कि उर्वशी काव्य की केन्द्रीय समस्या के रूप में स्वीकारा गया है, के सम्बन्ध में अन्य मतों को प्रस्तुत किया जाय इस शब्द के विषय में कुछ विचार कर लेना अनु - पयुक्त न होगा । कामाध्यात्म शब्द को दिनकर जी जिस उपबन्ध के साथ स्वीकार करते है वह है " काम और अध्यात्म के बीच का द्वन्द्व" । जहाँ तक अध्यात्म का प्रश्न है उसका अर्थ शब्द कोश में इस प्रकार दिया है :-

> " अध्यात्म = आत्मा । देह। मन। "स्वभावो अध्यात्म उच्यते " गीता के इस वाक्य के अनुसार स्वभाव को अध्यात्म कहते हैं । श्रीधर के मतानुसार प्रत्येक शरीर में परब्रह्म को जो सत्ता या अंश वर्तमान रहता है, वही अध्यात्म कहलाता है ।

× डा. रणवीर रांग्रा, सृजन की मनोभूमि, पृष्ठ 108

आत्मा सम्बन्धी । " ×

अध्यात्म के साथ काम को जोड़ने पर जो सम्भावित अर्थ निष्पत्तियाँ हो सकती हैं वे हैं -- आत्मा का काम, देह का काम, मन का काम, अथवा फिर स्वाभाविक काम यानी काम और मनुष्य का सम्बन्ध उसके स्वभाव में है, यदि श्रीधर के मत को अपनाया जाय तो काम का सम्बन्ध सीधा उस ब्रह्म की सत्ता से स्थापित हो जाता है । तात्पर्य यह कि ब्रह्म की सत्ता ही काम है साथ ही शब्द कोश प्रतिपादित अंतिम अर्थ के ग्रहण पर आत्मा और काम का सम्बन्ध अभिन्न हो जाता है । किन्तु काम्य वे आत्मा और काम के बीच द्वन्द्व को शर्त स्थापित करते हैं । सम्बन्धों की अभिन्नता में द्वन्द्व के लिए, विपरीतता के लिए स्थान नहीं होता; ऐसी स्थिति में उनके द्वारा मान्य अर्थ को ग्रहण करने पर पाठक के लिए यह स्वीकार करना भी अनिवार्य हो जाता है कि या तो वह द्वन्द्व को भी विपरीतता से हटकर माने अथवा फिर आत्मा और काम के अर्थों को नया परिप्रेक्ष्य प्रदान करे । कदाचित दिनकर स्वयं इस सम्बन्ध में निर्भ्रान्त नहीं थे इसीलिए उन्होंने इस शब्द के प्रयोग का निषेध भी किया है । एक ओर कामाध्यात्म की व्याख्या उर्वशी के प्रसंग में तथा दूसरी ओर उसकी अनिश्चितता वस्तुतः उनकी एतत् सम्बन्धी धारणा का डाँवाडोलपन ही सिद्ध करती है । स्पष्ट यही है कि उर्वशीकार के मानस में भी उर्वशी को लेकर विभिन्न धारणाएँ रही हैं । वह जब एक अर्थ को समेटता है, स्थापित करता है तभी दूसरा अर्थ उसके हाथों से फिसल कर छलक जाता है । उर्वशीकार की कामाध्यात्म सम्बन्धी अनिश्चितता को

× संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ, चतुर्वेदी द्वारका प्रसाद शर्मा तथा तरिणीश झा, व्याकरण वेदान्ताचार्य, रामनारायण लाल, बेनी प्रसाद, इलाहाबाद, 1971, पृष्ठ 47

स्पष्ट करने के लिए यहाँ पर डा. सत्येन्द्र के शब्दों को उद्धृत करना अनुपयुक्त न होगा ---- .

" दिनकर जी ने "उर्वशी" में किसी के द्वारा "काम अध्यात्म" के आरोप पर बहुत आश्चर्य प्रकट किया । "×

दिनकर जी के इस आश्चर्य के साथ ही कतिपय आलोचकों को भी आश्चर्य हुआ अस्तु हम उनके मतों को ही यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं :----

श्री विद्यानिवास मिश्र :-

" काम का अध्यात्मीकरण इतना ही थोथा प्रयोजन है, जितना तुलसी को कामग्रस्त सिद्ध करने के लिए राम चरित मानस का मनोवैज्ञानिक अध्ययन ।"[2]

डा. नगेन्द्र :-

" काम के साथ अध्यात्म को जोड़ना वैसा ही है जैसे किसी को हँसने के साथ-साथ गाल फुलाने के लिए भी कहा जाए । कामाध्यात्म प्रकारान्तर से पलायन को स्वीकृति देता है । दिनकर पलायनवादी नहीं थे, वे राष्ट्रीय और सामाजिक कवि थे । उर्वशी को कामाध्यात्म से जोड़ना दिनकर पर पलायनवादिता आरोप लगाना है । "[3]

डा. नगेन्द्र उर्वशी काव्य के आधार विषय के रूप में प्रेम को स्वीकार करते हुए भी उसके कामाध्यात्म को स्वीकार नहीं करते । वस्तुत: किसी

× डा. सत्येन्द्र,"दिनकर के कृतित्व पर नए रूपों में मूल्यांकन आवश्यक", दिनकर व्यक्तित्व एवं कृतित्व, सं. जगदीश चतुर्वेदी, पृष्ठ 61

2. श्री विद्यानिवास मिश्र, कल्पना जनवरी, 1964, पृष्ठ 78

3. जयसिंह नीरद, आधुनिकता के हाशिए में उर्वशी, साहित्य भारती, दिल्ली, 1977, पृष्ठ 148-49

भी काव्य का केन्द्र विन्दु वह होता है जिसकी परिधि पर पूरी घटनाएँ और विचार सरलता से घूम सके । घटनाओं और विचारों को परिधि से चल कर भी केन्द्र को खोज की जा सकती है किन्तु जब तक केन्द्रविन्दु का ठीक-ठीक पता नहीं चलता काव्य की समस्त घटनाएँ और विचार विभिन्न परिधियों पर घूमते दृष्टिगत होते हैं । कवि विचारों को लेकर यथार्थवादी निष्कर्षों पर पहुँचे या न पहुँचे किन्तु विभिन्न विचारों का एक मूल केन्द्र अवश्य स्पष्ट होना चाहिए । प्रजातान्त्रिक विश्वासों, जिनमें बहुमत को ही प्रधानता दी जाती है, के आधार पर यदि काम को उर्वशी के केन्द्र के रूप में स्वीकार भी कर लिया जाय तो उससे उर्वशी के प्रथम,[1] तृतीय[2] तथा चतुर्थ[3] अंकों में व्याप्त पृथ्वी और स्वर्ग; देवता और मनुष्य की तुलना तथा स्वर्ग पर पृथ्वी की और देवता पर मनुष्य की श्रेष्ठता की संगति उसके केन्द्रीय विचार या समस्या से नहीं बैठती । इसके साथ ही पंचम अंक में पुरुरवा सन्यास समूचे परिप्रेक्ष्य से अपना ताल-मेल नहीं स्थापित कर पाता । कहना अनुपयुक्त न होगा कि अमरत्व के लिए आकुल पुरुरवा उर्वशी से काम महिमा का अपार ज्ञान प्राप्त करके भी जैव - तल पर ही दृष्टिगत होता है और उर्वशी जिस अनासक्ति का विरोध करती है[4] पहले उसी का उपदेश देती है और फिर पूरी तरह स्वयं आसक्ति मे डूबी दृष्टिगत होती है ।[5]

× रामधारी सिंह दिनकर, उर्वशी, उदयाचल, 1978 पृष्ठ 3,5,6,11,12, 14.

2. वही, पृष्ठ 36,41,42,43,44,तथा 52.

3. वही, पृष्ठ 96,97,98,99, तथा 100.

4. नहीं इतर इच्छाओं तक ही अनासक्ति सीमित है;
उसका किंचित स्पर्श प्रणय को भी पवित्र करता है
× × × × × × ×
तन से मुझ को कसे हुए अपने दृढ़ आलिंगन में,
मन से, किन्तु, विषण्ण दूर तुम कहाँ चले जाते हो ?
× × × × × × × (शेष अगले पृष्ठ पर)

***

खण्ड : दो

2. स म स्या

केन्द्रीय समस्या की तलाश में

हमारी यात्रा का प्रारम्भ उस विन्दु से हो संभव है जहाँ पर हम हैं ।

खण्ड : दो

२. स म स्या

यह सत्य है कि पदार्थ दृश्य एवं निष्क्रिय प्रतीत होता है जबकि ऊर्जा अदृश्य तथा सक्रिय .... फिर भी मेरा विश्वास यह है कि हमारी ज्ञानेन्द्रियों को जो पदार्थ प्रतीत होता है वह वस्तुत: ऊर्जाओं का समूह ही है ।

-- आइन्सटीन --

It is true that mass appears to be visible and inactive, while energy is invisible and active .....Nevertheless I believe that what appears to our senses as mass is really a complex of energies. - Albert Einstein.
Aylesa Forsee: Albert Einstein - The Mac Millan Company, New York - 1963 Page-30.

2. समस्या

शब्द को प्रयोग बहुलता अर्थाभिव्यक्ति में प्राय: दूर तक सहायक नहीं होतो । इसके विपरीत कदाचित होता यह है कि बहुत अधिक प्रयोग में आने के कारण शब्द तो जन साधरण के लिये अधिक परिचित हो जाता है किन्तु उसका अर्थ अपने मूल से दूर हट जाता है । कभी-कभी ऐसा भी होता है कि किसी शब्द से हम बहुत अधिक परिचित होने के कारण उसके मूलार्थ सन्धान का न तो प्रयास करते हैं न हो उसकी आवश्यकता अनुभव करते हैं । सत्य तो यह प्रतीत होता है कि शब्द के उच्चारण भर से चाहे वह शारीरिक हो या मानसिक प्रयोक्ता अथवा श्रोता के निकट कुछ भी स्पष्ट रूप से व्यंजित नहीं होता । हम प्राय: एक ढंग विशेष पर अर्थों को ग्रहण करने के आदी हो जाते जाते हैं क्योंकि हमें हमारे चतुर्दिक फैला हुआ परिवेश उसके लिये प्रशिक्षित करता है । इसप्रकार हम शब्दों को एक पारम्परिक रूप से बिना विशेष ध्यान दिये प्रयोग करते रहते हैं । प्रयोग के ऐसे अवसरों पर परिचय को प्रगाढ़ता, जैसा कि हम मानते है; और कभी-कभी तो कुछ भी नहीं मानते, मात्र प्रयोग करते हैं इस विश्वास के साथ कि हम जानते हैं और दूसरे भी जानते होंगे; हमारे मन में एक पल के लिये भी यह विचार नहीं आता कि बहुत संभव यह भी है कि हम नहीं जानते और शायद दूसरे भी न जानते हों, अथवा स्यात् दूसरे जानते हो और हम न जानते हों, होता यह है कि प्रयोक्ता अपनी जानकारी को प्रमाण मानकर चलता है तथा दूसरे भी जानते हैं ऐसा उसे विश्वास होता है, कदाचित दूसरा न जानता हो तो यह उसकी अज्ञता अथवा अल्पज्ञता हो सकती है, प्रयोक्ता की नहीं ; हमें अधिक गहराई से कुछ भी सोचने नहीं देती । समस्या शब्द भी नहीं है, बहु प्रयुक्त तथा बहु-श्रुत है किन्तु उसके प्रयोग से हम समझते क्या हैं ? हम जब समझ की इस मूलता पर प्रश्न चिह्न आरोपित करते हैं तो इसमें सबसे पहले लेखक की समझ को ही सन्देहपूर्ण मानना चाहिये क्योंकि विचार के प्रत्येक परमाणु में लेखक विचारक का अपना व्यक्तित्व प्रच्छन्न रूप से

या प्रकट रूप से निहित रहता हो है । कम से कम मेरे निकट यह "समस्या" शब्द एक विचित्र मुद्रा में प्रकट हुआ है । इसके प्रयोगों से मैं एक अर्थ-वत्ता को एक धुंधलो छुवन महसूस तो करता हूँ किन्तु जैसे हो इसे मैं इसे अपने मानसांक में समेटने का प्रयत्न करता हूँ यह छिटक कर दूर हो जातो है । शून्यों के आवृत्त प्रश्न चिह्नों को आकृतियों में उभरने लगते अस्तु शब्दकोशों और विश्व-कोशों को सहायता लेना अनिवार्य हो जाता है ।

2.1 (1) संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ :-

समस्या - सम /अस + क्यप - टाप संयोग मेल किसो श्लोक या छंद का वह अंतिम पद या टुकड़ा जो पूरा श्लोक या छंद बनाने के लिये दूसरों को दिया जाय और जिसके आधार पर पूरा श्लोक या छंद तैयार किया जाय । ×

प्रस्तुत कोश के आधार पर कहा जा सक्ता है कि सम उपसर्ग पूर्वक अस धातु में क्यप प्रत्यय के मेल से जब "आ" आदेश होता है तो समस्या शब्द निर्मित होता है । यहाँ पर इस कथन पर कुछ विचार करना आवश्यक है । समस्या शब्द को मूल धातु "अस" है जिसका अर्थ होता है -"है" या " होना"।[2] सम उपसर्ग का अर्थ होता है - " एक समान " [3] "य" प्रत्यय का एक अर्थ योग अथवा "प्रकाश"[4] भो होता है, तथा "आ" का अर्थ होता है "सचमुच" ।[5] इस प्रकार समस्या का सम्भावित अर्थ है कि होने के समानान्तर जो वस्तुत: होता है वह समस्या है । होने के समानान्तर यदि सचमुच कुछ हो सकता है तो वह है उसका न होना अर्थात् अभाव । कोशगत व्याख्या से भो इसको पुष्टि होतो है । जब कोशकार कहता है कि " किसो श्लोक या छंद का वह अंतिम पद या टुकड़ा जो पूरा श्लोक या छंद बनाने के लिये दूसरों को दिया जाय और जिसके आधार पर पूरा श्लोक या छंद तैयार किया जाय ।"[6] इस

× संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ, सं. चतुर्वेदो द्वारका प्रसाद शर्मा तथा पं. तरणोश झा, 1957, राम नारायण लाल, इलाहाबाद, पृ. 1।

2. वही, पृ. 160.
3. वही, पृ. 1170.
4. वही, पृ. 916.

कथन से निश्चित रूप से अपूर्णता को पूर्णत्व प्रदान करने की ध्वनि निकल रही है । पूर्णत्व प्रदान करने की पूर्वावस्था अपूर्णता की है । छंद का होना अस्तित्व की सूचना है और उसका अपूर्ण होना उस रिक्तता का होना है जो उसके साथ ही समान रूप से उपस्थित है । श्लोक या छंद को पूरा करना उस रिक्तता के प्रमाण की पुष्टि है । अस्तु समस्या अस्तित्व के साथ जन्मी हुयी रिक्तता का दूसरा नाम है । यह रिक्तता वास्तविक है, उतनी ही वास्तविक जितना कि स्वयं अस्तित्व ।

(2) नालान्दा विशाल शब्द सागर :-

इसके अन्तर्गत समस्या शब्द के तीन अर्थ दिये गये हैं :-

(1) वह उलझनवाली विचारणीय बात जिसका निराकरण सहज में न हो सके । कठिन या विकट प्रसंग ।

(2) संघटन तथा

(3) किसी श्लोक या छंद आदि का वह अंतिम चरण या पद जो पूरा छंद बनाने के लिये कवियों के सम्मुख रखा जाता है ।[×]

इस कोशगत प्रथम अर्थ पर विचार करते समय जो महत्वपूर्ण तथ्य हमारे सामने आता है वह है " विचारणीय बात " । विचार वस्तुत: हमारे अभावों के सूचक होते हैं । जो हमारे पास होता है हम उसके सम्बन्ध में कदाचित कभी विचार नहीं करते । जब भी हम विचार करते हैं तो उसके सम्बन्ध में करते हैं जो हमारे पास नहीं होता । अभाव को भरने के इस प्रयास में आने - वाली बाधायें उलझन बन जातीं हैं और इन उलझनों से निपटने के लिये शक्ति संचय का प्रयास एक समस्या । प्रश्न उ० सकता है कि शक्ति है तभी तो उसका प्रयोग या संचय किया जा सकता है अन्यथा संचय भी कैसे संभव है ? उत्तर में

× नालान्दा शब्द सागर, सं. नवल जी, लाला फूल चंद जैन, न्यू इम्पीरियल बुक डिपो, नई सड़क, दिल्ली, संवत् 2007, पृ. 1407.

निवेदन है कि बहुत संभव हैं कि व्यक्ति के पास उसके शरीर में शक्ति हो कि वह उलझनों से निपट ले किन्तु जिस क्षण विशेष में वह विचार कर रहा होता है उस क्षण विशेष में वह शक्ति के रूप अथवा उसकी स्थिति से अपरिचित होता है । अपरिचय के ये पल ही उसके अन्तर्मन में अभाव बोध को सृष्टि करते हैं और वह विचार करने लगता है ।

कोशगत द्वितीय अर्थ " संघटन " अस्तित्व का पूरक है तथा तृतीय अर्थ संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ के अर्थ की पुनरावृत्ति जिसके सम्बन्ध में हम गत पृष्ठों पर विचार कर चुके हैं । विचार पूर्वक देखा जाय तो नालन्दा शब्द सागर का अर्थ भी पूर्व मान्यता को ही पुष्टि करता है ।

(3) हिन्दी शब्द सागर :-

हिन्दी शब्द सागर में समस्या शब्द के चार अर्थ दिये गये हैं जो इस प्रकार है :-

(1) संघटन

(2) मिलाने की क्रिया

(3) किसी श्लोक या छंद आदि का वह अंतिम पद या टुकड़ा जो पूरा श्लोक या छंद बनाने के लिये तैयार रूप करके दूसरों को दिया जाता है । देना या पूर्ति करना ।

(4) कठिन अवसर या प्रसंग । ×

हिन्दी शब्द सागर में किसी अर्थ विशेष की ओर संकेत नहीं किया गया है । द्वितीय अर्थ में जो मिलाने की क्रिया है वह भी अपूर्णता की ओर ही संकेत करती है ।

(4) वृहत् हिन्दी कोश :-

वृहत् हिन्दी कोश में समस्या शब्द के सात अर्थ दिये गये हैं जो इस

× हिन्दी शब्द सागर (दसवाँ भाग) मू.सं. श्याम सुन्दर दास, नागरी प्रचारिणी सभा काशी, सं. 2030, पृ. 4967.

प्रकार हैं :-

(1) संयोग, (2) मेल, (3) साथ रहना, (4) पूर्ण करने के लिये दिया जानेवाला छंद का अंति चरण या चरणांश (5) कठिन विषय, (6) टेढ़ा मसला, तथा (7) जटिल प्रश्न ।[×]

यद्यपि इसके समस्त अर्थ पूर्व कोशकारों द्वारा दिये जाने वाले अर्थों का लगभग पिष्ट-पेषण है, फिर भी पाँचवें, छठे तथा सातवें अर्थों के सम्बन्ध में विचार किया जा सकता है । मूल रूप से तीनों ही अर्थ पर्याय हैं अस्तु देखना यह है कि जब हम कठिन, टेढ़ा या जटिल शब्द का प्रयोग करतें हैं तब हमारी मानसिक स्थिति क्या होती है ? शब्दों के सभी अर्थ अन्ततोगत्वा मानसिक स्थितियों का ही तो बोध करातें हैं । कठिन, टेढ़ा और जटिल शब्दों में कठिन सीधे-सीधे सापेक्ष्य सामर्थ्य की अभिव्यक्ति है, टेढ़ा शब्द वक्रता का बोधक है जो ऋजुता की अपेक्षा रखता है । अशुद्धता की आकांक्षा न्यूनता का अचेतन स्वीकार है, यही स्थिति जटिलता के साथ भी है । " जटिल" का एक अर्थ जहाँ जटाधारी होता है वहीं उसका दूसरा अर्थ "अगम्य" भी होता है[2] पहला अर्थ प्रतीकात्मक है तथा दूसरा शक्ति अथवा सामर्थ्य की न्यूनता की ऋजोभिव्यक्ति ।

(5) मानक अंग्रेजी हिन्दी कोश :-

हिन्दी शब्द समस्या का समानार्थक शब्द अंग्रेजी में "प्रॉब्लम स्वीकार किया जाता है ।[3] मानक अंग्रेजी हिन्दी कोश में प्रॉब्लम शब्द के छः अर्थ दिये गये हैं जो इस प्रकार हैं :-

(1) समस्या, (2) उलझन, कठिन प्रश्न,
(2) पहेली, दुर्बोध बात, उलझन,
(3) निर्मेय । रेखागणित के अन्तर्गत ।

× वृहत हिन्दी कोश, सं. कालिका प्रसाद, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, बनारस, सं. 2009, पृ. 1371.

2. संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ, पृ. 447.

3. नालान्दा विशाल शब्द सागर, पृ. 1407.

(4) समस्या, प्रश्न (तर्क शास्त्र के अन्तर्गत (
(5) प्रश्न, सवाल (भौतिकी तथा गणित के अन्तर्गत (तथा
(6) मोहरों का नक्शा या व्यूह, पहेलिका (शतरंज खेल के अन्तर्गत (×

कहना अनुपयुक्त न होगा कि द्वितीय तथा छठे अर्थ के सम्बन्ध में जहाँ बोध की न्यूनता यानी अभाव है वहीं दूसरे में अपनी गति के लिये मार्ग की खोज स्पष्ट झलकती है । प्रत्येक खोज का वर्तमान संदर्भ अभाव के गर्त में ही होता है ।

(6) बृहत् अंग्रेजी-हिन्दी कोश :-

इस कोशान्तर्गत भी अंग्रेजी शब्द प्रॉब्लम के आठ अर्थ दिये गये है जो इस प्रकार हैं :-

(1) प्रश्न, (2) समस्या, (3) संदिग्ध प्रश्न, (4) विवाद विषय (5) धर्म संकट, (6) उलझन, (7) निर्मेय (रेखागणित के अन्तर्गत तथा (8) मोहरों का व्यूह (शतरंज के अन्तर्गत ([2]

अर्थ संख्या तीन, चार और पाँच के अतिरिक्त शेष सभी पुनरावृत्तियाँ हैं । जहाँ तक अर्थ संख्या तीन, चार और पाँच का सम्बन्ध है कहा जा सकता है कि संदिग्ध प्रश्न का अर्थ है निश्चयात्मकता का अभाव; विवाद उस समय ही उत्पन्न होता है जब बुद्धि की सम्यक्ता में शैथिल्य आ जाता है, इसलिये बुद्धि की सम्यक्ता अर्थात् ठीक समझ का अभाव; धर्म संकट की स्थिति यानी द्वन्द्वात्मकता की अवस्था जिसके मूल में निश्चयत्मकता का अभाव होता है । निष्कर्ष यह कि अब तक अवलोकित समस्यार्थों में अभावत्मक स्थिति की ही प्रधानता पाई जाती है ।

× मानक अंग्रेजी हिन्दी कोश, सत्य प्रकाश, बलभद्र प्रकाश मिश्र, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, 1971, पृ. 1071.
2. बृहत् अंग्रेजी-हिन्दी कोश, डॉ. हरदेव बाहरी, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, 1969, पृ. 1443.

(7) :A SANSKRIT ENGLISH DICTIONARY:

संस्कृत -अंग्रेजी कोश के अन्तर्गत समस्या शब्द का अर्थ करते हुये कोशकार लिखता है :-

"to be thrown or put together or compounded or combined, to be made entire or complete. 1

स्पष्ट हो इस कोशगत अर्थ में अभावात्मक स्थिति ही प्रधान है । इस संदर्भ में अब हम कतिपय अन्य अंग्रेजी कोशों का अवलोकन करेंगे ।

(8) :NEW STANDARD DICTIONARY OF THE ENGLISH LANGUAGE:

इस कोश में अंग्रेजी के प्रॉब्लम शब्द की व्युत्पत्ति लैटिन एवं ग्रीक भाषा के प्राब्लेमा (Problema) शब्द से बताई गई है जिसका निर्माण " प्रो " (PRO) + बैलो (BALLO) शब्दों के संयोग से हुआ है । " प्रो" का अर्थ है आगे (Before) तथा बैलो का अर्थ है फेंकना - (Throw) इसप्रकार प्रॉब्लम शब्द का अर्थ हुआ आगे फेंकना । ×

समस्या शब्द का अर्थ प्रस्तुत करते हुये कोशकार लिखता है :-

" A question for discussion and settlement, a matter of uncertainity requiring further light to determine the truth, especially when difficult or uncertain of solution" 2

कोशकार एक अन्य अर्थ इन शब्दों में व्यक्त करता है :-

" Something proposed to be done, a position in which some operation or construction is required as to bisect an angle, also, the demonstration showing how the task is to be accomplished" 3.

1. Sanskrit English Dictionary: Sir Monier Williams, Clarendon Press - Oxford Second Edn., 1956 - page-1158.
2. New Standard Dictionary of the English Language - Funk and Wagnalls - Page-1974
3. Ibid - Page.1974.

उपर्युक्त अर्थों का अवलोकन करने पर उनमें अभावात्मक स्थिति स्पष्ट दिखाई पड़तो है । कहा जा सकता है कि इन अर्थों में ऐसा कुछ भो नहों है जिसका उल्लेख किसो विशेषता को इंगित करने के लिये किया जाय ।

[9] The Illustrated Heritage Dictionary and Information Book:

उपर्युक्त ग्रन्थ में प्रॉब्लम शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हुये कहा गया है कि " समस्या" एक प्रश्न अथवा स्थिति है जो अनिश्चितता, उलझन अथवा कठिनाई को प्रस्तुत करतो है । [x] प्रस्तुत परिभाषा में समस्या को एक प्रश्न, जिसमें जिज्ञासा यानो ~~अबोध~~ बोध का अभाव रहता है, अथवा एक स्थिति अर्थात् कुछ हो चुकने के बाद को अवस्था के रूप में स्वोकारते हुये उसके तोन संभाव त गुणों या लक्षणों को संकेतित किया गया है । अनिश्चितता, उलझन एवं कठिनाई ये तोनो हो गुण अपने आप में अभावों को हो प्रकट करते हैं ।

[10] The Random House Dictionary of the English Language:

इस कोश में प्रॉब्लम के निम्नलिखित अर्थ दिये गये हैं :-

i) Any question or matter involving doubt, uncertainity or difficulty.
ii) A question proposed for solution or discussion.
iii) Math:- a statement requiring a solution usually by means of a mathemetical operation or geometric construction.
iv) difficult to train or guide unruly.
v) Literature:- Dealing with choices of action difficult either for an individual or for society at large.

(The Random House Dictionary of the English Language: Jess Stein, The Tulsi Shah Enterprises, Bombay-1970 page-1146).

(x) "A question or situation that presents uncertainity, perplexity or difficulty". The Illustrated Heritage Dictionary and Information Book: Houghton Mifflin Co. Boston - 1977. Page-1042.

सबसे पहले प्रोजेक्सन यानी प्रक्षेपण । समस्या के इस अर्थ से सिद्ध होता है कि समस्या अन्तर्जगत का वाह्य प्रतिबिम्ब है । जब भी प्रक्षेपण की स्थिति आती है उसका सम्बन्ध व्यक्ति से जुड़ना स्वाभाविक है , ऐसी स्थिति में यदि व्यक्ति अपेक्षाकृत जड़ जगत; अपेक्षाकृत शब्द का प्रयोग यहाँ पर इस दृष्टि से किया गया है क्योंकि जड़ और चेतन का अन्तर बड़ा ही सतही अन्तर है, इसके साथ ही शब्दों के मर्म में उतरने के लिये आवश्यक है कि सतह पर उठते आवृत्तों से सावधान रहा जाय; के सम्बन्ध में भी विचार करता है तो उसमें उसकी मन: स्थिति शामिल हो ही जाती है ।

(2) जहाँ तक प्रोटेक्टिंगवाल अर्थात् रक्षा प्राचीर का संबंध है वाह्य स्तर पर यह कुछ विचित्र -सा प्रतीत होता है किन्तु विचार करने पर अद्भुत् अर्थवत्ता से युक्त लगने लगता है । हमारे अभाव जहाँ हमारे सम्मुख चुनौतियों के रूप में उभरते हैं, शक्ति क्रीड़ा के लिये अनन्त, अप्रमेय प्रांगण प्रस्तुत करते हैं वहीं उनका समस्यात्मक रूप जीवन के चारो ओर एक रक्षा भित्ति या प्राचीर का निर्माण भी करते हैं । जीवन के लिये शक्ति के संकलन की आवश्यकता होती है, विखराव की नहीं । समस्या का रक्षा-भित्ति का स्वरूप एक ऐसी प्राचीर का निर्माण करता है जो जिजीविषा को विखरने नहीं देती । यहाँ पर हमारा कथन बहुत संभव है कुछ विरोधाभास से युक्त प्रतीत हो किन्तु इसमें कितना तथ्य है इसे हम डॉ. ऐसेन्थ पीट्री के उस कथन से प्रमाणित करना चाहेंगे जो उन्हों ने पीड़ा के सम्बन्ध में कहा है । उनका मत है कि :-

> " हमें सुख की आवश्यकता इसलिये होती है क्योंकि हमारी रचना उसकी कामना के लिये की गयी है किन्तु जैविक सुरक्षा के लिये हमें पीड़ा की आवश्यकता है । " ×

× "We need pleasure only because we are built to desire it, whereas we need pain for biological survival". Dr. Asenth Petrie:Pain- The Encyclopedia of Mental Health Vol.IV - Albert Deutsch, Franklin Watts - Incorporation New York-1963 - Page.1386.

विचारणीय है कि यदि व्यक्ति को पीड़ा की अनुभूति शेष हो जाय तो सुख का आधार क्या होगा ? यह भी विचारणीय है कि यदि प्र पीड़ा की अनुभूति समाप्त हो जाय तो क्या एक माता अपने शिशु को उस पीड़ा का अनुभव कर सकेगी जो उसे एकाएक शीतलता या उष्णता के सम्पर्क से होती है ? निश्चित रूप से पीड़ा का अस्तित्व जिस प्रकार जीवन के लिये आवश्यक है उसी प्रकार समस्या का अस्तित्व भी जीवन की सुरक्षा के लिये आवश्यक है । अभावों का एक दिशा विशेष में केन्द्रियकरण चिन्तन की ऊर्जा को अभिकेन्द्रित होने का अवसर प्रदान करता है । इसप्रकार समस्या जीवन के चारो ओर सुरक्षा प्राचीर का निर्माण करती है । कदाचित यहाँ पर प्रश्न उठ सकता है कि जब यह प्राचीर चारो ओर है तो निकास के लिये मार्ग कहाँ ? प्राचीर निर्माण से तात्पर्य समाधि से नहीं है । प्राचीर के अन्दर जीवन है अस्तु वातायनों गवाक्षों तथा द्वारों के लिये प्रभूत स्थान है । इसके साथ ही जीवन का वैचारिक विकास प्र ऊर्ध्व होता है ।

बहाना या बचाव का साधन बहुत कुछ उसी प्रकार का है जैसा कि रक्षा प्राचीर ।

चौथे अर्थ पर हम गत पृष्ठों में विचार कर चुके हैं ।

पाँचवें, छठे, सातवें तथा आठवें अर्थों के सम्बन्ध में इतना ही कहा जा सकता है कि ये किसी न किसी रूप में अभावों की ओर ही इंगित करते हैं । वस्तुत: अभावों की कुक्षि से समस्या का जन्म होता है ।

अब तक हमने बारह कोणों में समस्या के अर्थान्वेषण का प्रयास किया जिसके आधार पर " समस्या" विवेचन की जो रेखायें उभरी हैं उन्हें इस प्रकार अंकित किया जा सकता है :-

(1) समस्या का जन्म अभाव से होता है । अभाव का बोध भाव के समानान्तर एवं साथ-साथ ही होता है ।

(2) समस्या की प्र उपस्थिति का बोध व्यक्ति को उलझन,

कोशगत उपर्युक्त अर्थों में भी कोई नवीनता नहीं है इसलिये इनको पुन: व्याख्या मात्र पिष्टपेषण होगी ।

(11) Longman Modern English Dictionary:

इस शब्दकोश में भी प्रॉब्लम शब्द को लेकर चार अर्थों को प्रस्तुत किया गया है जो इस प्रकार हैं :-

(1) एक प्रश्न जिसका उत्तर पाना या तो संदेहास्पद हो या फिर कठिन ।

(2) वाद-विवाद अथवा विचार के लिये प्रश्न ।

(3) एक ऐसा विषय जो चिन्ता अथवा उलझन उत्पन्न करे ।

(4) गणित के क्षेत्र में - एक वक्तव्य कि क्या - क्या किया जाना चाहिये । ×

उपर्युक्त अर्थों में कोई नवीनता नहीं पायी जाती है ।

(12) Webster's Third New International Dictionary:

प्रस्तुत कोश में प्रॉब्लम शब्द के आठ अर्थ दिये गये हैं :-

(i) Projection; (ii) Protecting Wall; (iii) Excuse;
(iv) to throw forward, put forward; (v) Formal Public disputation based on a question proposed for academic discussion;
(vi) A question raised or to be raised for inquiry, consideration, discussion, decision or solution;
(vii) An unsettled matter demanding solution or decision and requiring usually considerable thought or skill for its proper solution or decision;
(viii) Something that is source of usually considerable difficulty, perplexity or worry.

(Webster's third New International Dictionary; Philip Babcock Gove and The Merrian Webster's Editorial Staff; G-Bell & Sons, London 1961 - Page-1807.)

× (i) A question whose answer is doubtful or difficult to find;
(ii) A question for discussion or consideration;

(iii) A matter that causes worry or perplexity;
(iv) Math: a statement of what has to be done.
Longman Modern English Dictionary: Owen Watson - p.890.

अनिश्चितता तथा कठिनाई से होता है ।

(3) समस्या व्यक्ति को विचार करने पर वाध्य करती है । अर्थात् उसे विचारवान या विचारशील बना देती है । कहा यह भी जा सकता है कि निरन्तर समस्याओं से जूझते-जूझते व्यक्ति की विचार क्षमता बढ़ जाती है और इस प्रकार उसे अपनी उस विशाल शक्ति का बोध होता है जिससे वह पहले परिचित नहीं भी हो सकता है ।

(4) समस्या अन्तर्मन की रिक्तता की वाह्याभिव्यक्ति होती है ।

(5) समस्या व्यक्ति जीवन में सुरक्षा-प्रचेरेर की भी भूमिका का निर्वहण करती है ।

समस्या के उपर्युक्त पाँच लक्षणों के आधार पर समस्या के किसी रूप को स्थिर करने से पूर्व एक महत्वपूर्ण बात यह है कि अभावों से जन्मी समस्या के कारण व्यक्ति जीवन में अपने आप को उलझनों अनिश्चितताओं एवं कठिनाइयों से घिरा हुआ पाता है तथा इनसे मुक्त होने का प्रयास करता है । समस्याओं से घिरे व्यक्ति का प्रमुख उद्देश्य इनसे मुक्ति पाना ही होता है । अभाव का जन्म चूँकि जीवन के साथ ही होता है इसलिये किसी भी स्तर पर व्यक्ति अपने आप को इस स्थिति में अनुभव नहीं करता कि वह अपने आप को समस्याओं से मुक्त कह सके । एक पूर्ति के साथ ही दूसरे अभाव झाँकने लगते हैं अस्तु आश्चर्य नहीं यदि आज का युग ही समस्याओं का युग कहा जाय । प्रसिद्ध समाजशास्त्री जान. एम. गिलेती एवं जेम्स. एम. रेहर्ट ने समस्या के बहु आयामी अर्थों की ओर संकेत एवं उसके प्रयोग की पुनरावृत्तियों पर कटाक्ष करते हुये इस युग को समस्याओं का युग कहा है । परन्तु साथ ही कठिनाई तथा उससे मुक्ति के प्रयास को इसका प्रमुख गुण माना है ।[×]

× John M. Gillette & James M. Reinhardt, Current Social Problems, American Book Co. Chicago, USA, 1937, P.3.

2.1.2. कोशों को सहायता से हमने समस्या शब्द के अर्थ को लेकर उसको एक साधरण सो रूप-रेखा प्रस्तुत करने का प्रयास किया है । परिभाषा को बात में जल्छो सोच भो नहीं पाता हूँ क्योंकि भाषा को परिधि के अन्तर्गत विचार को पूरो तौर कभो भी बाँधा नहीं जा सकता । जब भो भाषा के घेरे में कुछ समेटने का प्रयास किया जाता है वह छिटक कर दूर हो जाता है । और हम अपने हाथों को उँगलियों से निर्मित चोल-बिलौंटों को देखकर कभो अपनो सफलता पर गर्व करने लगते हैं और कभो असफलता पर अछता-पछता कर नूतन प्रयासों का आयोजन करने लगते हैं । उपर्युक्त स्थिति को कल्पना मेरे मानस में उस अवस्था को है जब विचार को पूर्णता अथवा परिपक्वता हमारे पास हो । अभो तो हम समस्या पर विचार भो नहीं कर पाये हैं अस्तु यदि इतने पृष्ठों से गुजर जाने के पश्चात् भो हम समस्या को परिभाषित नहीं कर सके तो उसे मेरो सोमा के रूप में हो स्वोकार किया जाना चाहिये । साथ हो अब जो विन्दु हमारे समक्ष उभरता है वह है समस्या पर विचार का । शब्दों के ढाँचों पर इतना तो आभास होता है कि अन्तर में कहीं अर्थों का तार भो होना चाहिये और विशेष कर इसलिये भो क्योंकि अन्ततः प्रत्येक शब्द का जन्म अर्थ को कुक्षि से हो होता है और प्रत्येक अर्थ जोवन को धारा से हो अचानक उगता है । अर्थों के उगने को बात ठोक वैसो हो है जैसे किसो डाल पर, उसके अन्दर बहतो रस धारा कोंपल बन कर फूट पड़े । फूटने या उगने को क्रिया इतनो क्षणिक होतो है कि उसे क्षण को संज्ञा से भो सम्यक् रूप से नामांकित नहीं किया जा सकता । मानवोय दृष्टि में इस फूटने को क्रिया से उसका दर्शन हो सकता है किन्तु उस क्रिया विशेष के सम्बन्ध में इससे कुछ भो ज्ञात नहीं होता जो सातत्य का अगला क्रम होतो है । जब प्रत्येक अर्थ मानवोय तल से उगता है तो समस्या को लेकर भो इसो मानवोय व्यवहार और उसके मध्य के विन्दु पर से हो विचार आरम्भ होनाचाहिये । शब्द और उसके अर्थ को लेकर जो प्रमुख रूप से हमने देखा वह था समस्या के मूल में अभाव को स्थिति का होना । क्या मात्र अभाव को हम

समस्या को संज्ञा दे सकते हैं ? क्या अभाव और समस्या दोनों पर्यायवाची हैं ? यदि अभाव ही समस्या है तो उसे पूर्ण किया जा सकता है । मान लीजिये कोई व्यक्ति प्यास अनुभव करता है तो इससे सिद्ध यह होता है कि उसके शरीर में जल का अभाव है जिसकी पूर्ति वह पानी पीकर कर सकता है अस्तु इस स्थिति को समस्या नहीं कहा जा सकता । जैविक तंत्र के अभावों को मानसिक अनुभूति से अभावों का बोध होता है । अन्तोर्जा की अभिव्यक्ति के लिये यदि प्राथमिक शर्त के रूप में कुछ हो सकता है तो वह है - अवकाश । जीवन के सूक्ष्म स्तर पर स्थान यानी स्पेश की यह अभिव्यक्ति इच्छा के रूप में प्रकट होती है ।

मनोवैज्ञानिक विधि से विचार करने पर जीवन के सम्बन्ध में जो बात प्रमुख रूप से स्पष्ट होती है वह यह कि जीवन ऊर्जा की शाश्वत सत्ता की अभिव्यक्ति है[X] जिसका व्यक्त रूप, जिसे व्यक्ति जीवन में सतत अनुभव किया करता है, इच्छा है । अस्तु इच्छा ही वह जीवनोर्जा है जो सतत रूप से सुखों की उपलब्धि एवं दुख के निराकरण एवं बचाव में लगी रहती है ।[2] प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक फ्रायड ने इसे सुख सिद्धान्त के अंतर्गत माना है । उनका यह मत है कि मात्र सुख सिद्धान्त ही जीवन के उद्देश्य और कार्यक्रम को निर्धारित करता है[3] हमारे पूर्व कथन की पुष्टि करता है ।

सुख की खोज में व्यस्त इच्छाओं की वास्तविकता से व्यक्ति प्राय: अपरिचित ही रहता है । चेतना के स्तर पर उभरनेवाली इच्छाओं से सन्तोष का अनुभव होता ही नहीं । इससे यह भी निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सम्भवत: व्यक्ति अपनी मूल या वास्तविक इच्छाओं से परिचित नहीं होता ।[4]

X. "Energy is the only life and is from the Body--Energy is eternal Delight". - William Blake "The Marriage of Heaven & Hell - Blake W. The Portable Blake-Ed. A. Kazin, New York -1953.

2. Desire as energy directed towards the procurement of pleasure & avoidence of pain"_Brown Norman.O, Life against Death - Page-20.

3. It is simply the pleasure principle which draws up the programme of Life's purpose. Freud.S. Civilization & Its Discontents, International Psycho Analytical Library, E.Jones London-1930- Page-27.

4. "Men are not satisfied by the satisfaction of their conscious desires: men are unconscious of their real desires - Brown N.O. Life against Death - page-27.

ऊर्जा को इच्छा के रूप में अभिव्यक्ति व्यक्ति के निकट जीवन की महानतम घटना है। जानने का प्रत्येक प्रयास जानने की समस्त क्षमता के सामने एक चुनौती है। जब भी उसे एक रूप में जाना जाता है तो उसका दूसरा रूप समस्त जानकारी का उपहास-सा करता प्रतीत होता है। फ्रायड ने मनोविश्लेषण के आधार पर जिसे "लिबिडो", "एरोस", या कामुकता की संज्ञा दी है उसे अत्यंत संकुचित अर्थों में ही ग्रहण किया गया। × इसी संदर्भ में मनोवैज्ञानिक के. लेविन का यह कथन भी काफी महत्वपूर्ण है :-

" How can one reach this goal? At first, in what might be called "speculative epoch", the attempt was made to dig down deep in to the ground. A peculier something was reported to lie under ground as a hidden source of energy one gave it the name "association". New investigators drove their shafts down at some what different places. They found something different which they called "instinct". A third group of explorers reported a different entity, "libido". And all claimed to have found the foundation on which the land rested.

(Kurt Lewin, Formalization and Progress in Psychology; The theories of personality, primary sources and Research, Edt. Gardner Lindzey, Calvin.S. Hall and Martin Manosevitz, John wiley & Sons Incorporation, New York - Page-142.)

मनोवैज्ञानिक विचार धाराओं के कतिपय आलोक विन्दुओं के प्रकाश में हम इस तथ्य से आगे नहीं बढ़ पाते कि जीवन को चारों ओर से आवृत्त करने वाला कोई महाशून्य है जिसे भरने का प्रत्येक प्रयास ऊर्जा और गति का संकेत तो है किन्तु पूर्णता की स्थिति का आभास नहीं। इसके साथ ही अभाव मात्र को समस्या के रूप में निर्भ्रान्त रूप से नहीं स्वीकारा जा सकता। समस्या को लेकर दो बातें ही अभी तक सिद्ध हो सकी हैं पहली यह कि --

X. Freud's definition of the sexual instinct shows that he means something very general. It is the energy or desire with which the human being pursues pleasure, with the further specification that the pleasure sought is the pleasurable activity of an organ of the human body" - Brown N. Life Against Death - Page-34.

कुछ ऐसा है जो प्राप्य है तथा दूसरी यह कि कुछ ऐसा भी है जो उस प्राप्य तक पहुँचने में बाधक हो रहा है । इस अवरोधक बिन्दु पर ही संघर्ष की तीव्रता का अनुभव होता है प्रयासों की आकुलतापूर्ण छटपटाहट पूर्ण जिजीविषा के साथ स्तर पर उभरती दृष्टिगत होती है । अगम्यता के तल पर यही समस्या की जन्मस्थली है ।

उपर्युक्त कथन पर विचार करने से दो के स्थान पर एक तीसरा तत्व भी उभरता है वह है कर्ता । यानी प्राप्त करने वाला तथा प्राप्य एवं अवरोध । अवरोध की स्थिति के साधारणत: दो सम्भावित कारण हो सकते हैं पहला कारण कि हम अपने अवरोध बन जायँ और हमें अपनी वास्तविकता का बोध हो न हो और खोज जारी रहे । खोज यात्रा है और लगातार यात्रा में रहते हुये विश्राम की आकांक्षा क्लान्ति की सूचना है । दूसरी स्थिति तब संभव है जब दूसरे भी उसी प्राप्य के लिये प्रयत्न कर रहें हों जिसें हम अपना प्राप्य मानते हैं । इस स्थिति में भी संघर्ष का जन्म होता है, स्वार्थों की टकराहट सुनाई पड़ती है और सफलता के जयनादों के साथ-साथ असफलताओं की आहत वाणी भी घुटती - सिसकती हुयी धीरे-धीरे पंगु प्रयासों के सहारे घिसटती दिखाई पड़ती है ।

2.1.3. यात्रा-प्रसंगों के मध्य सहज ही जिसका निर्माण हो जाता है - वह संसार है । संतुलित और सीमित शब्दावली में इसे समाज कह सकते हैं । समाज विभिन्न निर्मितियों का समूह होता है । प्रत्येक का अपना क्षेत्र है और ये सभी एक दूसरे से टकराते प्रतीत होते हैं । प्रत्येक क्षेत्र जिसे हम अपनी सुविधा के लिये इकाई मान लेते हैं दूसरी निकटवर्ती इकाई में समाजाने के लिये आकुल प्रतीत होता है । वह उस निकटवर्ती इकाई के वाह्य धरातल से ठीक उसी तरह प्रभावित होता है जिस प्रकार सूर्य से धरती की ओर चलती हुयी प्रकाश किरण किसी निकटवर्ती ग्रह के कारण उसकी ओर झुक जाय ।

डॉ. ब्राउन ने मानवीय इच्छा को लेकर कहा था कि, " मानव की सुख की आकांक्षा समस्त संसार के साथ संघर्ष रत है । "×

संघर्ष का मूल कारण अन्य वास्तविकतायें हैं । जीवन में जहाँ आनन्द की खोज प्रमुख है मुख्य है, जिसके लिये चर्च के विचारकों ने भी ऐसे अमरत्व की कल्पना की जो मानव के अन्दर शाश्वत रूप से निवास करता है [2] वहीं अन्य स्थितियाँ भी एक वास्तविकता हैं जिन्हें मनोवैज्ञानिकों ने वास्तविकता कहा है । सामाजिकता के इस संदर्भ पर विचार करते हुये डॉ. ब्राउन कहते हैं, " समाज का सत्व व्यक्ति को दबाने में है जबकि व्यक्ति का सत्व अपने आप को दबाने में ।" [3] दबाव की इस प्रक्रिया में जो विक्षोभ उत्पन्न होता है वह संघर्ष का प्रत्यक्ष कारण तो हो सकता है किन्तु उसमें मानवीय आकांक्षायें नष्ट नहीं होतीं ।[4] वे तो सतत जीवित रहतीं हैं यही शाश्वत्ता उनका अमरत्व है । वे जन्म के साथ ही अपना प्रकट प्रच्छन्न अस्तित्व ग्रहण करतीं हैं तथा निरन्तर जीवन के समानान्तर अस्तित्व के सत्व के रूप में उपस्थित रहतीं हैं । उर्वशी कार के मानस में समस्या का यह रूप"उर्वशी" की इन पंक्तियों में स्पष्ट देखा जा सकता है :-

" झुके हुये हम धनुष मात्र हैं, तनी हुयी ज्या पर से
किसी और की इच्छाओं के बाण चला करते हैं ।
मैं मनुष्य कामना वायु मेरे भीतर बहती है
कभी मन्द गति से प्राणों में सिहरन पुलक जगाकर;
कभी डालियों को मरोड़ झंझा की दारुण गति से
मन की का दीपक बुझा, बनाकर तिमिराच्छन्न हृदय को ।

× .....Man's desire for happiness is in conflict with the whole world. Brown N.O. Life Against Death - page-20.
2. Ibid - Page-36.
3. Ibid - Page-16.
4. ------Frustration of the reality cannot destroy the desire which are the essence of our being - Ibid- Page-20.

" किन्तु पुरुष क्या कभी मानता है तम के शासन को ?
फिर होता संघर्ष, तिमिर में दीपक फिर जलते हैं । "×

समाज से पृथक व्यक्ति की कल्पना अर्थ हीन है । तर्क के लिये यह स्वीकार किया जा सकता कि व्यक्ति समाज की इकाई है तथा व्यक्ति ने ही समाज की रचना की है । तथ्य यह है समाज आज जिस रूप में हमारे सामने है उस रूप में वह व्यक्ति की रचना है किन्तु जीवन की आ प्रत्यूष बेला में जहाँ कहीं भी मानव जीवन ने पहली अंगड़ाई ली होगी, जहाँ कहीं भी उसने प्रथम नेत्रोन्मीलन किया होगा, जहाँ कहीं भी उसकी कुलबुलाहट की पहली हलचल का स्पंदन विराट की वीणा के तारों से निसृत स्वर की प्रथम लहरी बन कर गूँजा होगा वही उसका समाज रहा होगा । समाज एक परिवेश है जो समान रूप से हमें चारों ओर से आवृत्त किये रहता है । संकुचित अर्थों में वह समान जीवधारियों का समूह हो सकता है किन्तु व्यापकता में उसकी व्याप्ति अनन्त होती है । ऐसी स्थिति में द्वैत की स्थिति निर्विवाद रूप से स्वीकृत हो सकती है । द्वैत का भाव ही द्वन्द्वों का जनक है । द्वन्द्व यानी संघर्ष अर्थात् एक टकराव । द्वैत का भाव ही व्यक्ति को उसके अभावों का बोध कराता है । द्वैत जगत् में रहकर ही अभावों की पूर्ति संभव है । जब तक जीवन और जगत का विचार जीवित रहेगा अभावों का बोध भी शेष रहेगा ही और उसके साथ ही घूमते रहेंगे समस्याओं के वृत्त । यहाँ पर एक बात और स्पष्ट कहना चाहूँगा कि अब तक के कथन से कदाचित यह समझा जा सकता है कि समस्या के केन्द्र में वह अभाव होता है जिसकी पूर्ति का प्रयास एवं प्रयास जनित संघर्ष समस्या की अवधारणा के प्रति सीधे-सीधे उत्तरदायी हैं ; किन्तु वास्तविकता ऐसी नहीं है, वास्तविक रूप से समस्या के आवृत्तों के केन्द्र के रूप में अभाव नहीं व्यक्ति स्वयं होता है जिसके चारों ओर अम्बर सा उसका अभाव छाया रहता है । अम्बर यानी आकाश अर्थात् विराट् शून्य । इस अभाव की संवृत्तियों में ही भावों के बोध उगते हैं और प्रयत्नों की गतिशीलता विभिन्न लयों और तालों में मुखर होकर संघर्ष संगीत का सृजन करती है ।

× रामधारी सिंह दिनकर, उर्वशी, पृ. 34.

उपरिलिखित बातों से यह निष्कर्ष सरलता से निकाला जा सकता है कि समस्या का अनुभव जहाँ मुख्य रूप से मानसिक होता है वहीं उसका एक महत्वपूर्ण फलक उसकी सामाजिकता भी होती है । सीमित दायरों में बैठकर सोचती हुयी मानवीय मेधा उसके व्यक्तिगत, सामाजिक, सांस्कृतिक, वैज्ञानिक मनोवैज्ञानिक आदि भेद किया करती है, जो वस्तुत: चिन्तन के ही विभिन्न आयाम तथा दृष्टिकोण हैं ।

समस्या का सामाजिक संदर्भ :-

समस्या के सामाजिक पक्ष पर विचार करते हुये जॉन. एम . गिलेती तथा जेम्स. एम. रेनहर्ट जैसे समाजशास्त्रियों ने लिखा है कि :-

" सामाजिक समस्या एक ऐसी स्थिति है, जिसके प्राकट्य के लिये कोई एक व्यक्ति या कुछ व्यक्ति उत्तरदायी नहीं होते, जिसके परिणाम अधिकांश व्यक्तियों के लिये हानिकर हो सकते है, तथा जिसका निराकरण अथवा नियंत्रण पूर्णरूपेण एक व्यक्ति या कुछ व्यक्तियों की सामर्थ्य से परे होता है । " ×

परिभाषा से निष्कर्ष निकलता है कि -

(1) समस्या (सामाजिक रूप में) एक स्थिति विशेष है ।

(2) इसके परिणाम अधिकांश व्यक्तियों के लिये हानिकर हो सकते हैं ।

(3) इसके जन्म के लिये कोई एक व्यक्ति अथवा कुछ व्यक्तियों का समूह उत्तरदायी नहीं होता ।

(4) इसका नियंत्रण यद्यपि आपेक्षित है किन्तु वह पूरी तौर पर एक व्यक्ति या कतिपय व्यक्तियों की सामर्थ्य से परे होता है ।

× "A social problem is a situation for the appearance of which no one individual or a few individuals are responsible, which threatens injurious results for many persons and removal or control of which is completely beyond the ability of one person or few individuals". John.M.Gillette and James M. Reinhardt: Current Social Problems - Page-4

****

[illegible]

समस्या को एक व्यापक क्षितिज पर प्रस्तुत करके उसमें अमूर्तता को धारणा का समावेश उसके अस्तित्व को प्रचंडता का परिचय तो देता है किन्तु उत्स को ओर कोई संकेत नहीं करता जहाँ से इसका जन्म होता है । यद्यपि इन दोनों समाजशास्त्रियों ने भी संघर्ष को समस्या के मूल रूप में स्वीकार किया है× किन्तु समाजशास्त्री दृष्टिकोण को सीमा उस स्थिति को कल्पना सरलता से कर लेती है जब इनका अस्तित्व न रहा होगा । यहाँ पर प्रमुख रूप से विचारणीय है कि अस्तित्व से सामान्य जन का तात्पर्य उस स्थिति से ही होता है जिसे वह प्रत्यक्ष देख-सुन सकता है; जिसका अनुभव उसे उसकी ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा सुलभ हो सकता है । ज्ञानेन्द्रियों के परे सामान्यजन, जिनके अन्तर्गत वैज्ञानिक, तथा समाजशास्त्री भी आते हैं, इसके साथ ही जब मैं ज्ञानेन्द्रियाँ कह रहा हूँ तो मेरा अभिप्राय उस सूक्ष्म चिन्तन से नहीं है जिसका कोई आधार प्रकट रूप से सिद्ध नहीं किया जा सकता ; झाँकने का प्रयास नहीं करते । इतिहास के संदर्भ में उस काल की कल्पना सचमुच ही विचित्र है जब समस्या का अभाव रहा होगा ।[2] समस्त संगठनों का जन्म मूलत: समस्या का फलित समाधान है । अस्तु एक ओर समस्या का पूर्णत: अभाव मानना तथा दूसरी ओर संघ या समिति अथवा सम्बन्धों का उदयकाल स्वीकार करना अपने आप में विरोधाभासी वक्तव्य है । संघ या संबंध का उदय ही समस्या के निराकरण के लिये होता है । ऐसी स्थिति में इतिहास के किसी भी काल खण्ड में भी समस्या का अभाव स्वीकार करना एक बौद्धिक भ्रान्ति होगी । हम कह सकते हैं कि हमारी मेधा मानव इतिहास के ऐसे किसी भी काल-खण्ड से परिचित नहीं जिसमें समस्या का अभाव रहा हो ।

****

× "Something of the inherent nature of social problems is seen in viewing them as conflict between social interests and as mal-adjustment of social institutions and organisations - John M. Gillette and James.M. Reinhardt : Current Social Problems - Page-4.

2. Evidently there was a time in human history when they did not exist. That was at the very begining of human association when society, so vague undefined, and simple that problem conditions had not yet arisen" - Ibid - Page-8.

2.1.4. हम सिद्ध कर चुके हैं कि समस्या अस्तित्व को सहजात होती है । अब रहा प्रश्न उसके प्रकट होने का । सत्व के अस्तित्व ग्रहण करने के जो कारण हो सकते हैं वही कारण समस्या के जन्म का भी हो सकता है । सत्व की अभिव्यक्ति का नाम अस्तित्व है । अस्तित्व की अभिव्यक्ति है, गति की सापेक्षता है । चरम की अवतारणा है । शून्याम्बर में अत्यधिक गति से गुजरता हुआ यान अपने पीछे कम धुएँ की एक लकीर तो छोड़ ही जाता है किन्तु गति की चरमावस्था में ऐसा कुछ भी संभव नहीं है । गति जब अपेक्षाकृत कम होती है तो एक आकृति उभरने लगती है, व्यापक विरलता सघनीभूत हो रूपायित होने लगती है - यही अस्तित्व है । इस अस्तित्व के साथ ही द्वैत का जन्म और अनन्तता, अभाव एवं उसकी पूर्ति का प्रयास है । प्रयासों के विभिन्न आयाम समस्या बन कर उभरते हैं । वस्तुत: इस समूची प्रक्रिया में विकास प्रमुख प्रतीत होता है और विकास के मूल में गति प्रतीत होती है तथा गति के मूल में ऊर्जा का अखण्ड आधिपत्य स्पष्ट ज्ञात होता है । ऊर्जा का बहुआयामी विकास मूल रूप से एक होते हुये भी भिन्न प्रतीत होता है और इस भिन्नता को रूपायित सत्ता के वाहकों का अभाव - संदर्भित टकराव " समस्या" की अवधारणा का मूल है । ×

समस्या के + कोशगत अर्थों के प्रकाश में उसकी मनोवैज्ञानिक सामाजिक एवं दार्शनिक स्थितियों पर विचार करने के पश्चात् इसके महत्व पर भी कुछ विचार करना अप्रासांगिक न होगा । जिस प्रकार समस्या के अस्तित्व को नकारा नहीं जा सकता ठीक उसी प्रकार उसके महत्व को महत्वहीन कह कर टाला नहीं जा सकता । आज का व्यक्ति रात-दिन समस्याओं से जूझता रहता है । प्रत्येक व्यक्ति के निकट उसकी अपने ढंग की समस्यायें हैं जिनमें कुछ ऐसी भी हो सकती हैं जो उसकी नितान्त वैयक्तिक हों जिन्हें दूसरों के समक्ष प्रकट

× " समस्या समाज के परम्परागत मानदण्डों और व्यक्ति के बदलते हुये विचारों के बीच होने वाले टकराव से ही उत्पन्न होती है । " - डॉ. प्रमिला कपूर, विवाह सेक्स और प्रेम, अनु. मुनीश नारायण सक्सेना, राधाकृष्ण प्रकाशन दिल्ली, 1977 पृ. 286.

तक न करना चाहता हो , जिन्हें उसे एकान्त मौन रूप से जोना पड़ता हो, कुछ ऐसो भी हो सकतीं हैं जिन्हें वह व्यक्तियों के ~~प्रत्यक्ष~~ मध्य बाँट कर जोता हो, जिसका सम्बन्ध एक समूह विशेष के समस्त जनो से सोधा हो सकता है, और कुछ ऐसो भी हो सकतीं हैं जिन्हें एक बड़े स्तर पर एक जाति, समाज, देश, राष्ट्र अथवा फिर समूची मानवता एक साथ भोगती हो, अनुभव करती हो तथा उनसे मुक्त होने का उपाय खोजती हो । स्थिति या स्तर कुछ भी हो समस्या ~~से जूझता व्यक्ति और~~ के होने को नकारना संभव नहीं । समस्या से जूझता व्यक्ति और कुछ करे न करे उनसे मुक्त होने का प्रयास अवश्य करता है । समस्या को पूरी गहराई से जोता हुआ व्यक्ति भी उसमें रहना नहीं चाहता । वह उनसे मुक्त होने का प्रयास करता है । समस्या के कारण उसके चारो ओर छाया असंतोष उसे समाधान के लिये बाध्य करता है । समाधान की खोज में ही चिन्तन का अस्तित्व होता है । कहा जा सकता है कि " राहें सदा असंतोष से निकलतीं हैं । संतोष के गढ़ से कोई राह बाहर की ओर नहीं जाती । "× इस प्रकार हम देखते हैं कि समस्या नई-नई खोजों को जन्म देती है उससे विकास के नये क्षितिज का निर्माण होता है । निर्माण प्रक्रिया के घात -प्रतिघात काला-न्तर में कला संस्कृति और सभ्यता के जनक और वाहक सिद्ध होते हैं । समस्या का दूसरा महत्व सहयोग की भावना में देखा जा सकता है । हम कह चुके हैं कि समस्या अभाव की कुक्षि से उत्पन्न होती है । अभावों से एक भय का उदय होता है और भय सहयोग की प्रेरणा बनता है । सहयोग गहनतम् अनुभूति ही जहाँ एक ओर प्रेम बनकर प्रकट होती है वहीं दूसरी ओर इसका अभाव जीवन में युद्ध की विभीषिकाओं का सर्जक सिद्ध होता है ।

कला औ संस्कृति का जन्म तथा विकास भी समस्या की मौन मुखर अभिव्यक्ति है । जीवन के अभाव जब प्रत्यक्ष रूप से अपनी संतुष्टि नहीं कर पाते तो परोक्ष रूप से कला और कविता का आश्रय ग्रहण करते हैं । साहित्य सृजन की मूल प्रेरणा इस प्रकार यह समस्या ही सिद्ध होती है । आगामी अध्यायों

× डॉ. हरिवंश राय बच्चन, नीड़ का निर्माण फिर, राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली, 1973, पृ. 359.

में हम इसके मूल स्वरूप के साथ हो उसके उन स्वरूपों का भो अध्ययन - विवेचन करेंगे जो विभिन्न परिधानों में आवेष्ठित हो अपनो सत्ता को महनोयता क्षे का घोषणा पत्र पढ़ते दृष्टिगत होते हैं किन्तु उसके पूर्व हमें रचना को प्रक्रियाओं का अध्ययन विवेचन करने के साथ हो उर्वशोकार के भो जोवन तथा परिस्थितियों का लेखा - जोखा प्रस्तुत करना होगा क्योंकि हमारो विवेच्य " उर्वशो" को को अवधारणा उसके मानस से हो संभव हो सको है ।

खण्ड : दो

2.2. केन्द्रीय समस्या की तलाश में

2.2.1 काव्य रचना प्रक्रिया में

2.3. उर्वशी की रचना प्रक्रिया

केन्द्रीय समस्या की तलाश में

.....?

.....?.....

बर्कले मनोवैज्ञानिक अनुसन्धान .....?.....?.....?

के निदेशक एवं कैलीफोर्निया .....?.....?.....

विश्वविद्यालय के अनुसन्धान ....?.....?.....?.....

मनोवैज्ञानिक डॉ. फ्रैन्क बैरन .....?.....?.....?

का मत है कि - - - - - " मौलिक होने का अर्थ है किसी महत्वपूर्ण ढंग से भिन्न होना, कदचित परिवेश से भिन्नता का यह प्रयास साहस की अपेक्षा रखता है।" .....?.

"To be original means to be different in some important way, and sometimes it takes courage and daring to be different from those arround us".

Dr. Frank Barron - Creativity: The Encylopedia of Mental Health (Vol-II) Ed. Albert Deutsch: The Encylopedia of Mental Health : A division of Franklin Watts Inc. New York - 1963 - Page-397.

समस्या संदर्भ में काव्य की रचना प्रक्रिया

2.2. रस्सी पर लगी हुई यदि साधारण सी गाँठ भी खोलनी हो तो उसके सबसे पहली आवश्यकता है उस प्रक्रिया का अवलोकन जिसके द्वारा रस्सी पर गाँठ की रचना हुई। गाँठ की रचना मात्र इसलिये संभव हो सकी क्योंकि वह कहीं बाहर से आरोपित वस्तु नहीं है, वह रस्सी का ही एक रूप है। रस्सी पर लगी गाँठ से यह भी सिद्ध होता है कि इस गाँठ का लगानेवाला भी कोई होना चाहिये, अधिक स्पष्ट शब्दों में कोई व्यक्ति ही होना चाहिये। यहाँ पर एक और महत्वपूर्ण बात जिस पर विचार किया जा सकता है वह यह है कि -- रस्सी पर गाँठ रस्सी पर लगी हुयी यह गाँठ जहाँ कोई बाहरी वस्तु नहीं है वहीं न रस्सी स्वयं गाँठ है और न ही गाँठ स्वयं रस्सी है। यदि रस्सी स्वयं गाँठ होती तो प्रत्येक रस्सी एक गाँठ होनी चाहिये। अस्तु हम कह सकते हैं कि रस्सी पर लगी हुई गाँठ रस्सी का अभिन्न अंग होते हुये भी एक स्वतंत्र रचना है। यद्यपि उसका अस्तित्व रस्सी से से नितान्त स्वतन्त्र नहीं है हो सकता किन्तु स्वतन्त्र प्रतीत तो होता ही है। जो बात रस्सी के सम्बन्ध में कही जा सकती है वही बात रचना के संदर्भ में भी कही जा सकती है। रस्सी काऔर गाँठ का सम्बन्ध अभिन्न होते हुये भी भिन्न प्रतीत होता है क्योंकि गाँठ रस्सी की जटिलता की समग्रता है, रचना भी रचनाकार के मानस की जटिलता की समग्रता है। जटिलताओं के संव्यूहन में व्यक्ति की रचनाधर्मिता को समझे बिना किसी भी काव्य के समस्या संदर्भ में प्रवेश किया ही नहीं जा सकता। काव्य समस्या के अस्तित्व का संकेत तो देता है किन्तु उस मूल क्रिया की ओर पहुँचने के लिये, उसका निकटतम स्पर्श पाने के लिये रचना प्रक्रिया को समझना अनिवार्य है।

2.2.1 व्यक्ति मानस की रचना धर्मिता को लेकर विचार करते समय मनोविश्लेषक इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि " रचनाधर्मिता अस्तित्व में कुछ नया लाने की योग्यता है।"×

× "Creativity is the ability to bring something new into existence" - Dr. Frank Barron ; Creativity - The Encyclopedia of Mental Health (Vol-II) Ed. Albert Detush - Page-396.

"रच" धातु का अर्थ होता है क्रमबद्ध करना, प्रस्तुत करना, तैयार करना ।[×] धात्वर्थ को निष्पत्ति से जो निष्कर्ष सहज ही प्राप्त किया जा सकता है वह है - पहले से ही कुछ प्रस्तुत है जिसको क्रमबद्धता का नाम रचना है । रचना के क्षणों में फिर यह भी मानना होगा कि जो पहले से प्रस्तुत है वह क्रमबद्ध नहीं है । स्वरों की क्रमबद्धता से ही संगीत की सृष्टि होती है ; क्रम को विशृंखलता संगीत की लहरियों को शोर में परिवर्तित कर दिया करती है । इसके पूर्व कि हम रचना की प्रक्रिया पर विचार करें अधिक उपयुक्त इस बात पर विचार करना होगा कि क्या प्रत्येक व्यक्ति रचना क्षमता से युक्त होता है, तथा इस रचनाधर्मिता के गुण को लेकर व्यक्ति की अन्त: प्रक्रिया क्या होती है ? वस्तुत: वह कौन सा सम्भावित कारण हो सकता है जो व्यक्ति को सृजन के कार्य में प्रवृत्त करता है ? जहाँ तक पहले प्रश्न का सम्बन्ध है -- रचना की सम्भावनायें प्रत्येक व्यक्ति में विद्यमान रहती हैं[2] किन्तु वे प्रत्येक व्यक्ति में उभर कर सामने नहीं आतीं । कभी-कभी तो परिवेश की विवशता बचपन की उदीयमान सम्भावनाओं की हत्या तक कर देती है ।[3]

दूसरे प्रश्न को लेकर समय-समय पर पर्याप्त विचार किया गया है । रचना के मूल में जो आवश्यकता सम्बन्धी बात स्पष्ट समझ में आती है, वह है अभावात्मक स्थिति का प्रत्यक्ष स्वीकार । यदि कुछ अपने ऐसे रूप में हमारे सामने उपस्थित है, तथा उससे हमारा हमारे समय से सीधा तारतम्य बना हुआ है, जिसके उस रूप विशेष के कारण, हमारा समय की सातत्यता का भाव खण्डित

× संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ, पृ. 965.

2. The potential for creativity may remain in all of us - in terms of our own abilities and interest - throughout our lives" - Dr. Frank Barren - Creativity, Encyclopedia of Mental Health (Vol-II) Page-398.
3. "If we take candid look at most of the adult around us, we are forced to conclude either that many people do not have a desire to create or that whatever natural creativity they may have had as a children has been stifled in them - Ibid. Page-396.

नहीं होता, तो हमें न तो किसी अभाव का बोध होता है और न ही रचना की किसी आवश्यकता का अनुभव ही होता है । व्यक्ति की रचना धर्मिता चेतना के स्तर पर ऐसा अवश्य स्वीकार करती है कि जैसा है वैसा नहीं होना चाहिये, अर्थात् उसके अपने स्तर पर विश्व -समाज का जो आदर्शीकृत रूप होता है वह उसके वर्तमान से अपना तादात्म्य स्थापित करने में असफल रहता है । तादात्म्य की यह अभावात्मक स्थिति ही कदाचित रचना धर्मिता का एक कारण हो सकती है । ×

वर्तमान की अभावात्मक स्थिति तथा कल्पना की भावात्मक स्थिति अथवा फिर वर्तमान का वैषम्य एवं विचारों का आदर्श निस्संदेह अभावात्मक स्थिति का ही संकेत है किन्तु प्रश्न उठता है कि अभाव का बोध भी तो भाव के माध्यम से होता है । जब भी हम किसी वस्तु का अभाव अनुभव करते हैं तो उसका पूर्वभाव हमारे मानस पर हमारे चाहे-अनचाहे, जाने -अनजाने अथवा फिर अचेतन या अवचेतन रूप में अंकित होता ही है । इससे कोई महत्व-पूर्ण अन्तर नहीं पड़ता कि यह अंकन कितना स्पष्ट अथवा कितना धूमिल है । अभाव बोध के पूर्व की स्थिति भाव बोध की होती है । आदर्शों का निर्माण कोई वास्तविक वस्तु नहीं हो सकती । कल्पना का जन्म कहीं बहुत गहरे में हमारे मन में ही होता है ।[2] ऐसी स्थिति में उसका कोई न कोई स्वरूप हमारे मानस की किन्हीं परतों पर अंकित होना ही चाहिये । हमारे समस्त विचार मात्र उस आकृति को उभारने का प्रयास करते है जिस पर बिम्बों एवं विचारों की अनेक परतें हमारे जाने - अन्जाने जमा होती रहतीं हैं । अभाव उसी स्थिति या वस्तु का संभव है जिसका कभी भाव या अस्तित्व किसी

× There is no doubt that to atleast some creative individuals it represents a going beyond or a looking behind, or a making better of the world that present itself in our ordinary senses. Imagination seizes upon the possibilities which the real world may not as yet have brought to actuality and in that sense one can find out what is looking in every day experience. - Dr. Frank Brown - Creativity : Encyclopedia of Mental Health (Vol-II) page-399-400.

2. "Fantasies are those images already present in the ego in its cognitue function is seeking to rediscovere in reality" Norman.O.Brown : Life Against Death. Sphere Books Ltd, London-1970 - Page-149.

न किसी रूप में निकटता से अनुभव किया गया हो । निकटता का यह स्तर भी प्राक्कल्पना से अधिक सिद्ध नहीं किया जा सकता । वैज्ञानिक आविष्कारों को लेकर इस प्राक्कल्पना पर अनेक प्रश्न चिह्नों की मालायें अर्पित की जा सकती हैं । आज तक ऐसे अनेक वैज्ञानिक आविष्कार स्थूल रूप से गिनाये जा सकते हैं जिनके अस्तित्व से कुछ वर्षों पूर्व लोग परिचित ही नहीं थे तथा जो विज्ञान की अधुनातम खोजों के कारण ही संभव हो सके । उनके अभाव को तो स्वीकारा जा सकता है किन्तु उनका पूर्वभाव सिद्ध नहीं होता । सत्य है आज हमारे समक्ष विज्ञान की अधुनातम उपलब्धियाँ जिस रूप में विद्यमान हैं उस रूप में उनका पूर्व भाव भले ही सिद्ध न हो किन्तु उनकी एक धुँधली आकृति मानव के किसी न किसी मस्तिष्क में विद्यमान अवश्य थी - इस तथ्य को नकारा नहीं जा सकता । आवश्यक तो नहीं कि जो एक मस्तिष्क में हो वह सभी मस्तिष्कों में एक साथ हो ? जीवन में एक व्यक्ति अभावों की तीव्रता का अनुभव करता है और उस तीव्रता के परिणामस्वरूप उसकी मानसिक गतिशीलता कुछ ऐसा खोजने में लग जाती है जिसका लाभ उन सब को भी प्राप्त होता है जिन्होंने उसका अभाव तो कदाचित अनुभव किया होगा परन्तु उसको लेकर विचारने की जहमत गवारा नहीं की । अधिक दूर न जाकर यदि हम आज मात्र रेडियो या बिजली के बल्ब को उदाहरण में लें तो बात स्पष्ट हो जाती है । आज इन दोनों वस्तुओं का उपयोग प्रत्येक घर में बहुतायात से हो रहा है और जो लोग इलेक्ट्रानिक्स का "क""ख""ग" भी नहीं जानते इनका उपयोग करते हैं, उपयोग ही नहीं करते यदि कदाचित उनके घर के ये उपकरण किन्हीं कारणोंवश काम करना बंद कर दें तो काफी परेशान हो उठते हैं । उन्हें जीवन, इनके अभाव में बड़ा अस्त-व्यस्त प्रतीत होने लगता है । तात्पर्य यह कि आवश्यक नहीं कि विज्ञान जिन आविष्कारों से आज हम लाभान्वित हो रहे हैं अथवा जिन का अभाव हमारे जीवन को अस्त-व्यस्त करने की क्षमता रखता है उनके सम्बन्ध में आज के प्रत्येक उपभोक्ता ने उनके अस्तित्व में आने से पहले सोचा हो

हो । तथ्य तो यह है कि प्रत्येक उपभोक्ता रचना नहीं करता इसलिये उसके मानस में अभाव की अनुभूति तीव्रता की उस कोटि की नहीं हो सकती जिस कोटि की उस व्यक्ति को होती है ज जो उसका सर्जक होता है । इसके साथ ही जब हम उपभोक्ता के दृष्टिकोण से एक व्यापक धरातल पर विचार करते हैं तो पाते हैं कि प्रत्येक उपभोक्ता के अन्तर्मन में उपभुक्त वस्तु की आवश्यकता तथा उसके पूर्वकल्पित स्वरूप का एक खाका अवश्य उपस्थित रहता है भले ही उसकी स्थिति कितनी ही अस्पष्ट क्यों न हो । वस्तुत: इसके अभाव में वह उसके उपभोग के लिये भी प्रस्तुत न होगा । आज भी ऐसे अनेक व्यक्ति देखे जा सकते हैं जो कई महत्वपूर्ण तथा उपयोगी वस्तुओं को, ई महत्वपूर्ण तथा उपयोगी कहने में हमारा दृष्टिकोण नितान्त एकांगी है, क्योंकि जो एक व्यक्ति के लिये महत्वपूर्ण और उपयोगी है आवश्यक नहीं कि वह दूसरे के लिये भी महत्वपूर्ण तथा उपयोगी हो ई मात्र इसलिये नकारना चाहते हैं कि वस्तु के स्वीकार या नकार के लिये उनके पास कोई ठोस आधार नहीं । अधिक उपयुक्त तो यह कहना होगा कि उसके स्वीकार के लिये उनके पास कोई तर्क ही नहीं होता ।

रचना प्रक्रिया के इस पक्ष पर फ्रायड ने काफी विचार किया है । फ्रायड के विचारों के संदर्भ में रचना प्रक्रिया तथा रचना की आवश्यकता और उसके साथ रचयिता के सम बन्धों को स्पष्ट करने से पूर्व यह स्पष्ट रूप से समझ लेना अधिक समीचीन होगा कि मनोविज्ञान की अपनी एक सीमा है । मनोवैज्ञानिक अपने अध्ययन का प्रारम्भ व्यक्ति के व्यवहार जगत् से करता है । व्यवहार तथा व्यक्ति के होने के बीच कार्य-कारण सम्बन्धों की श्रृंखला की स्थापना तथा प्राप्त निष्कर्षों के आधार पर मनुष्य के भावी व्यवहार को समझने का प्रयास उसका उद्देश्य है । व्यवहार और व्यक्ति के बीच कभी वह समाज की ओर अग्रसर होता है तो कभी अनुभवों एवं प्राक्कल्पनाओं के सहारे विचारों की कुहेलिका में अनुत्तरित प्रश्नों के उत्तर खोजने का प्रयास करता हुआ दर्शन की चिन्तनशीला धरती पर विचरण करने लगता है ।

****

व्यक्ति और व्यवहार के मध्य अध्ययन की यात्रा का प्रमुख बिन्दु जिसकी स्थापना फ्रायड ने बड़ी निश्चितता से की है वह है -- " सुख सिद्धान्त " जिसमें वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि हमारी समस्त शारीरिक क्रियायें सुख प्राप्त करने तथा पीड़ा के निराकण में लगीं हुयीं हैं× तथा यह मात्र सुख सिद्धान्त ही है जो जीवन के उद्देश्य पूर्ण कार्य क्रमों का निर्धारण करता है । [2] साधारण अनुभव की बात यह है कि व्यक्ति जिस किसी भी कार्य को अन्त: प्रेरणा से करता है या फिर जिसमें उसकी वृत्तियाँ पूर्णत: डूब जातीं हैं जहाँ उसकी एकाग्रता स्वयमेव घनीभूत हो उठती है वहाँ उसे सुख मिलता है । सुख यानी मन का स्वीकार, सुख यानी एक ऐसी अनुभूति जिसमें मन रम जाय, जिसमें डूब कर देश और काल का अतिक्रमण हो जाय, जहाँ पर भौतिक जगत् के समस्त भेद, समस्त द्वन्द्व समाप्त हो जाते हैं, जो अपने आप में किसी कृत्य की पूर्णता, जो आत्यान्तिक शरीर (काल-पुरुष) की शाश्वत सत्ता है[3] का मान दण्ड है ।[4] अस्तु उसके सम्बन्ध में फ्रायड का यह कथन कि सुख सिद्धान्त का उद्देश्य प्रसन्नता है [5] अत्यंत समीचीन प्रतीत होता है ।

****

× Our entire physical activity is bent upon procuring pleasure and avoiding pain, is automatically regulated by pleasure principle". - Freuid - A General Introduction to Psycho Analyses New York Perma Giants - 1953 - page-365.

2. "It is simply the pleasure principle which draws up the programme of life's purpose". Frueid - Civilization and its discontents International Psycho Analytical Library No.17 - Page-27.

3. "Perfection would be the realm of Absolute Body" - Dr.Norman O. Brown - Life Against Death.page-89

4. Pleasure is the measure of perfection in activity - Ibid - Page-91

5. ....the goal of the pleasure principle is happiness - Sigmund S. Freuid - Civilization and Discontents tr. J.Riviere (International Psycho Analytical Library Ed. by E. Jones No.17) London Hograthe Press-1930 - page-27.

सुख सिद्धान्त को ओर संकेत करते समय उसके उद्देश्य के रूप में प्रसन्नता को स्वीकार किया गया है । हम सभी जीवन के किसी न किसी क्षण प्रसन्नता के अनुभव से अवश्य गुजर चुके है और हमें ऐसा प्रतीत होता है जैसे इस प्रसन्नता को हम भली भाँति जानते हैं किन्तु यदि हमें प्रसन्नता के इस अनुभव को शब्द देने हों तो हम अपने आप को नितान्त असहाय हो पायेंगे । क्या होती है प्रसन्नता ? कैसा होता है इसका अनुभव -- बड़ा कठिन बता पाना । प्रसन्नता शब्द का उच्चारण या उसका लेखन उसके किसी रूप या प्रकृति को प्रतिपादित नहीं करता । प्रसन्नता की इच्छा हम में से प्रत्येक को इच्छा होती है, कुछ अपवाद स्वरूप लोग भले ही कहें कि " मुझे प्रसन्नता की इच्छा नहीं है " किन्तु इस नकार में भी वे अपने आप को प्रसन्न अनुभव करते हैं । कदाचित प्रसन्नता की यह चाहत ही वह वैयक्तिक साधन है जिसके माध्यम से हम प्रगति का आकलन कर सकते हैं ।[×] जीवन के पथ पर प्रगति का घूर्णिमान चक्र आकांक्षा की अभिव्यक्ति है किन्तु क्या इससे भी प्रसन्नता के उस स्वरूप का तनिक भी आभास होता है जो हम चाहते हैं । फ्रायड को भी इस कठिनाई से जूझना पड़ा था और उन्होंने इसका समाधान " प्रागैतिहासिक इच्छा की पूर्ति " कह कर दिया था ।[2] फ्रायड की इस व्याख्या से सिद्ध होता है कि --

(1) प्रसन्नता एक पूर्ति है ।

(2) यह पूर्ति एक इच्छा की है

(3) जो प्रागैतिहासिक है तथा

(4) इस इच्छा की पूर्ति का स्थगन होता रहा है ।

इच्छा की होना ही उस अभाव का संकेत है जो अन्तर में कहीं होता है । अभाव की अनुपस्थिति में इच्छा का प्रश्न प्रश्न ही नहीं उठता । इस अभाव के साथ दूसरी महत्वपूर्ण स्थिति इसका प्रागैतिहासिक या आदिम होना

× "The desire to become happier is the only individual source which can take account of progress". - Durkheim E. - The Division of Labour in Society : tr. G. Simpson - Free Press Glencoe - 1947 - page-251.

2 "Happiness is the deferred fulfillment to a pre-historic wish". Sigmund S. Freuid - The Origin of Psycho Analysis : Letters to Wilhelm Fliess. Draft and Notes - 1877-1902 : Eds. M.Bonaparte, A. Freud and E. Kris : Basic Book, New York-1954 - page-244.

है अर्थात् आदिम युग से ही इस अभाव की स्थिति रही है । तीसरी महत्व-पूर्ण बात है इस इच्छा की पूर्ति का स्थान । फ्रायडीय समाधान वस्तुत: दो प्रमुख प्रश्नों का जनक सिद्ध होता है --

(1) वह कौन सा अभाव है जिसकी पूर्ति प्रागैतिहासिक काल से अब तक स्थगित होती रही है ?

तथा

(2) इच्छा पूर्ति में वह कौन सी बाधा रही है जिसने इच्छा को प्रागैतिहासिक रूप प्रदान कर दिया ?

इसके साथ ही यह प्रश्न भी हो सकता है कि जो इच्छा प्रागैतिहासिकता को उपलब्ध हो चुकी है तथा जिसकी पूर्ति अब तक संभव नहीं हो सकी क्या अब वह पूर्ति संभव है । क्या व्यक्ति को मिलने वाली प्रसन्नता सचमुच वास्तविक प्रसन्नता है ? अथवा मूल अभाव कालान्तर में किसी ऐसे छोटे-छोटे अभावों को सृष्टि कर लेता है जिनकी पूर्ति उसके निकट प्रसन्नता का एक भ्रम उत्पन्न कर देती है । प्रश्न यह भी उठ सकता है कि क्या अभाव अपने आपमें अन्य अभावों को सृष्टि कर सकता है ? अथवा अभाव का महा शून्य जीवन के अन्य गवाक्षों से झाँका करता है । जीवन का प्रत्येक गवाक्ष एक विराट खालीपन का लघु संस्करण है जिसके अन्तर में झाँकता महाशून्य अपनी शाश्वतता की घोषणा इच्छाओं के स्वर में किया करता है ।

अभाव बोध की स्थिति वस्तुत: द्वैत की स्थिति है । द्वैत के अभाव में किसी अभाव का बोध संभव ही नहीं । अखंडितावस्था में बोध जैसी किसी स्थिति का अनुमान मानवीय मेधा की सामर्थ्य का उपहास है । प्रत्येक अनुभव या बोध के लिये द्वैत या खंडित स्थिति अनिवार्य है । अनुभव कर्ता एवं अनुभव द्वैत की ही स्थिति है ।

फ्रायडीय सूत्र पर विचार करने के लिये अधिक उपयुक्त तो यह होगा

कि हम शरीर विज्ञान से ही प्रारम्भ करें क्योंकि भाव तथा अभाव बोध या फिर बोध मात्र का ज्ञान शरीर के रहते ही संभव प्रतीत होता है । क्या शरीर के निर्माण अथवा विकास की प्रक्रिया में कोई ऐसी स्थिति है जिसे पूर्णता की स्थिति के रूप में स्वीकार किया जा सके और जिसे यात्रा का आरम्भ विन्दु माना जा सके । मानव शरीर विकास का परिणाम ही नहीं प्रत्युत सतत विकसनशील प्रक्रिया का प्रतिफलन है । आज उसका जो स्वरूप दिखाई पड़ता है कल भी ठीक वही रूप दिखाई पड़ेगा अथवा नहीं, कहा नहीं जा सकता ; अधिक संभावना तो इस बात की है कि नहीं दिखाई पड़ेगा । हेराक्लीतुस की बहु प्रचलित कहावत कि " सूरज प्रतिदिन नया होता है ", सूरज प्रतिदिन नया हो अथवा न हो किन्तु उसे देखनेवाला व्यक्ति निश्चित रूप से प्रतिदिन नया हो जाता है । व्यक्ति ही क्यों सूरज भी गतिक तथा परिवर्तनशील होने के कारण प्रति पल नया होता है । दोनों ही सतत परिवर्तशील हैं । व्यक्ति के सम्बन्ध में जो हमारी जानकारी है वह अल्पतम की स्थिति में है, जन्म को प्रारम्भ स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि गर्भ में मनुष्य का निरन्तर विकास होता रहता है । तो फिर उससे पूर्व -- उससे पूर्व वैज्ञानिकों की मान्यता है कि स्त्री के जन्म के समय ही उसमें पाँच लाख से कुछ अधिक अपरिपक्व अंडे विद्यमान होते हैं[×] । अंडों का अपरिपक्वावस्था में विद्यमान होना पूर्णता की स्थिति नहीं हो सकती अस्तु विवेचन मात्र के लिये इसे यदि हम विशेष महत्व न देते हुये उस स्थिति पर विचार करें जो गर्भाधान की होती है, यद्यपि उसमें भी, उसे आत्मवत् मानते हुये भी [2] अपूर्ण स्वीकारा गया है, तथा जिसे मानव यात्रा का प्रस्थान विन्दु वैज्ञानिकों ने स्वीकारा है । [3]

युगमाणु (जाइगोट) मानव यात्रा का प्रारम्भ विन्दु होते हुये भी पूर्णता की स्थिति का निर्विवाद सूचक नहीं हो सकता । प्रत्येक विकास

× "More than half a million immature eggs called Oocytes, are already present in a baby girls ovaries at birth" - Mind & Body Ed. Marshall Cavendish : Marshal Cavendish Books Ltd., London 4th edition-1977 page-65.

2. तत स्त्रिया आत्मभूवं गच्छति यथा स्वमङ्ग तथा
तस्मादेना न हिनस्ति सा अस्यै तमात्मानमत्र गतं भावयति ।
ऐतरेय उपनिषद 2/2 पृ.284.

अपूर्णता की मुखर कथा है । युग्माणु ही विकसित होकर भ्रूण बनता है और भ्रूण कालान्तर में मानवाकृति गृहण करता है । अस्तु इसे स्थिति को उस अखण्डता के रूप में नहीं स्वीकार जा सकता है जिसके बाद इच्छा का जन्म होता है । इच्छा का जन्म और उसकी पूर्ति का आभास ही सुख का बोध है । पूर्ति का आभास इसलिये क्योंकि इच्छा अपने आप में प्रागैतिहासिक है और इस प्रागैतिहासिकता का मूख्य कारण है पूर्ति का अभाव । पूर्ति हो जाने पर इच्छा समाप्त हो जानी चाहिये तथा इस क्रम से उसकी प्रागैतिहासिकता सिद्ध नहीं हो सकती । किन्तु समस्त मानवी प्रयास इच्छा परिचालित हैं, उनकी कोटियाँ तथा स्थितियाँ भिन्न हो सकतीं हैं, अस्तु यह कहना कि इच्छा की कभी परितुष्टि हो सकी है, कम से कम इसे हमें उचित प्रतीत नहीं होता । प्रश्न उठता है कि आखिर फिर स्थिति क्या है ? स्थिति की वास्तविकता की यह चिन्ता ऋगवेद के ऋषि को भी सालती रही है । लेकिन अनुभूति और अभिव्यक्ति की दूरियाँ काफी लम्बी प्रतीत होतीं हैं । अनुभव में उतरने वाली प्रत्येक स्थिति या धारणा अभिव्यक्ति के तल पर ज्यों की त्यों नहीं उतर पाती इसलिये प्रस्थान विन्दु का वर्णन करते समय ऋगवेद का ऋषि नकारात्मक वक्तव्य का प्रश्रय ग्रहण करता है, वह कहता है, " उस समय सृष्टि रचना से पूर्व न अभाव था न ही भाव था, न परमाणु न आकाश जो सबसे सूक्ष्म है आवरण क्या था कहाँ कैसा घर था, क्या गम्भीर कठिनता से जानने योग्य गहरा जल था ।"×

" तब न मौत थी न अमरत्व था, अर्थात् जीवन था का न मृत्यु रात का, दिन का चिह्न नहीं था सूर्य चन्द्र व काल विभाग का कोई चिह्न बिना वायु अर्थात् बिना प्राण अपनी शक्ति से तथा अपने से धारण की गई सूक्ष्म

[गत पृष्ट का शेष]

3. "As the two incomplete blue-prints coaded on to the chromosome that each carries slot togather, sperm and egg end their history as separate cells. This new speck of matter (the Zygote), a cell that can grow and multiply is the begining of human being - Mind & Body - Ed. Marshall Cavendish - Page-65.

× नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं ना सीद्रजो ने व्योमा परे यत् ।
किमावरीव: कुह कस्य शर्मन्नम्भ: किमासीद्गहनं गभीरम् ।।
- - ऋगवेद म. 10 सूत्र 129 मंत्र 1, ऋगवेद भाष्य द्वितीय भाग, दयानन्द सरस्वती, दयानन्दसरस्वती संस्थान, दिल्ली, सं.2033, पृ.500.

प्रकृति के साथ वह एक था । उसके अतिरिक्त और कुछ सूक्ष्म कुछ नहीं था ।

" सृष्टि के व्यक्त रूप में आने से पहले अन्धकार से ढका हुआ अन्धकार था लक्षण में न आने वाले वह सब व्यापक हुआ गतिशील पदार्थ था । सूक्ष्म से सब ओर ढका हुआ था । वह तप ज्ञान के महत्व से एक प्रकट हुआ । "×

जिस प्रकार वस्तुगत वर्णन वैयक्तिक शैली में संभव नहीं उसी प्रकार स्थित सौकार्य सापेक्षता विधायकत्व के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा है अस्तु निषेधात्मक वर्णन भी सकारात्मक हो जाता है । ऋगवेद के ऋषि के बोध में जो भी स्वरूप आते गये वह उन्हें नकारता गया जाता है किन्तु इस अस्वीकार में भी स्वीकार की अन्त: सलिला स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है । बुद्धि जो समझती है वह नहीं था किन्तु कुछ था अवश्य यद्यपि यह अस्तित्व बोध भी बुद्धि का ही हो सकता है परन्तु ठीक वैसा नहीं जैसा जाना गया है । ऋगवेद का ऋषि जिसे अन्धकार और गति के रूपक के द्वारा स्पष्ट करने का प्रयास करता है उसी के लिये कठोपनिषदकार प्रकाश का माध्यम चुनता है -

" वह तो इतना भासमान है कि वहाँ सूर्य का प्रकाश फीका पड़ जाता है । वहाँ चन्द्र और तारे प्रकाशहीन हो जाते हैं, विद्युत भी उसके प्रकाश के सामने फीकी है, फिर इस अग्नि का तो कहना ही क्या ? उसी की आभा से, उसी के प्रकाश से स्वयं सूर्य, चन्द्र, तारे तथा विद्युत प्रकाश देते हैं, उसी के प्रकाश से स्वयं प्रकाशित हो रहे हैं । "2

अखण्डता या पूर्णता की समस्त कल्पनायें मानवीय मन की उपज हैं किन्तु अन्य किसी भी ऐसे सिद्धान्त के अभाव में जो पूर्णत: स्थितिगत हो इन्हें

× न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेत: ।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न पर: किं चनास ।।
ऋ/10/129/2.

तम आसीत्तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम् ।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिना जायतकम् ।। ऋ/10/129/3.

2. न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्र तारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोअयमग्नि : ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्यभाप्ता सर्वमिंद विभाति ।।
कठोपनिषद/ 15/5.

स्वीकार किया जा सकता है । अभाव को अभिव्यक्ति जब इच्छा रूप में होती है तो वह भी तो मानवीय अभिव्यंजना ही है अस्तु भाव व्यंजना के रूप में इस प्रकारकी स्थिति को भले ही वह कितनी ही धूमिल क्यों न हो, स्वीकारने में हमें कोई आपत्ति प्रतीत नहीं होती । कुछ लोग इसे धर्म और ईश्वर से सीधा सम्बन्धित मानकर, यथार्थवादी मुखौटा पहने होने के कारण, महत्वपूर्ण मानने से इन्कार भी कर सकते हैं किन्तु क्या जब उनके तर्क चुकने लगते हैं तब उनकी अनास्थावादिता की व्याख्या घुटने टेकती प्रतीत नहीं होती ।

तथ्य तो यह है कि जीवन में जब भी बोध का उदय होता है हम अपने आप को एक इकाई मानने लग जाते हैं । और हमारा यह इकायित्व का स्वीकार कुछ इसप्रकार का होता है जो न केवल दूसरों से भिन्न होता है प्रत्युत अपने मूल से भी अपने सम्बन्ध को नकारने की प्रवृत्ति से युक्त होता है । चाहें तो कह सकते हैं कि मूल में अन्धकार है, ऐसा नहीं है हमारी दृष्टि सीमा के परे सबकुछ अन्धकार ही होता है, तथा इसके साथ ही ऊर्जा जिसकी अभिव्यक्ति गति में है । गति के परिणाम स्वरूप ही सब कुछ निर्मित होता प्रतीत होता है । निर्माण को हम अपना होना मान लेते हैं तथा विनाश से अस्तित्व की रक्षा के लिये अनेक प्रयासों की रचना में जुट जाते हैं । यद्यपि हमारा प्रत्येक प्रयास किसी अन्य महा प्रयास की एक कड़ी भर होता है । अस्तित्व का निर्माण ऊर्जा के सातत्य की अगली कड़ी होती है । कड़ी के इस निर्माण में उस मूल स्रोत से, उस समय जब कड़ी अपने आप को एक स्वतंत्र इकाई मान लेती है, एक दूरी निर्मित होती प्रतीत होती है । दूरी को कम करने का या मिटाने का प्रयास ही, जब किन्हीं क्षणों में वह कम होती या मिटती प्रतीत होती है, सुखानुभूति या प्रसन्नता में परिवर्तित हो जाता है ।

साधारण अनुभव की बात है कि प्रसन्नता के क्षणों में हम खिल उठते हैं तथा भय के क्षणों में सिकुड़ जाते हैं । हमारा खिलना वस्तुत: वह विस्तार है

जो अस्तित्व को स्वनिर्मित सीमाओं से मुक्त करता है । समाओं से मुक्ति यानी जो प्रत्यक्ष है उसका अतिक्रमण । विस्तार के क्षणों में हमारा शून्य, जो वस्तुत: निरपेक्ष परमतत्व का ही सूचक है तथा अपरोक्ष अद्वैत तत्व है× हमारे और निकट होता है उ अर्थात् उसके और हमारे बीच की दूरी सिमटती सी प्रतीत होती है । भरने के इस भाव को वाह्याभिव्यक्ति वस्तु, व्यक्ति या भावजन्य भी हो सकती है, इसीलिये कुछ रचकर या पाकर हमें सुख का अनुभव होता है । कदाचित कुछ लोग कह सकते हैं कि उन्हें तो देकर अथवा मिटा कर ही सुखानुभूति होती है, ऐसी धारणा वस्तुत: पर्याप्त भ्रमपूर्ण है क्योंकि स्यात् ऐसा कहने इस तथ्य से परिचित नहीं होते जिसे वे मिटाने या देने की क्रिया कहते हैं वह अपने मूल रूप में उनके अन्तर के अन्तराल को ही कम कर रही होती है अस्तु इस दृष्टिकोण से उसका रूप भी सर्जनात्मक ही होता है । हमारा विश्वास है कि हमने अपनी अल्पबुद्धि से फ्रायड के सुख या आनन्दवादी सिद्धान्त के अन्तर्गत उठनेवाले प्रश्न का आंशिक उत्तर देदिया है । आंशिक इस लिये क्योंकि व्यक्ति का अस्तित्वबोध, चाहे तो मात्र बोध भी कह सकते हैं, उस शून्यता को अत्यधिक जीवन्त कर देता है, जो साधारणत: प्रकृति में एक स्वाभाविक स्थिति है, तथा उसके साथ अपने सुखों या दुखों को जोड़ना आरम्भ कर देता है । प्रकृति का कोई अवयव न तो कोई उत्सव मनाता है और न ही करुणा विगलित हो आँसू बहाता है । वहाँ तो कुछ घट रहा है बस घटने के लिये । सार्थकता और निरर्थकता की कोई बात ही नहीं ; क्योंकि वहाँ न तो कोई निर्मित दूरी होती है न अन्तराल ही । व्यक्ति मानस पर शून्यबोध एक पीड़ा के रूप में उभरता है तथा शून्य को भरने का प्रत्येक बोध एक प्रसन्नता में ढल जाता है । प्रतिपल को यह बोधसत्विता उसकी इच्छा को प्रागैतिहासिकता प्रदान करती है । इसके साथ ही एक दूसरी महत्वपूर्ण बात जो विचारणीय है वह यह

× पं. बल्देव उपाध्याय, वैदिक धर्म, हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, सं. डॉ. राजबली पाण्डेय, नागरी प्रचारिणी सभा काशी, संवत् 2014.पृ.454.

कि बोध शून्यता को वैयक्तिकता प्रदान करता है जिससे अभाव बोध जाग्रत होता है परन्तु यह बोध ही शून्यता को वैयक्तिकता से मुक्ति दाता सिद्ध होता है । एक स्तर पर व्यक्ति का अपने होने का बोध और ऊर्जा को लीला भूमि यानी अन्तराल अर्थात् एक स्पेश का अभिज्ञान उसे कामनाओं से भर देता है । तथा दूसरे स्तर पर बोध के द्वारा ही इस तथ्य की उपलब्धि भी संभव है कि सब कुछ घट रहा है इसमें वैयक्तिकता के लिये स्थान ही नहीं है । वैयक्तिकतता व्यक्ति को अपने होने की मान्यता है जिसका उद्भव भी बोध से ही होता है तथा इस वैयक्तिकतता के खोखलेपन या आधारहीनता का बोध ही कामना मुक्ति में सहायक होता है ।

फ्रायड की मान्यता सुख सिद्धान्त पर ही यदि आधारित होती तो स्थिति काफी स्पष्ट रहती, किन्तु सुखोपलब्धि में आने वाली बाधायें वस्तुत: समस्या बन कर उभरने लगतीं हैं । सुखोपलब्धि की बाधाओं को फ्रायड ने वास्तविकता का सिद्धान्त (रियलिटी प्रिंसिपल) की संज्ञा दी । कहा जा सकता है कि व्यक्ति की सुखवादी प्रवृत्ति में सबसे बड़ा आघात वास्तविकताओं के कारण पहुँचता है । वास्तविकता को लेकर गम्भीरता पूर्वक विचार करने पर हम पाते हैं कि " जीवन की सबसे बड़ी आवश्यक वास्तविकता मृत्यु है ।[x] जहाँ फ्रायड अपने चिन्तन में मृत्यु को जीवन का उद्देश्य स्वीकार करते हैं[2] वहीं डॉ. नार्मन ओ ब्राउन जैसे विचारक जीवन को मृत्यु के विरुद्ध संघर्ष मानते हैं ।[3] वस्तुत: एक ओर नव बोध गत अस्तित्व की जिजीविषा तथा दूसरी ओर सत्व से एकाकार होने की आकुलता एक ऐसे द्वैत के जन्म का कारण बनजाती है जिसके परिणामस्वरूप संघर्षपूर्ण स्थिति उत्पन्न होती है । घात-प्रतिघातों का यह सातत्य सभ्यता का मूल कारण है जो अन्ततोगत्वा मृत्यु पर विजय पाने का

x. "Death is one of essential realities of life". Dr.Herman Feifel - Death, The Encyclopedia of Mental Health - Page-449.
2. "The goal of all life is death" - Freuid: Beyond the Pleasure Principle (International Psycho Analytical Library, E.Jones No.4) London-1950, page-50.
3. "Life remains a war against death" - Dr. Norman O. Brown - Life Against Death. Page-250.

प्रयास है ।[×] मृत्यु का स्वीकार ही वस्तुत: अमरत्व की उपलब्धि है क्योंकि स्वीकार की स्थिति में मृत्यु की घटना उस ऊर्जा की अभिव्यक्ति का ही अंग बन जाती है जो सम्पूर्ण जगत् में समान रूप से व्याप्त है तथा जैविक तल पर जिसे जीवनोर्जा कहा गया है । फ्रायड ने इसे ही लिबिडो या कामुकता कहा है । ऋगवेद में यही काम है । [देखिये ऋगवेद मण्डल 10, सूत्र 129 मंत्र 4.] किन्तु सम्पूर्ण स्थिति में जटिलता उस समय उत्पन्न हो जाती है जब हम शरीर को ही जीवन या अपना होना मान लेते हैं और इस आधार पर ही अनेकानेक मूल्यों का निर्माण, जिन्हें जीवन मूल्य भी कहा जाता है, ~~करते~~ किया करते हैं ।[2] यह समस्त प्रयास वस्तुत: मृत्यु को स्वीकार करने की हमारी अक्षमता है जो आदि मानव से लेकर आधुनिक मानव तक में देखी जा सकती है ।[3]

मृत्यु कोई बाहरी घटना नहीं है । यह जीवन का ~~आभ्यन्तरिक~~ आभ्यान्तरिक भाग है ।[4] इसे जीवन का अन्त नहीं माना जा सकता । यह जीवन का ही एक अन्य अनुभव है । मृत्यु चिन्तन को अपने आप में समाहित करके व्यक्ति अपने स्वरूप को समझ सकता है ।[5] ऊर्जा की सातत्यता के रूप में मृत्यु जीवन का अभिन्न भाग है । सातत्यता की स्थिति से तादात्म्य स्थापित करने की आकांक्षा के समानान्तर शरीर को ही जीवन मानने की प्रवृत्ति

× Civilization is an attempt to overcome death: Dr. Norman O. Brown Life Against Death - Page-248.

2 What the child knows consciously and the adult unconsciously, is that we are nothing but body. However much the repressed and sublimating adult may consciously deny it; the fact remains that life is of the body and only life creates values all values are bodily values - Norman O. Brown - Life Against Death- Page-256.

3 Civilized man, no more than archic man is strong enough to die". Ibid - Page-250.

4. Ibid - Page-94.

5. Death is a constitutive part, rather than the mere end of life It is another life experience only by integrating the concept of death into his life can the individual completely understand himself. - Dr. Herman Feifel. Death - The Encyclopediaof Mental Health; Ed. Albert Detush - Page-428.

द्वन्द्वों को जननी है । इसके साथ ही महत्वपूर्ण यह भी है कि व्यक्ति मृत्यु से उतना पीड़ित नहीं होता जितना कि मृत्यु के भय से । मृत्यु एक दृष्टिकोण हैजो जीवन को उसकी समग्रता से पृथक करके देखने के कारण भिन्न प्रतीत होता है । इस भिन्नता से अपरिचय के कारण भय भी स्वाभाविक है । भय की यह स्थिति इतनी व्यापक है कि मनोवैज्ञानिक सभी प्रकार के भयों के मूल में मृत्यु का भय ही मानते हैं ।* मृत्यु को लेकर भारत में पर्याप्त चिन्तन हुआ है । कठोपनिषद का नचिकेता सीधे मृत्यु के देवता से ही साक्षात्कार करता है । भय उसे सालता है किन्तु चिन्तन का साहस उसे प्रति पल आगे बढ़ने के लिये प्रेरित करता है । मृत्यु के निकट जिज्ञासु बन कर उसके रहस्यों को समझने का रूपक अमरत्व की उपलब्धि पर रुकता नहीं ; वह जीवन के मूल, ब्रह्म तक की खोज का प्रयास है, जिसका प्रतिफलन वह कवित्वमयी उक्ति जिस पर भाषा की समस्त शक्तियाँ निश्शेष होती प्रतीत होतीं है :-

अशब्दम् स्पर्शमरूपमव्ययं तथाअरसं नित्यं गन्धवच्यत् ।
अनाद्यनन्तं महत: परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते ।।[2]

जैविकतल पर,जहाँ मृत्यु का भय एवं बोध संभव है, जीवन की व्याख्या अत्यंत वैज्ञानिक विधि से आरम्भ होती है । कठोपनिषद का ऋषि स्पष्ट त: स्वीकार करता है कि --

" शरीर में प्राण तथा अपान दो शक्ति-याँ हैं । प्राण का काम संचय (एनाबॉलिज्म) तथा अपना अपान का काम विचय (केटाबॉलिज्म)

* Gregory Zilboorg, avoted psychiatris has stated that the fear of death is present in our mental functioning at all times. Melanie Klein, the English Psycho Analyst, believed that fear of death is at the root of all human anxiety. Paul Tillich, the renowned theologian, bases his theory of anxiety on the orientation that man is finite and must die. TheAustrian Psychiatrist, William Stekel, went so far as to express the hyposthesis that energy every fear we have as ultimately a fear of death - Dr. Herman Feifel, Death. The Encyclopedia of Mental Health, Ed. Albert Detush - Page-438.

2. कठोपनिषद 15/3.

करना है । किन्तु प्राण तथा अन्न से कोई नहीं जी रहा है । किसी और ही शक्ति से मनुष्य जीता है ।[×] और वह शक्ति सभी सोनेवालों में सदा जाग्रत रहती है, तथा जो वस्तु जैसी होनी चाहिये उसे वैसी ही निर्मित कर रही है - अस्तु वही शुभ है, वही ब्रह्म है तथा वही अमृत कहलाती है । सब लोक उसी में आश्रित हैं उससे कोई बढ़ -चढ़ कर नहीं है ।[2] इस शक्ति का स्वरूप अणु से भी अणु है तथा महान से भी महान है । यह जीव रूप जन्तु की हृदय रूपी गुफा में छिपा बैठा है ।[3] जहाँ तक इसकी उपलब्धि का प्रश्न है उपनिषद का ऋषि अत्यंत सटीक उत्तर देता है कि इसकी उपलब्धि न भाषणों से हो सकती है, न तर्कों से, न बुद्धि से तथा न ही पढ़ने या सुनने से । वह ऋषि कहता है कि जिसको यह वर लेता है वही इसे प्राप्त कर सकता है, उसके सामने आत्मा अपने स्वरूप को खोलकर रख देता है ।[4]

गत पृष्ठों में हमने यह देखा कि मृत्यु को लेकर भारतीय चिन्तन अमरत्व की सीमा का अतिक्रमण करता है । वह शक्ति के उस मूल का स्पर्श करने का प्रयास करता जिस आदि स्रोत से चेतना की धारा सहस्रमुखी हो प्रस्फुटित

× न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन ।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ।। - कठोपनिषद/5/5.

2. य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाण:
तदेव शुक्रं तद ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते ।
तस्मिंल्लोकाश्रिता : सर्वे तदुनात्येति कश्चन -- वही/8/5.

3. अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्
-- कठोपनिषद/2/20.

4. नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमे वैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष विवृणुते तनूं स्वाम्×।।
-- कठोपनिषद / 2 / 23.

होतो है । पाश्चात्य विचारक एवं मनोवैज्ञानिक डॉ. हरमन फीफेल इस तथ्य को बड़े ही स्पष्ट शब्दों में इस प्रकार रखते हैं :--

> " मृत्यु का भय एक सार्वभौम प्रतिक्रिया है तथा इससे कोई भी मुक्त नहीं है । हममे से प्रत्येक को वैयक्तिकता पूर्ण अर्थ को तभी ग्रहण करतो है जब वह अपनो मृत्यु को स्वीकार कर लेतो है । तथा मृत्यु चिन्तन को इस भित्ति में ही हम मेंसे प्रत्येक अपनो अमरत्व को भूख को खोजता है । "×

अमरत्व देश तथा काल को सीमाओं का अतिक्रमण करके सतत रूप से प्रवाहित चेतना को धारा से एकाकार होने को आकांक्षा है । घटना के घटतें हो, अर्थात् चेतना का रूपायन होते हो, देश और काल को सीमायें निर्मित हो जातीं हैं, जिनके अन्तर्गत फिर अनेक घटनायें ठीक उसी प्रकार घटतो जातो हैं जैसे सागर के वक्ष पर उठने वालो लहरें । ये लहरे परस्पर एक दूसरे को मिटातो और बनातो रहतीं हैं, इनका जन्म और इनको मृत्यु एक निश्चित देश, और काल को घटना हो सकतो है किन्तु सागर का अपना होना इस सीमा के बन्धन को स्वीकार नही करता । उसके होने पर कोई बन्धन नहीं हैं । मुक्ताकारों के होने का ढंग ही शाश्वतता है[2] अर्थात् वर्तमान का ऐसा विस्तार जिसमें भूत और भविष्य को समस्त सीमायें सिमट जायें कुछ इस प्रकार कि उनके मध्य कोई विभाजक रेखा न खींचो जा सके, जहाँ पर अस्तित्व मात्र अस्तित्व रह जाय, एक अविकल, अविच्छिन्न अबाधित विराट । [3]

× "....Fear of death is universal reaction and that no one is free from it. The individuality of each of us gathers full meaning only in realizing that we must die. And it is in this same encounter with the idea of death that each of us discovers his hunger for immortality - Dr. Herman Fiefel. Death - The Encyclopedia of Mental Health, Ed. Albert Detush - Page-428.

2 "....eternity is the mode of unrepressed bodies".
Norman.O.Brown - Life Against Death. Page-89.

3. Present holds within itself the complete sum of existence, backwords and forwards, the whole amplitude of time which is eternity.
A.N. Whitehead : The Aim of Education and other Essays. New American Library, New York-1949 - Page-26.

गत पृष्ठों में हमने मृत्यु, जो जीवन की सबसे बड़ी वास्तविकता है, पर विचार करते हुये यह स्पष्ट करने का प्रयास किया कि एक ओर ऊर्जा की अभिव्यक्ति का प्रतिफलन यानी व्यक्ति का अपना अस्तित्व तथा उसका ऊर्जा से पार्थक्य रूप से, एक स्वतन्त्र इकाई के रूप में अस्तित्व बोध, इकाई की स्वतन्त्रता का विलय यानी मृत्यु, तथा दूसरी ओर उसके अन्तर में चेतना या ऊर्जा के मूल स्रोत से अवच्छिन्न रूप से जुड़ जाने की आकांक्षा यानी अमरत्व की इच्छा के परस्पर टकराव का वास्तविक स्वरूप क्या है ? मूल रूप से संयुक्त होने का प्रयास तथा उसकी स्थिति की स्मृति शेष रूप, परिवर्तित ढंग से व्यक्ति मानस में सुख की सृष्टि करता है तथा अस्तित्व बोध एवं उसकी सुरक्षा की चिन्ता उसे मृत्यु भय से आक्रान्त किये रहती है । फ्रायड द्वारा प्रतिपादित आनन्द सिद्धान्त एवं वास्तविकता के सिद्धान्त का यही सार है । मृत्यु से बचने के लिये व्यक्ति ऐसी अनेक इच्छाओं, जिनके द्वारा उसे सुखानुभूति होती है या हो सकती है का दमन कर लेता है । मानव का अहम् इतना शक्तिशाली नहीं है कि वह मृत्यु की वास्तविकता को स्वीकार कर सके [X]। फ्रायड ने जीवनोर्जा को ही काम प्रवृत्तियां लिबिडों को संज्ञा दी है इसलिये कभी-कभी उन्हें समझने में भूले भी हुयीं हैं । अस्तु यह स्वीकार करने के पश्चात् कि मृत्यु जीवन का अभिन्न भाग है मृत्यु से पलायन करने वाला वास्तव में जीवनोर्जा से पलायन करता है । [2] इसके पूर्व कि हम अस्तित्व के संघर्ष के संदर्भ में उत्पन्न होने वाले दमन तथा द्वन्द्व का वर्णन करें आनन्द सिद्धान्त को लेकर यह समझ लेना अधिक उपयुक्त है कि फ्रायड ने स्वयं सुखानुभूति के लिये किस अंग विशेष का उपयोग हो रहा है, के सम्बन्ध में कोई विशेष आग्रह नहीं रखा है । [3] आनन्द और

X. Human ego is not strong enough to accept the reality of death". Norman O. Brown - Life Against Death - Page-145.

2. If death instinct is a part of life, if there is a death instinct as well as life instict (or sexual instinct) man is in flight from his own sexuality. Norman.O. Brown - Life Against Death- Page-95.

3. The organ in question may be the genital or it may be the mouth, as the thumb sucking or it may be the eyes as in delight of seeing Sigmund Freud: The Basic writing of Sigmund Freud; Tr. & Ed. A.A. Brill - The Modern Library, New York-1938, page-588.

वास्तविकता के मध्य सदा एक संघर्षपूर्ण स्थिति रहती है । इस संघर्ष के मध्य निश्चितरूप से अस्तित्व रक्षा की बात अधिक महत्वपूर्ण सिद्ध होती है, अस्तु व्यक्ति दमन का आश्रय लेता है । यहीं से वर्जनाओं के गणित का जन्म होता है । साधारणत: वयस्क जननिक कामुकता चाहे वह जैविक समागम के स्तर पर उठनेवाली कामुक सनसनाहट हो अथवा उदात्तीकृत रूप में प्रेम की स्थिति में होना हो, यह संकेतित करती है कि काम प्रवृत्ति शारीरिक स्तर पर होने वाले समस्त अनुभवों के पार किसी उपयुक्त आकार से संयुक्त होना चाहती है ।×

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट यह होता है कि ऊर्जा अपने किसी भी रूप में स्थिर नहीं हो सकती । ऐसी स्थिति में जब व्यक्ति के समक्ष दमन की स्थिति आ उपस्थित होती है वह दमन करता है किन्तु दमित इच्छा कभी भी पूर्ण रूप से नष्ट नहीं होती वह न्यूरोटिक रुग्ण लक्षणों के रूप में प्रकट होने के लिये बाध्य होती है जो वास्तव में आनन्द सिद्धान्त एवं वास्तविकता सिद्धान्त के मध्य, यद्यपि इस रूप में उसे मान्यता प्राप्त नहीं है, एक समझौता करती है । न्यूरोटिक लक्षण प्रतिस्थापन परितुष्टि होते हैं जिनसे केवल रुग्ण या न्यूरोटिक आनन्द की ही उपलब्धि होती है [2] इसप्रकार यह कहा जा सकता है कि जिन विधियों से अन्तर्द्वन्द्व से उत्पन्न समस्याओं का समाधान होता है या समाधान में सहायता प्राप्त होती है , उन्हें मनोरचनायें कहते हैं । [3] मैक्डानल्ड लैडिल के अनुसार " मनो रचनायें वे बाधायें हैं जो अचेतन समाज विरोधी प्रवृत्तियों को चेतन में आने से रोकती हैं तथा जो विरोधी प्रवृत्तियों

× "Normal adult genital sexuality, both at the sensual level of physical intercourse and at the sublimited level of being in love, indicates that the sezual instincts seek, over and beyond bodily pleasure, some appropriate form of union with objects in the world - Norman O. Brown - Life Against Death. Page-46.

2. Ibid - Page-44.
3. डॉ. लाभ सिंह तथा गोविन्द तिवारी, असामान्य मनोविज्ञान के मूल आधार, विनोद पुस्तक मंदिर आगरा, 1978, पृ. 178.

के अति प्रदर्शन को स्थिति उत्पन्न कर देतों हैं । ×

दमित आकांक्षाओं को प्रतिक्रिया मानवोय व्यवहार में जिस मान्य विधि से प्रतिफलित होतो है उसे मनो रचना को संज्ञा दो जातो है । गत पृष्ठों में स्पष्ट किया जा चुका है कि सुखोपलब्धि को आकांक्षा कदाचित कुछ ऐसे रूपों में भो हो सकतो है जिनका वास्तविकताओं से विरोध हो ऐसो स्थिति में उनका दमन अनिवार्य हो जाता है । किन्तु मूल रूप से यह दमन उस ऊर्जा का हो होता है जिसे जोवनोर्जा को संज्ञा दो जातो है । ऊर्जा का यह दमन संभव नहों किन्तु दमन के द्वारा उसके मार्ग को दिशा में परिवर्तन किया जा सकता है यह परिवर्तित ऊर्जा हो कालान्तर में समाज द्वारा स्वोकृत माध्यमों के द्वारा अपना मार्ग खोजतो हुयो उस रूप में प्रकट होतो है जिस पर मानवोय सभ्यता को सर्वोत्तम निधियाँ आधारित रहतों हैं । [2] मानवोय सभ्यता को सर्वोत्तम निधियों से हमारा तात्पर्य कला संस्कृति एवं साहित्य के सृजन से है । कला के संबंध में लिखते हुये फ्रायड नेउसे " गहनतर सत्य को अवगुण्ठनमयो अभिव्यक्ति कहा जो छद्म का एक ऐसा मुखौटा पहने रहतो है जिससे प्रज्ञा अभोभूत तथा भ्रमित होतो है । "[3] जहाँ तक संस्कृति का सम्बन्ध है फ्रायड के व्याख्यताओं में काफो विचारशोल तथा प्रबुद्ध चिन्तक डॉ. नार्मन ओ. ब्राउन ने इसे दमित अचेतन के प्रक्षेपणों का समूह माना है । [4] कहा जा सकता है कि कला और संस्कृति दमित ऊर्जा का हो उदात्तोकरण है । उदात्तोकरण के स्वभाव को

× The resistence which prevents unconscious anti-social trends from becoming conscious and which can lead to over display of opposit tendencies - Ladell. Macdonald : A Dictionary of Psychological terms Psychological Magzine, London-1955, page-11.

2. ----as a result of instinctual repression upon which is based all that is most precious in human civilization - Sigmund Freud - Beyond the Pleasure Principle; tr. J. Strechy (International Psycho Analytical Library, Ed. E.Jones No.4) Hogarth Press London-1950, P.5

3. Art is a veiled presentation of deeper truth, hence it wears a mask, a disguise, which fascinates and confuses our reasons". Sigmund Freud - Basic writings of Freud - Page.722.

4. Human culture is a set of projections of the repressed unconscious - Norman O. Brown - Life Against Death - Page-140-41.

स्पष्ट करते हुये डॉ. लाभसिंह तथा गोविन्द तिवारी अपनी पुस्तक " असामान्य मनोविज्ञान के मूल आधार"में स्पष्ट लिखते हैं कि --

> " हमारी कुछ इच्छा ये सामाजिक मर्यादाओं एवं प्रतिबन्धों के कारण संतुष्ट नहीं होती, तब इस मनोरंचना के माध्यम से उस असंतुष्ट इच्छा को समाज द्वारा मान्य तरीकों एवं कर्यों में अभिव्यक्ति होती है । इसका प्रमुख उदाहरण साहित्य सृजन कर्ता में प्रय: मिलता है । " ×

यद्यपि उदात्तीकरण की उपर्युक्त व्याख्या से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि साहित्य अपने आप में उदात्तीकरण नामक मनोरचना है, किन्तु इस प्रकार शीघ्रता से अन्तिम निष्कर्षों पर पहुचने पर हम " साहित्य की रचना प्रक्रिया " के सम्बन्ध में न्याय नहीं कर सकते इसलिये आवश्यक है कि हम उदात्तीकरण को समझने का प्रयास करें ।

उदात्तीकरण की व्याख्या करते हुये रोहीम ने लिखा है कि, " उदात्तीकरण में किसी नवीन वस्तु का निर्माण होता है - यह एक घर, एक समुदाय अथवा फिर एक औजार हो सकता है - इसका निर्माण एक समूह में होता है या फिर समूह के उपयोग के लिये होता है । "[2]

जे. स्वोफ्ट का मत है कि, " उदात्तीकरण आत्मा, जो अपने आप को शरीर से पृथक रखती है, द्वारा शारीरिक ऊर्जा का उपयोग है, यह आत्मा या उसकी क्षमता का पदार्थों के ऊपर उन्नयन है । "[3]

---

2 "In sublimation something new is created a house or a community or a tool - and is created in a group or for the use of group. Rohein: The origin and future of culture (Nervous and Mental Disease Monographs 69) Nervous and Mental Disease Monographs, New York-1943 - Page-74.

3. "Sublimation is the use made of bodily energy by a soul which sets itself apart from the body; it is lifting up of the soul or its faculties above matter - Swift J. Prose works of Jonthan Swift; ed. by H. Davis Oxford.B. Blackwell-1939. Page-174.

X. Dr. Labh Singh & Govind Thiwari, asamanya Manovijannke Mool Aadhar, Page-189.

फ्रायड का मत है कि ," विधायक ऊर्जा का आत्मरतिक ऊर्जा में परिवर्तन एक प्रकार का उदात्तीकरण है । " ×

डॉ. नार्मन ओ ब्राउन को मत है कि , " उदात्तीकरण मृत वस्तुओं में किया जाने वाला शारीरिक इन्द्रिय गमन है । प्रत्येक उदात्तीकरण में शरीर को मृत्यु होती है । " 2

यह वस्तुत: दार्शनिक सिद्धान्त की अपेक्षा एक मनोतथ्य के रूप में मन तथा शरीर के द्वन्द्व पर आधारित रहता है । 3

उदात्तीकरण को लेकर अब तक प्रस्तुत मतों के प्रकाश में यह कहा जा सकता है कि :-

(1) उदात्तीकरण का मूल जैविक तल की उन सुखात्मक इच्छा ओं में होता है जिनकी पूर्ति प्रचलित सामाजिक मान्यताओं के कारण संभव नहीं हो पाती ।

(2) उदात्तीकरण एक मनोतथ्य के रूप में होते हुये भी आत्मिक स्वर को वस्तु में परिवर्तित हो जाता है ।

(3) उदात्तीकरण द्वारा नवरेन रचना चाहे वह व्यक्तियों के समूह द्वारा हो अथवा व्यक्तियों के समूह के उपभोग के लिये हो संभव होती है । तात्पर्य यह कि यह समाज स्वीकृत विधि से दमित सुखात्मक ऊर्जा की रचनात्मक अभिव्यक्ति है + जो " गणित में भी उसी निश्चयात्मकता से पायी जा सकती है जिस निश्चयात्मकता

X. " The transformation of objective libido into narcissistic libido -- is -- a kind of sublimation." Freud, International Psycho Analitical Library, No. 12, Hogroth press London, 1927, p. 37-38.
2. "Sublimation is a mortification of the body into dead things. There is death of body in every sublimation." Norman O Brown, Life Against Death, page, 260.
3. Ibid, page 143.

से कविता में । [×] अस्तु काव्य निश्चित रूप से दमित सुखात्मक ऊर्जा की रचनात्मक अभिव्यक्ति है ।

उपर्युक्त निष्कर्षों को ग्रहण करते समय फ्रायड का वह कथन भी महत्वपूर्ण प्रतीत होता है जिसके अन्तर्गत वे यह स्थापित करते है कि, " समस्त दमित ऊर्जा का उदात्तीकरण नही होता है "[2] तथा " मात्र कुछ लोग ही विस्तृत रूप से उदात्तीकरण में सक्षम होते हैं । "[3] एक अन्य स्थान पर फ्रायड ने लिखा है कि " उदात्तीकरण अपनी अन्त: प्रकृति के कारण पूर्ण तुष्टि प्रदान करने में सक्षम नही होता ।"[4] यहाँ पर यह सरलता से समझा जा सकता है कि यदि कोई उदात्तीकरण पूर्ण तुष्टि प्रदान करने में सक्षम होता तो एक बार तुष्ट होने के पश्चात् पुन: किसी प्रकार का अभाव कभी न सालता । वस्तुत: यह सूत्र फ्रायड के उस सूत्र का पूरक है कि समस्त दमित ऊर्जा का उदात्तीकरण नहीं होता । अपने अनुदात्ता- तल पर बैठी ऊर्जा पुन: असंतोषों, अभावों के माध्यम से नूतन प्रयासों को योजना किया करती है । इसके- साथ ही फ्रायड का यह कथन कि कुछ लोग ही विस्तृत रूप से उदात्तीकरण में सक्षम होते हैं इस बात का उत्तर है कि समाज का वह प्रत्येक व्यक्ति जो दमन को झेलता है

× " The time sprit of delight --- is to be found in mathematics as surely as in poetry. " Bertrand Russel, Philosophical Essays, Longman Green, London, 1910, p. 75.

2. Not all the libido can be sublimated." Freud, A General Introduction to Psycho Analysis, p. 355.

3. Ibid.

4. " Sublimations by virtue of their ~~instinct-nature~~ intrinsic nature are not capable of complete satisfaction." Freud, Group psychology, And analysis of the Ego, tr. J. Strachey, (International Psycho Analytical Library, No. 6) The International Psycho Analytical Press, London, 1922, page, 56.

रचनात्मक कार्यों में क्यों प्रवृत्त नहीं होता । इस कथन का महत्व इसलिये भी एक वैशिष्टय लिये हुये है क्योंकि अपने प्रारम्भिक दिनों में फ्रायड ने स्वयं चिन्तन के निकष रोमान्टिक कवियों के भाव जगत से उधार लिये थे । ×

वास्तविकताओं के विरुद्ध सुख की आकांक्षाओं का, एक समय तथा समाज विशेष में प्रचलित मान्यताओं के अनुकूल न होने के काण, दमन जहाँ स्नायविक रुग्णता (न्यूरोसिस) है वहीं उदात्तीकरण के माध्यम से दमित आकांक्षा की अभिव्यक्ति बहुत वास्तविक न होते हुये भी रुग्ण नहीं होती, क्योंकि रुग्णता जहाँ चेतन से पूर्णत: विमुख होती वहीं कला, जो कि उदात्तीकरण का प्रतिफलन है, चेतन से अपना सम्बन्ध निरन्तर बनाये रखती है तथा स्वप्नों, जो कि दमित आकांक्षाओं की ही कल्पनात्मक परितुष्टि हैं,[2] की अपेक्षा विधायक आनन्द की सृष्टि करतीं हैं ।

कला आनन्द की सृष्टि करके निश्शेष नहीं होती कल्पना का प्रश्रय वह लेती है किन्तु उसकी प्रतिक्रिया सदा अपने उस वर्तमान में संदर्भित रहती है जो काल खण्ड के रूप में एक अवरोधक का कार्य करता है । ऐसी स्थिति में काव्य या कला की रचना प्रक्रिया समाज तथा कलाकार (व्यक्ति) के मध्य उस द्वन्द्व की प्रक्रिया है जो कलाकार द्वारा गृहीत मानवता का आत्यांतिक सत्य तथा उसके व्यक्तिबोध के मध्य होता है । इसीलिये कलाकार, इतिहास की भीड़ में बार-बार जागता है, उसके नियम कदाचित वर्तमान के चौखटे में नहीं समा पाते, उसकी मान्यतायें विचित्रताओं से परिपूर्ण होतीं हैं जिनकी पहचान के लिये वह साहसिक संकेतों की माँग करता है । उसके माध्यम से अनागत निर्ममतापूर्वक अभिव्यक्त होता है तथा अनागत एवं सत्य के वक्ता के रूप में कलाकार उस दमन का भी वक्ता होता है जो उसके वर्तमान की कब्र में ठूँस दिया गया होता है । उसका उड्डयनशील मानस प्रत्येक दिशा में समय की

x. Please see, Norman O. Brown, Life Against Death. Page-78.
2. Dreams are wishfulfillment of fantasies. Ibid. Page-66.

प्राचीरों से टकराया करता है । × इसप्रकार हम कह सकते हैं कि कला के माध्यम से वर्तमान का दमन अनागत का पथ-प्रदर्शक बन कर प्रकट होता है । रचना प्रक्रिया के मध्य उसकी अभिव्यंजना को कला कार के परिवेशों, संस्कारों, तथा अध्ययन द्वारा निर्मित अनेक पीठिकाओं के तलों से होकर गुजरना पड़ता है । उदात्तीकरण में कुछ सर्जित होता है किन्तु सृजन के तलों में इतनी विभिन्नता होती है कि जब उसका समन्वित रूप रचना के रूप में रूपायित होता है तो किसी एक धारा को बहुत स्पष्ट रूप से रेखांकित करना अत्यंत कठिन प्रतीत होता है, किन्तु यदि हम उस मूल विचार को ध्यान में रखें जो दमन और उदात्तीकरण के मूल में निहित है तो हम यह सरलता से कह सकते हैं कि समस्त रचना एकीकरण का प्रयास है और यह एकीकरण ही वस्तुत: परमानन्द की स्थिति है । मार्गों की भिन्नता हो सकती है, मतों की भिन्नता हो सकती है, दृष्टिकोणों का पार्थक्य हो सकता है और इसके साथ ही पडावों को मंजिल समझने की भूल भी हो सकती है किन्तु इस सब से वास्तविक गन्तव्य या उद्देश्य में विधेयात्मक रूप से कोई अन्तर नहीं पड़ता ।

समस्त जीवन और जगत एक ही शक्ति का प्रतिफलन हैं । प्रतिफलन विकास की प्रक्रिया है । विकास के लिये स्थान यानी (स्पेश) की आवश्यकता होती है । इसी स्पेश को विश्लेषण की अन्तिम पराकाष्ठा पर शून्य कहा जा सकता है । शून्यता व्यक्ति को समझ ही सकती है शक्ति या ऊर्जा का रूप नहीं । शून्यता एक प्रतीति है जो वस्तुत: व्यक्ति को ही है ।

× ".....And as for the artist, 'Again & Again' some one in the crowed wakes up, he has no ground in the crowed and he emerges according to much broader laws. He carries strange custom with him and demand room for bold gesture. The future speaks ruthlessly through him. But as a spokesman for the essence and for the future, artistsare the spkesman for what is repressed in the present. Their winged heart everywhere beats against the walls of their time.
Dr. Norman O. Brown - Life Against Death - Page-67.

शून्यता से शून्यता में आकारों का रूपायित होना जहाँ ऊर्जा की अभिव्यक्ति है वहीं आकारों (व्यक्तियों) का आकारबोध अहं की सृष्टि है । अहं का यह बोध पार्थक्यता का प्रथम सोपान है । एकाग्रता की स्थिति से पार्थक्य का बोध जहाँ उससे पुन: संयुक्त होने की आकुलता को जन्म देता है वहीं अपनी स्वतन्त्र इयत्ता का ज्ञान इयत्ता के सातत्य को बनाये रखने के प्रयास को प्रतिफलित करने के लिये विभिन्न आयामों और मार्गों की खोज का जन्म देता है । इयत्ता का बोध इयत्ता के आरम्भ और अंत को रूपायित करता है । सातत्यता का प्रयास वस्तुत: आनन्द की स्थिति है और इसकी इस स्थिति की धूमिल छवि उस सातत्यता का अंग जो ऊर्जा की वास्तविक गति है किन्तु, गति की अवहेलना करके बोध को जीने का प्रयास जिस विरोधी धारा के प्रस्फुटन में सहायक होता है उसका नाम मृत्यु है । फ्रायडीय दृष्टिकोण में इन्हीं दोनों स्थितियों को आनन्द सिद्धान्त तथा वास्तविकता सिद्धान्त की संज्ञा से अभिहित किया गया है । मृत्यु से सीधे साक्षात्कार के रूपक को लेकर ऊर्जा के सूक्ष्मतम तल का स्पर्श भारतीय चिन्तन की अपनी प्रमुख विशेषता रही है । मृत्यु की वास्तविकता के रूप में स्वीकार तथा तद्जनित भय की अपनी अभिव्यक्ति की छाप वर्जनाओं की चीलचिलौटी लिपि में उन प्राचीरों पर स्पष्ट अंकित रहती है जिन्हें व्यक्ति का ही अहं बोध अपनी रक्षा के लिये निर्मित करता है । भय की प्रीति उन आकांक्षाओं की, जिनके माध्यम से सुखोपलब्धि की आशा होती है, तथा जिन्हें तत्कालीन परिवेश स्वीकार नहीं करता, दमित करती है । आकांक्षाओं का उदय भी ऊर्जा का ही प्रसार है और दमन , मात्र उसकी ही दिशा का परिवर्तन । दमन का यह प्रयास जिस यंत्र द्वारा परिचालित होता है उसे ही मनोविज्ञान की भाषा मनोसंरचना कहती है । मनोसंरचना द्वारा दमित आकांक्षा जब समाज स्वीकृत में पुन: उभरती है तब मनोसंरचना के उस रूप को उदात्तीकरण की संज्ञा दी जाती है । उदात्तीकरण नवीन रचना का निर्माण है किन्तु न तो समस्त ऊर्जा का उदात्तीकरण संभव है

और न हो प्रत्येक व्यक्ति उदात्तो करण में सक्षम होता है इसोलिये वह प्रत्येक व्यक्ति जो सुखोपलब्धि को आकांक्षा में वास्तविकताओं के भय से दमन का प्रश्रय ग्रहण करता है, क्लाकार नहीं बन पाता । दमन को यह प्रक्रिया मानसिक रुग्णता भी हो सकतो है परन्तु क्ला रुग्णता नहीं है । क्ला का आनन्द उस सत्व के अधिक समोप होता है जिसके होने का प्रमाण अस्तित्व स्वंय होता है । रचना प्रक्रिया या उदात्तोकरण को प्रक्रिया वस्तुत: द्वन्द्वों का प्रतिफलन है हो नहीं प्रक्रिया भो है । इस प्रक्रिया में क्लाकार के जन्मगत एवं अर्जित संस्कारों, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, तथा सांस्कृतिक परिवेशों, तथा शैक्षणिक तलों का महत्वपूर्ण योगदान रहता है । ऐसो स्थिति में कदाचित रचना में एक प्रभाव विशेष को खोज अनुसन्धाता या भावक को अपनो भाव प्रबलता का उदाहरण होता है; किन्तु यदि उस मूल स्थिति को केन्द्र में रखा जाय तो यह सरलता से स्पष्ट हो जाता है कि समस्त काव्य एकोकरण या पूर्णता का प्रयास है । एकता का अभाव हो उसको समस्या है तथा एकोकरण को उपलब्धि हो परमानन्द को उपलब्धि ।

2.2.2. अब तक के विवेचन को सूत्र रूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है :-

(1) जोवन और जगत् को परिचालित करने वालो एक शक्ति है जो अदृश्य रूप से सर्वत्र व्याप्त रहतो है । जैवशास्त्र, मनोवज्ञिान, भौतिक शास्त्र तथा दर्शन को अंति परिणतियाँ अन्ततोगत्वा निर्विचार को रहस्यमयो स्थिति तक जा पहुँचतो है । निर्विचार को इसो मानवोय स्थिति का दूसरा नाम शून्य है जिसको व्यापकता के कारण उसे महाशून्य भो कहा जाता है । शून्यउ हमारो समझ का खालोपन है तथा ज्ञान को सोमा है । इसके साथ हो ऊर्जा का अस्तित्व बोध ऊर्जा को संज्ञा से न होकर गति से होता है तथा गति स्थान या स्पेश के अभाव में संभव हो नहीं अस्तु ऊर्जा को अमूर्तता को मूर्तत्व प्रदान करने के लिये भो जो सर्वाधिक महत्वपूर्ण विचार है या हो सकता है वह भो शून्य का हो है । समस्या संदर्भ में रचना प्रक्रिया को समझने के लिये

सबसे पहला सूत्र है - परमशक्ति या सत्ता का स्वीकार , जिसके व्यक्त रूप का ही दूसरा नाम आत्मबोध है ।

(2) सत्ता के स्वीकार के साथ ही द्वैत की रचना होती है । सत्ता का होना तथा उसके होने का अनुभव करने वाला व्यक्ति मानस होता है । अनुभव-कर्ता को यह स्थिति जहाँ एक ओर ऊर्जा का प्रसार है वहीं उससे पृथक सत्ता के रूप में अपने आपको स्वीकार करना अस्तित्व बोध है । अस्तित्व बोध की यह स्थिति अत्यधिक द्वन्द्वपूर्ण होती है । इस स्थिति में मूलसत्ता से पार्थक्य का आभास जहाँ उससे जुड़ने के लिये प्रयत्नरत दृष्टिगत होता है, तथा जुड़ने का बोध या उस अन्तराल की छद्म पूर्ति एक आनन्दमयी स्थिति की सृष्टि करती है, वहीं उसका अस्तित्व बोध अनजाने ही ऊर्जा की शाश्वतता क्रम के विरुद्ध निर्मितियों की संरचना में व्यस्त हो जाता है । प्रयत्नवती समस्त निर्मितियाँ जहाँ उसे एक सुखानुभूति से आप्लावित किया करतीं हैं वहीं उसका अस्तित्व बोध उसे जिस बोध से भरता रहता है वह ऊर्जा की सहज प्रक्रिया होते हुये भी, अहमात्मक दृष्टिकोण से " मृत्युबोध" की संज्ञा का अधिकारी है जिसे अनुभव कर्ता जीवन की सबसे बड़ी वास्तविकता के रूप में स्वीकार करता है । वस्तुत: अनुभव कर्ता मूल सत्ता से अभिन्न होते हुये भी न्यायत: भिन्न होता है अस्तु उसकी यह अभिन्न भिन्नता ही अस्तित्व बोध है । निष्कर्षत: हम कह सकते हैं कि रचना प्रक्रिया का दूसरा सूत्र है अस्तित्व बोध ।

(3) आवश्यक नहीं कि अस्तित्व बोध के क्षण आत्म बोध के भी हों (प्राय: नहीं होते) आत्मबोध से हमारा तात्पर्य उस बोध से है जिसके प्राप्त होने पर व्यक्ति या अनुभव कर्ता अपने अस्तित्व को मूल सत्ता से पृथक नहीं अनुभव करता । ऐसी स्थिति में न तो सुख की कामना शेष रहती है न अनुभूति और न ही मृत्यु बोध का भाव । अस्तित्व बोध के अन्तर्गत वह स्थिति आती है जब व्यक्ति अपनी स्वतन्त्र सत्ता को यथावत् कायम रखते हुये सुखों के लिये प्रयत्न करता है अथवा फिर छद्म आत्मबोध से ग्रस्त प्रतीत होता है । वह अपर मूल्यों के सन्धान की बातें करता है किन्तु उन समस्त मूल्यों के मूल्य में उसका अपना मूल्य निहित

रहता है । अस्तित्व बोध के क्षण में मृत्यु का स्वीकार वस्तुत: उसके प्रति अस्वीकार को ही अभिव्यक्ति है । स्वीकार और अस्वीकार की यह स्थिति एक ऐसे द्वन्द्व की रचना करती है जिसमें संघर्षों का नैरन्तर्य अतिक्रमणों प्रयास किया करता है । अतिक्रमणों के माध्यम से अनुभावक वास्तव में समय यानी काल का अतिक्रमण करना चाहता है क्योंकि बोध का गणितीय विज्ञान शाश्वत्ता को खण्डों में विभक्त करके देखने का आदी होता है । खण्डों का विलय शाश्वत्ता का ही रूप है तथा यही मूल सत्ता का रूप भी है । अतिक्रमण की आकुलता जहाँ मूल से जुड़ने की आकुलता है, एकाकार होने की प्रबलतम इच्छा है वहीं अतिक्रमण में अस्तित्व की सुरक्षा प्रयास द्वन्द्वों या संघर्षों के जन्म का कारण भी । इसप्रकार हम कह सकते हैं कि रचना प्रक्रिया का तीसरा सूत्र है मूल सत्ता या आत्मबोध तथा अस्तित्व बोध के मध्य संघर्ष ।

(4) संघर्ष के फलस्वरूप समाज में वर्जनाओं का निर्माण होता है जिससे सुख की आकांक्षायें बाधित होती हैं । मृत्यु का जीवन की वास्तविकता के रूप में स्वीकार उसके प्रति अस्वीकार है जिसके मूल में भय होता है । भय से भीत व्यक्ति दमन का प्रश्रय ग्रहण करता है । वह ऐसी प्रत्येक आकांक्षा को, जो मूल रूप से ऊर्जा की ही अभिव्यक्ति होती है, दमन के गर्त में दफना देता है जो सुखोपलब्धि का संभावित कारण होते हुये भी समाज द्वारा मान्य नहीं होती । मनोविज्ञान की भाषा में दमन की इस यांत्रिकता को ही मनोसंरचना कहते हैं । समस्त वर्जनाओं का जन्म चेतना के बाह्य तलों पर ही होता है । मूल सत्ता में न तो कुछ वर्जनीय होता है न अर्जनीय इसलिये दमन का प्रश्न ही नहीं उठता । कहा जा सकता है कि रचना प्रक्रिया का चतुर्थ सूत्र है सुख की इच्छाओं का दमन ।

(5) प्रत्येक इच्छा मूल रूप से शक्ति की अभिव्यक्ति है । ऐसी स्थिति में आकांक्षाओं का दमन शक्ति का दमन है जो संभव ही नहीं इसीलिये प्रत्येक

दमित आकांक्षा कालान्तर में समाज स्वीकृत रूप में जीवन के तल पर उभरती है । जीवन के चेतन तल पर दमित आकांक्षा का पुन: उदय मनोविज्ञान की शब्दावली में उदात्तीकरण कहलाता है जो दो प्रकार का होता है --

(1) सावरग्रेप्स टाइप :-

इस में व्यक्ति उस वस्तु को कलंकित करता है जिसको प्राप्त करने में असफलता मिली होती है ।

तथा

(2) स्वीट लेमन टाइप :-

इस प्रकार के उदात्तीकरण में व्यक्ति अपनी वस्तु की काफी बड़ाई करता है तथा यह सिद्ध करने का प्रयास करता है कि इस वस्तु का कोई वस्तु से मुकाबला नहीं यह श्रेष्ठ व बहुमूल्य है । ×

इसप्रकार रचना प्रक्रिया का पाँचवाँ सूत्र हुआ दमित आकांक्षाओं का उदात्तीकृत रूप में पुन: उदय ।

(6) दमन और उदात्तीकरण के मध्य व्यक्ति के वंशगत गुण, संस्कार, संस्कृति, राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक तथा शैक्षणिकता के अनेक रन्ध्रमय आवरणों की स्थिति होती है जिनसे गुजर कर ही दमित आकांक्षा उदात्तीकृत रूप में पुन: उदित होती है । इस सब को सम्मिलित संज्ञा परिवेश हो सकती है । अस्तु रचना प्रक्रिया का छठा तथा अंतिम सूत्र हुआ परिवेश ।

हमने यहाँ पर जैवशास्त्र, मनोविज्ञान एवं दर्शन के आधार पर रचना प्रक्रिया के सार्वभौम सामान्य सूत्रों को, जो समस्या संदर्भ में उभरते हैं, लिपिबद्ध करने का प्रयास किया है । यद्यपि ये सूत्र गणित तथा विज्ञान के सूत्रों

× डॉ. लाभ सिंह तथा गोविन्द तिवारी, असामान्य मनोविज्ञान के मूल आधार, पृ. 189.

को भाँति पूर्णत: निर्दोष नहीं हो सकते किन्तु निर्दोषिता को सीमा रेखा के निकटवर्ती तो स्वीकार किये हो जा सकते हैं ।

रचना प्रक्रिया के सूत्र रचना में हो निहित होते हैं । कभी ये सूत्र स्पष्ट होते हैं तथा कभी अस्पष्ट ; कभी प्रत्यक्ष होते हैं, कभी परोक्ष ; कभी रचना को मुख्य धारा से सीधे जुड़े होते हैं तथा कभी अवसर और प्रासांगिकता के कुहासे से घिरे रहते हैं । प्रासांगिकता का कुहासा कभी-कभी इतना सघन हो उठता है कि वह सूत्रों के ग्रहण में कठिनाई उत्पन्न कर देता है । रचना प्रक्रिया के ये सूत्र प्रासांगिकता का आग्रही मानस उन्हें उससे काटकर देखना स्वीकार कर हो नहीं पाता यद्यपि कटाव के इसी तल पर रचना को बहुआयामिता सिद्ध होती है ।

- - - ooo - 5 -
- - ooo - -
- ooo -
-o-
o

खण्ड : दो

2. केन्द्रीय समस्या की तलाश में

2.8. उर्वशी की रचना प्रक्रिया में

2.3. केन्द्रीय समस्या की तलाश में

उर्वशी की रचना प्रक्रिया : कुछ सूत्र :--

गत पृष्ठों में हमने समस्या संदर्भ में उन सूत्रों का निरूपण किया है जो काव्य में ही नहीं अपितु समस्त सभ्यता, संस्कृति एवं कला के मूल में अविभाज्य रूप से अनुस्यूत रहते हैं। कहा यह भी जा सकता है कि हमारी प्रगति की अट्टालिका इन्हीं आधार शिलाओं पर अवस्थित है। यहाँ पर हम इन सूत्रों के उस रूप को प्रस्तुत करने का प्रयास करेंगे जो उर्वशी में उपलब्ध है।

(1) उर्वशी में परम सत्ता का स्वीकार :-

उर्वशी काव्य में परम सत्ता को अनेक स्थलों पर स्वीकारा गया है। देश और काल का अतिक्रमण करने का अर्थ ही है शाश्वत्ता को उपलब्ध होना। यह शाश्वत्ता ही परम सत्ता है जिसका आत्यांतिक रूप ऊर्जा का हो सकता है। इस परम सत्ता की उपलब्धि का प्रयास इसका प्रत्यक्षा स्वीकार है। उर्वशी काव्य में इसका सर्वप्रथम संकेत हमें इसकी भूमिका में ही प्राप्त होता है।

> " परिरम्भाश में बंधे हुए प्रेमी, परस्पर एक दूसरे का अतिक्रमण करके किसी ऐसे लोक में पहुँच जाना चाहते हैं जो किरणोज्जवल और वायवीय है। "×

परिरम्भ पाश में बंधे हुए प्रेमियों को किरणोज्जवल एवं वायवीय लोक में पहुँचने की कामना से सिद्ध होता है कि :-

(1) एक ऐसा लोक है जो इस लोक के पार है।

(2) वह किरणोज्जवल तथा वायवीय है।

(3) उस लोक में उस आनन्द का अनंत भंडार है जिसकी एक झलक प्रेमियों को एक दूसरे के परिरम्भाश में आबद्धता के क्षणों

× रामधारी सिंह दिनकर, "उर्वशी," भूमिका, पृष्ठ "२७".

मिलती है । यदि इस प्रकार कोई आभास उन्हें न प्राप्त हुआ होता तो किसी ऐसेउलोक में पहुँचने की कल्पना या आकांक्षा भी उनके मन में न उठी होती । आकांक्षा का उठना उस लोक का स्वीकार है । यहाँ पर आनन्द की चरम और अनन्त स्थिति को शब्दायित करने के लिए किरणोज्जवल तथा वाय-वीय विशेषणों का प्रयोग किया गया है । क्योंकि आनन्द एक ऐसी स्थिति है जिसे मूर्तता प्रदान की ही नहीं जा सकती । अमूर्त की अनन्तता का स्वीकार किरणोज्जवल तथा वायवीय ही हो सकता है ।

(4) इस किरणोज्जवल तथा वायवीय लोक में नर-नारी परस्पर एक दूसरे की अंग सीमा का अतिक्रमण करके पहुँचना चाहते हैं ।

"उर्वशी" की भूमिका में ही इस परम सत्ता की स्थिति देश और काल की सीमा से परे स्वीकार की गई है ---

" देश और काल की सीमा से बाहर निकलने का एक मार्ग योग है, किन्तु, उसकी दूसरी राह नारी-प्रेम के भीतर से भी निकलती है । "×

(2) सार्वभौम सत्ता का प्रथम मानवीय बोध आनन्द के रूप में :-

सार्वभौम सत्ता का प्रथम मानवीय बोध आनन्द है अन्यथा उसकी ओर आकृष्ट होने का न तो कोई कारण है न उपाय । आनन्दानुभूति के अभाव में आकर्षण सम्भव ही नहीं, किन्तु "उर्वशी " में इसका स्पष्ट स्वीकार है :--

" हम इच्छुक अकुंठ प्रमोद के ।"[2]

अकुंठ प्रमोद की उपलब्धि तो अनायास ही हो सकती है । प्राप्त

× रामधारी सिंह दिनकर, "उर्वशी", भूमिका, पृ. "ग".

2. वही, पृ. 62.

होने का अर्थ है कि कोई ऐसी सत्ता है जिसके द्वारा अक्लुष प्रमोद को उपलब्धि हो सकती है । प्रमोद हो नहीं समस्त जीवन जगत् एक सत्ता से उद्भूत है जिसे ही परम सत्ता के रूप में स्वीकार किया जा सकता है "उर्वशी" इस स्वीकार को स्पष्ट देखा जा सकता है ---

" इसी भाँति, प्रत्येक सुयश सुख विजय सिद्धि, जीवन को
अनायास स्वयमेव प्राप्त मुझको होती आयी है,
यह सब उसकी कृपा, सृष्टि जिनकी निगूढ़ रचना है ।"×

उर्वशी-कार की दृष्टि में यह परम सत्ता ही जीवन और जगत् का उद्गम है ---

" निज उद्गम को ओर सहज हम लौट नहीं पाते हैं
पहुँच नहीं पाते उस अव्यय, एक पूर्ण सविता तक ।"[2]

उससे सब कुछ उद्भूत होता है किन्तु वह शक्ति अनन्त है, अव्यय है । शक्ति के लिए " पूर्ण सविता" तथा अनन्तता के लिए "अव्यय" शब्दों का प्रयोग उसकी महत्ता सिद्ध करते हैं । यह शक्ति का यह पुंज ही जीवन और जगत् की वास्तविकता है ---

" आँखों से देखना, वस्तुओं के वास्तविक हृदय को
और श्रवण करना कानों से आहत उन भावों को,
जो खुलकर बोलते नहीं गोपन इंगित करते हैं । "[3]

जीवन औरजगत् की यह वास्तविकता अमूर्त होने के साथ ही नितान्त गतिक है । गति का सातत्य उसकी अमूर्तता है । गति की चरम सीमा मूर्तता का भ्रम उत्पन्न करती है,[4] किन्तु यह मूर्तता वस्तुत: एक एहसास है । यह असत्य नहीं है क्योंकि इसकी प्रतीति होती है परन्तु यह प्रतीति तथ्य रूप में स्वीकृत भी नही हो सकती क्योंकि उसका रूप सतत गतिशील है । गति के सातत्य को मूर्ताकारों में व्यापीत किया भी कैसे जा सकता है ---

" जिसे खोजता फिरता है तू वह अरूप अनिकेतन

× -2. रामधारी सिंह दिनकर, "उर्वशी", पृ. 34 तथा 47.
3. वही, पृ. 49.
4. "उड़ता हुआ विशिख अम्बर में स्थिर समान लगता है ।" --उर्वशी, पृ.54.

" किसी व्योम पर कहीं देह धर बैठा नहीं मिलेगा
वह तो रहा बह अपनी ही लीला धारा में
कर्दम कहीं, कहीं पंकज बन, कहीं स्वच्छ जल बन कर ।"×

परम सत्ता के इस स्वरूप में द्वैत के लिए कोई स्थान नहीं है । उसका अपना होना ही आत्यांतिकता है । इसलिए उसका अनुभव या उपलब्धि भी द्वन्द्वातीत होकर ही की जा सकती है । उसके अनुभव के क्षणों में और कुछ की बात तो अलग अनुभव कर्ता तथा अनुभव का कोई भी बोध शेष नहीं रहता । अस्तु उसकी उपलब्धि की संभावना मात्र अशेष भाव से ही हो सकती है ---

" उसे देखना हो तो आँखों को पहले समझा दे
श्वेत श्याम एक ही रंग की युगपत संज्ञाएँ हैं
और उसे सूना हो तो कह दे अनेकबाहुओं से
भेद उठा दें शूल-फूल का कमल और कर्दम का ।"2

सार्वभौम सत्ता का मानवीय बोध वस्तुत: उसका आनन्द बोध है । यह आनन्दबोध तर्कगम्य न होने के कारण तर्कातीत भी है ।

परम सत्ता तर्कातीत है :-

इन्द्रियों द्वारा अतीन्द्रिय की उपलब्धि की मानसिकता अद्वैत की मानसिकता है । अद्वैत के इस मानसिक धरातल पर किसी भी विचार के लिए कोई स्थान नहीं है । तर्कों एवं व्याख्याओं का बौद्धिक व्यायाम अंतत: व्यर्थ ही सिद्ध होता है ----

" अर्थ खोजते हो जीवन का ? लड़ो कार्य कारण की
बहुत दूर तक बिछी हुई है पीछे अंधियाले में
चलो जहाँ तक भी अतीत गह्वर में चरण जाएँ पर
मात्र प्रतीक्षा निरत प्रश्न मग में मिलते जायेंगे

× रामधारी सिंह दिनकर, "उर्वशी", पृ. 64.
2. वही, पृ. 65.

" और अन्त में अनाख्येय जो आदि भित्ति आती है,
परे झाँकने को भी उसमें कहीं गवाक्ष नहीं है । "×

सत्ता का अस्तित्व है, यानी सत्ता है । सभी प्रकार के द्वन्द्वों से मुक्त है । निरन्तर गतिशील है इसलिए उसका कोई आकार निश्चित कर पाना संभव नहीं है । सत्ता की महानता या विराटता इतनी कि समस्त विश्व उससे प्रकट होता है और सूक्ष्मता इतनी कि उस पर या उसके सम्बन्ध में विचार का भी प्रवेश नहीं ? उर्वशी में इस प्रश्न का उत्तर यह कह कर दिया गया है कि ---

" हम हैं जहाँ, वहाँ जाने की कोई राह नहीं है ।"[2]

उपर्युक्त कथन से दो आशय स्पष्ट होते हैं ---(1) हमारा अपना होना ही सत्ता की अभिव्यक्ति है तथा (2) हमारे अपने होने का बोध जहाँ समस्त यात्राओं का प्रारम्भ बिन्दु है वहीं सबसे बड़ा छद्म भी यही है । हम अपने स्वरूप को ही उपलब्ध होने के लिए ही दूसरे गन्तव्यों की ओर यात्रा किया करते हैं । दूसरे की यह प्रतीति हमें दूसरे तक ही ले जाती है और इस प्रकार हमारा प्राप्य जो वास्तविक प्राप्य था, अप्राप्य ही रह जाता है । हमारा अपना होना ही ऊर्जा की समग्रता है, समग्रता से यह तात्पर्य ग्रहण करना कि समग्रता हम पर विशेष निश्शेष हो चुकी है और हम से इतर कुछ हो ही नहीं सकता एक अन्य भ्रम है जिसे हमारे अपने बोध ने ही जन्म दिया है । इस व्यक्ति बोध को ही हमने रचना प्रक्रिया के सूत्रों में " अस्तित्वबोध की संज्ञा दी है । दूसरे सूत्र के अन्तर्गत हम इसकी विस्तार से चर्चा करेंगे । अस्तित्वबोध तथा आत्मबोध के मध्य सर्वाधिक महान संकट बोध का अपना संकट है जिससे मुक्त होने के लिए आस्थावादी मानस शरणागति से अधिक उपयुक्त मार्ग का चयन कर ही नहीं सकता है । " उर्वशी"में इसी मार्ग की ओर संकेत करते हुए सत्ता और उसकी अभिव्यक्ति के कृत्रिम बोध को समाप्त करने का प्रयास किया गया है :-

"सत्य स्यात् केवल आत्मार्पण, केवल शरणागति है
उसके पद पर, जिसे प्रकृति तुम में ईश्वर कहता हूँ ।"[3]

×-2,3. रामधारी सिंह दिनकर,"उर्वशी", पृ.65 तथा 69.

(2) अस्तित्व बोध :-

सत्ता की अभिव्यक्ति ही प्रकृति है। व्यक्त होते हुए गति में रहना ही शक्ति का स्वभाव है। इस गति का वह स्वरूप जो अनुभव करता है या जिसे अपने होने का बोध होता है वह व्यक्ति या फिर दर्शन की भाषा में जीव स्वयं है। जीव द्वारा अपने होने भर के अतिरिक्त जो कुछ समझा या जाना जाता है वही प्रकृति है। परम सत्ता की कृति का बोध प्रकृति बोध है। बोध के दो आयाम हैं एक मूर्त या स्थूल तथा दूसरा अमूर्त या सूक्ष्म। मूर्त या स्थूल आयाम जिसमें सब बोध फलित होता है जगत है तथा अमूर्त अथवा सूक्ष्म आयाम को संज्ञा काल या समय है। स्थूल आयाम वह फलक है जिस पर सब कुछ घटता है तथा सूक्ष्म आयाम वह परिवेश है जिसमें सब कुछ घटता है। बोध के विभिन्न आयामों तथा फलकों के मध्य एक तृतीय आयाम भी उभरता है वह अत्यंत सापेक्ष होता है किन्तु यह सापेक्षता अनुभव के स्तर पर स्वतंत्र प्रतीत होता है। वस्तुतः यह तृतीय आयाम ही व्यक्ति का अस्तित्व बोध है। कहा यह भी जा सकता है कि बोध का यह प्रथम आयाम है। सर्वप्रथम उसे अपने होने का बोध होता है। वस्तुतः प्रत्येक बोध किसी न किसी रूप में किसी न किसी मूर्तता का ही बोध होता है।[x] मूर्तता का यह बोध स्थूलायामी फलक पर वस्तुओं का बनना और मिटना देखता है, अपने समानधर्मियों का आना गमनागमन देखता है। यह गत्यात्मक बोध अंतत: मृत्यु बोध है जिसके लिए वह अपने आप को नितान्त अप्रस्तुत अनुभव करता है। उसका होना ऐसे ऐसे अस्तित्व-विस्तार का होना है जिसे प्रत्येक व्यक्ति को अपनी उपस्थिति द्वारा ही परिभाषित किया जा सकता है।[2] उसका यह बोध मृत्यु स्मरण के रूप में उभरता है। जिजीविषा का समस्त प्रयास मृत्यु का गहनतम् अस्वीकार

---

x "... there is no consciousness that is not consciousness of something." David cooper, The Grammer of living, Pelican book, Harmonds worth Middle sex, England, 1976, page 23.

2. Existential space can be seen to be very wide indeed .... and which is defined by the nature of presence of each person." Ibid. p.9.

है :----

" कुछ थोड़ी यह तृष्णा कि कोई ऐसी युक्ति निकालें,
जिससे मृत्यु करों में पड़ने पर भी नहीं मरे हम । "×

तथा मृत्यु का यह अस्वीकार ही प्रबलतम् अस्तित्वबोध की स्थिति है । समस्त समान धर्मियों को मृत्यु पथ का पथिक स्वीकार करना इस बात का प्रतीक है कि उर्वशीकार मृत्यु को स्वीकारते हुए नकारता जा रहा है ---

" और वक्ष के कुसुम कुंज, सुरभित विश्राम भवन ये
जहाँ मृत्यु के पथिक ठहर कर श्रान्ति दूर करते हैं । "2

तथा

" भ्रान्ति यह देह भाव ।"3

अस्तित्वबोध में मृत्युबोध निहित रहता है तथा मृत्यु की जीवन की वास्तविकता स्वीकारकर लेने पर भी व्यक्ति का अन्तर्मन एक विचित्र असहाय स्थिति या विवशता से घिरा रहता है ---

" झुके हुए हम धनुष मात्र हैं, तनी हुई ज्या पर से
किसी और की इच्छाओं के बाण चला करते हैं । "4

तथा इसके साथ ही उसे अपने अस्तित्व का बोध " रक्त" एवं कामना के माध्यम से होता है । कामनाओं 5 की उपस्थिति या उनका उदय उसके अस्तित्व का बोध जिसके मूल में उसका वह रक्त है जो न केवल बलात् अपनी सत्ता का स्वीकार चाहता है प्रत्युत ऐसी अग्नि को उद्दीप्त रखता है जो एक ओर से उसे पाने के भाव से भरती हुई आनन्द की उन निर्मितियों को सृष्टि करती है जिनके स्पंदनों को व्यक्ति बार-बार जीना चाहता है तथा दूसरीओर बौद्धिकता का ऐसा जाल रचती है जिसमें क्लेश लगे

× रामधारी सिंह दिनकर, "उर्वशी", पृ.64.
2.3. वही, पृ. 71 तथा 74.
4. वही, पृ. 34.
5. " मैं मनुष्य कामना वायु मेरे भीतर बहती है" --वही, पृ.34.

वर्जनाओं के तन्तु उसे इस प्रकार जकड़ लेते हैं कि उसको छटपटाहट, उसका द्वन्द्व, आकांक्षाओं के दमन तथा पुनर्हृदय उदात्तीकरण की प्रक्रिया से गुजर कर स सभ्यता, कला संस्कृति और साहित्य का रूप ग्रहण करते हैं ।

(ब) मूल सत्ता तथा अस्तित्वबोध के मध्य संघर्ष :---

मूल सत्ता सतत गतिशील है । अस्तित्व उसकी गति का परिणाम । अस्तित्व बोध उसके अहमात्मक परिज्ञान की अभिव्यक्ति जिसकी प्रखरता मृत्यु की वास्तविकता के समक्ष शीर्षस्थ हो उठती है । आनन्द की परिकल्पना या अनुभव (अनुभव इसलिए क्योंकि एकीकृत स्थिति में द्वन्द्व के लिए कोई स्थान नहीं होता । अस्तित्व का " बोध" एक ओर समग्रता का धूमिल बोध होता है, जो अस्तित्व पूर्व की स्थिति में था इसीलिए उससे पृथक्ता का बोध उसे अनेक रूपों में अपने आप को भरने का प्रयास होता है । इस प्राप्ति को उद्देश्य की पुन: प्राप्ति या (आब्जेक्ट रीफाइन्डिन्ग(कहा गया है ।[x] तथा इस प्रकार प्राप्ति से होने वाले सुख को " प्रतिस्थानापन्न परितृप्ति " " सब्सटीट्यूट ग्रेटीफिकेशन" की संज्ञा दी गई है ।[2] " प्रतिस्थानापन्न" तथा " रिफाइन्डिन्ग " शब्द वस्तुत: उस मूल का संकेत है जिसे फ्रायड मात्र जैविक तल पर स्तन या फिर अधिक से अधिक मिथकीय रूप में इडिपस ग्रन्थि से जोड़ सके । (मूलत: परम सत्ता से जुड़ने की कल्पना का सुख होता है जिसकी क्षद्म अनुभूति जीवन में विभिन्न स्थलों पर हुआ करती है तथा इसके विपरीत संयोजन की इस प्रक्रिया में मृत्यु की वास्तविकता तथा अस्तित्व को बनाए रखने का प्रयास तथा सुखों की आनन्दात्मक स्थिति में मै की स्थिति एक व्यापक द्वन्द्व की रचना करते हैं । वस्तुत: यह समस्त मूल सत्ता तथा उसकी अभिव्यक्ति यानी अस्तित्व बोध के मध्य चलने वाला संघर्ष है । उर्वशी की रचना प्रक्रिया का यह सूत्र उर्वशी में अनेक रूपों में दृष्टिगत होता है । कहीं पर यह मर्त्य

x "Object finding is really refinding" Sigmund Freud, Basic writing of Freud. page 614.

2. Neurotic Symptoms are the substitute gratifications" Norman O. Brown, Life Against Death. page 44.

और स्वर्ग लोक के मध्य होने वाला संघर्ष है; कहीं मनुष्य और देवता के मध्य चलने वाला संघर्ष है ; कहीं बुद्धि और रक्त के मध्य यह अपनी उद्दाम उर्मियों के साथ दृष्टिगत होता है कहीं कामानन्द और अमर मूल्यों के सन्धान के मध्य स्थित अपराधबोध को दबी-सी अभिव्यक्ति है । यहाँ पर इस संघर्ष के विभिन्न रूपों को ही प्रस्तुत करेंगे ।

(क) मर्त्य और स्वर्ग लोक के मध्य संघर्ष :-

उर्वशी काव्य में मर्त्य और स्वर्ग लोक के मध्य तुलना अनेक स्थानों पर पाई जाती है । प्रत्येक तुलना अपने मूलरूप में कलाकार के मन का संघर्ष होती है । तुलना के माध्यम से कलाकार अपने अन्त: करण में चल रहे उस द्वन्द्व को व्यक्त करता है जो उसके तथा उसके आदर्श के मध्य होता रहता है । कला में यह द्वन्द्व उदात्तीकृत रूप में व्यक्त होता है किन्तु उदात्तीकरण के दोनों रूप -- खट्टे अंगूरोंवाला (सावर ग्रेप्स टाइप) तथा मधुर निम्बुओंवाला (स्वीट लेमन टाइप) -- इसमें सरलता से देखे जा सकते हैं । संघर्ष की प्रासांगिकता कोई भी क्यों न हो अन्तत: यह कलाकार का अपना मानसिक संघर्ष ही होता है जो उसकी कला में अनेकानेक माध्यमों से झलका करता है । यहाँ पर कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं :-

" क्योंकि मर्त्य तो अमर लोक को पूर्ण मान बैठा है
पर कहते हैं स्वर्ग लोक भी सम्यक् पूर्ण नहीं है । "×

× × × × × ×

" एक स्वाद है त्रिदिव लोक में एक स्वाद वसुधा पर,
कौन श्रेष्ठ है, कौन हीन है कहना बड़ा कठिन है ।"2

× × × × × ×

" कौन भेद है, क्या अन्तर है धरती और गगन में " 3

× रामधारी सिंह दिनकर, "उर्वशी", पृ. 3
2. वही, पृ. 3
3. वही. प. 5.

" प्रश्न उठे या नहीं, किन्तु प्रत्यक्ष एक अन्तर है
मर्त्य लोक मरने वाला है, पर, सुर लोक अमर है । "×

× × × ×

भू को जो आनन्द सुलभ है नहीं प्राप्त अम्बर को ।"[2]

× × × ×

" कौन व्यथा उर्वशी भला पायेगी भू पर जाकर ।"[3]

× × × ×

" ---------- यह महो बड़ो कुत्सित है । "[4]

× × × ×

" रोग, शोक, सन्ताप, जरा, सब आते हो रहते हैं,
पृथ्वी के प्राणी विषाद नित पाते ही रहते है । "[5]

× × × ×

" उफ । ऐसी है क्षणिक भूमि ? तब तो उर्वशी हमारी
सचमुच ही कर रही नरक में जाने की तैयारी । "

× × × ×

अब तो मुझे यही रौरव -सी [illegible] पड़ती दिखलाई है ।"[6]

× × × × ×

स्वर्ग भूल गया तुम्हें भी मिट्टी की माया में "[7]

× × × ×

" स्वर्ग स्वप्न का जाल, सत्य का स्पर्श खोजती हूँ मैं
नहीं कल्पना का सुख, जीवित हर्ष खोजती हूँ मैं । "[8]

" × × × × ×

" यह धरती यह गगन, मृगों से हरे भरे अटवी यह,
ये प्रसून, ये वृक्ष स्वर्ग में बहुत याद आयेंगे ।" [9]

×-2. रामधारी सिंह दिनकर, "उर्वशी", पृ.6.
3,4,5,6. वही, पृ. 11.
7. वही, पृ. 12.
8. वही, पृ. 14.
9. वही, पृ. 97.

" स्वर्गवासिनी मैं श्रद्धा से नमस्कार करती हूँ
अविनश्वर, सौन्दर्यपूर्ण, नश्वर इस महामही को ।
× × × ×
कितना कम स्वर्गीय स्वर्ग सुरपुर है इस वसुधा से "×
× × × ×
" सखी स्वर्ग में जो अलभ्य है, उस आनन्द मदिर का
इसी सरस वसुधा पर मैंने छक कर पान किया है । "2
× × ×
" सखि पृथ्वी का प्रेम प्रभामय कितना दिव्य गहन है ।
× × × ×
" यह प्रदीप्त आनन्द कहाँ सुरपुर की शीतलता में ?
पारिजात द्रुम के फूलों में कहाँ आग होती है ?
यह तो यही मर्त्य जगती है, जहाँ स्वर्ग के सुख से
अंन्धकार में प्रभापूर्ण वातायन खुल जाते हैं । " 3

(ख) मनुष्य और देवता के मध्य संघर्ष :-

उर्वशीकार के मानस में चल रहे द्वन्द्व का एक पक्ष जहाँ मर्त्य और स्वर्गलोक की तुलना के रूप में प्रकट हुआ है वहीं उसका दूसरा पक्ष मनुष्य और देवता को लेकर निरन्तर दोलायमान प्रतीत होता है । इस तुलना के द्वारा भी उसका मानस एक पर दूसरे की श्रेष्ठता स्थापित करने का प्रयास करता है । वस्तुतः उसका यह प्रयास भी उस अन्तर्द्वन्द्व की वाह्याभिव्यक्ति है जो उसके मानस की गहराइयों में सतत संघर्षशील है । कदाचित यह स्वीकार कर लिया जाय कि उर्वशीकार की अपनी दृष्टि में मानव श्रेष्ठ है इसलिए वह उसकी श्रेष्ठता की स्थापना करता है । तो प्रश्न उठता है कि यदि मानव श्रेष्ठ भी है तो उसकी इस विश्वास में गहन आस्था होनी चाहिए । गहनतम् आस्थाएँ किसी विश्व स्थापना की अपेक्षा नहीं रखतीं । आस्था या विश्वास को लेकर जब भी कुछ भी स्थापित करने का प्रयास किया जाता

× रामधारी सिंह दिनकर, "उर्वशी", पृ. 98.

2-3. वही, पृ. 99,

है उसका प्रतिबल निकट ही होता है । देवता को सदा से मानव से श्रेष्ठ मानने का एक गहरा प्रभाव उर्वशीकार पर प्रतीत होता है जिसका खण्डन वह अपनी मान्यताओं द्वारा करना चाहता है अस्तु उसके इस प्रयास से उसके अन्तर्मन मन में चल रहे संघर्ष को ध्वरेखा और अधिक स्पष्ट हो जाती है । प्रस्तुत मत के समर्थन में यहाँ पर हम उर्वशी के उन अंशों को उद्धृत कर रहे हैं जिनके द्वारा मनुष्य और देवता में तुलना की गई है और एक पर दूसरे की श्रेष्ठता स्थापित करने का प्रयास किया गया है :---

" हम चाहते तोड़कर बंधन उड़ना मुक्त पवन में,
कभी -कभी देवता देह धरने को अकुलाते हैं । "×

× × × ×

" अमिट, स्निग्ध निर्धूम शिखा सी देवों की काया है,
मर्त्यलोक की सुन्दरता तो क्षण भर की माया है ।

× × × ×

हम कितने विवश गन्ध पीकर रह जाते हैं
स्वाद विविध व्यंजनों का न कभी रसना से ले पाते हैं ।

× × × ×

किन्तु मर्त्य जीवन पर ऐसा कोई बन्ध नहीं है,
रूके गन्ध तक, वहाँ प्रेम पर यह प्रतिबन्ध नहीं है ।

× × × ×

नर के वश की बात, देवता बने कि नर रह जाये,
रूके गन्ध पर या बढ़कर फूलों को गले लगाए
पर सुर बने मनुज भी, वे यह स्वत्व न पा सकते हैं
गन्धों की सीमा से आगे देव न जा सकते हैं ।

× × × ×

क्या है यह अमरत्व ? सभी रों सा सौरभ होना है,

× × ×

पर सोचो तो, मर्त्य मनुज कितना मधुरस होता है,
दो दिन ही हो, पर कैसा वह धधक-धधक जीता है ।"[2]

× रामधारी सिंह दिनकर, "उर्वशी". पृ. 3
2. वही, पृ. 6.

" इन ज्वलंत वेगों के आगे मलिन शाँति सारी है
क्षण भर की उन्मद तरंग पर चिरता बलिहारी है ।"

× × × ×

मर्त्य नर को देवता कहना मृषा है,
देवता शीतल मनुज अंगार है ।
देवताओं की नदी में ताप की लहरें न उठतीं,
किन्तु नर के रक्त में ज्वालामुखी हुँकारता है,
घूर्णियाँ चिनगारियों की नाचतीं हैं,
नाचते उड़कर दहन के खण्ड पर्तों से हवा में
मानवों का मन गढ़े पिघले अनल की धार है ।

× × × ×

वे रक्त होंगे, शुचि सौम्य पुष्प अम्बरपुर के शीतल सुन्दर,
दें उन्हें किन्तु, क्या दान स्वप्न जिनके लोहित सन्तप्त प्रखर ?
यह तो नर हो है जो एक साथ शीतल और ज्वलित भी है,
मन्दिर में साधक वृती, पुष्प वन में कन्दर्प कलित भी है ।

× × × × ×

द्वन्द्व झूलते जिसे, सत्य हो वह इस अभी मनुज है,
देवी वह जिसके मन में कोई संघर्ष नहीं है । " ×

मनुष्य की श्रेष्ठता की स्थापना :-

" तू पुरुष तभी तक, गरज रहा जब तक भीतर यह वैश्वानर ।"[2]

× × × × ×

" सुरपति तब तक ही सावधान रहते बढ़ कर अपनाने को,
अप्सरा स्वर्ग से आती है अधरों का चुम्बन पाने को ।

× × × × × ×

यह विकल, व्यग्र, विह्वल प्रहर्ष सुर को सुन्दरी कहाँ पाये ?
प्रज्वलित रक्त का मधुर स्पर्श नभ की अप्सरी कहाँ पाये ?"[3]

× रामधारी सिंह दिनकर, "उर्वशी", पृ. 6, 41 तथा 43.
2-3. वही, पृ. 42-43.

बुद्धि और रक्त के मध्य संघर्ष :--

बुद्धि से तात्पर्य उस बोध से है जो जीवन और जगत को खण्डित रूप में व्यक्ति के समक्ष प्रस्तुत करता है, जो श्रेय और प्रेय के मध्य स्पष्ट विभाजक रेखा खींचता है; जो तर्कों को जुटाता है तथा जागरूकता का दावा प्रस्तुत किया करता है जबकि रक्त अखंड रूप से जीवन और जगत को देखने का वह प्रयास है, जिसमें समस्त विभाजक रेखाओं का विलय हो जाताहै । रक्त का साम्राज्य भावनाओं का साम्राज्य होता है जिसमें तर्कों का प्रवेश वर्जित होता है । रक्त जीवन के जैविक स्पंदनों के अधिक निकट है वह ग्रहण को प्रवृत्ति है, प्राप्य की कठिनता उसे उत्पन्न करती है ; बुद्धि शमन और संयम का आदि मूल है । रक्त जैव तल का सहजता है जिसे अनुचित सिद्ध करने के लिए बुद्धि उसे पशुता को निकटवर्ती बोध सिद्ध करती है जबकि बुद्धि मानसिकता को ऐसी उपज है जो अपर मूल्यों को महत्वपूर्ण मानते हुए वर्जनात्मक जीवन दृष्टिकोण की स्थापना करती है । व्यक्ति अपनी ही उलझनों में ग्रस्त निरन्तर संघर्षरत दृष्टिगत होता है । कह सकते हैं कि रक्त परम सत्य से एकीकृत होने की सहज प्रक्रिया है जबकि बौद्धिकता अस्तित्वबोध युक्त मानव का अहंमात्मक एकीकरण । अहं को लेकर परम सत्ता के साथ एकीकरण संभव हो नहीं किन्तु बौद्धिकता उसके परित्याग के लिए प्रस्तुत नहीं । रक्त जैविक तल पर सत्ता से एकीकृत होने की अभिलाषा सुखात्मक अनुभूतियों के रूप में प्रस्तुत करता है जिसकी क्षणिकता अनुभूति व्यक्ति को संभोग के क्षणों में होती है, व्यक्ति बार-बार उन्हीं क्षणों को झलक पाने के लिए आकुल रहता है किन्तु उसकी बौद्धिकता उसे तिरस्कृत करती है । उर्वशी में इस प्रकार के द्वन्द्वमय संघर्ष को सरलता से देखा जा सकता है । व्यक्ति का आन्तरिक संघर्ष उसे संयोग के क्षणों में भी उदासीन बना देता है :--

" तन से मुझको कसे हुए अपने दृढ़ आलिंगन में,
मन से, किन्तु, विषण्ण दूर तुम कहाँ चले जाते हो ?"×

× रामधारी सिंह दिनकर, "उर्वशी", पृ. 35.

" क्षण में प्रेम अगाध सिन्धु हो आलोड़न में जैसे,
और पुनः वह शान्ति नहीं जब पत्ते भी हिलते हैं ।
अभी दृष्टि युग-युग के परिचय से उत्फुल्ल हरी -सी ;
और अभी यह भाव, गोद में पड़ी हुई मैं जैसे
युवती नारी नहीं, प्रार्थना की कोई कविता हूँ । "×

× × × ×

" आग हैरत कोई नहीं जो शान्त होती
और खुलकर खेलने से भी निरन्तर भागती है । "2

× × ×

" रक्त की उत्तप्त लहरों की परिधि के पार
कोई सत्य हो तो,
चाहता हूँ भेद उसका जान लूँ ।

× × ×

पर जहाँ तक भी उड़ूँ इस प्रश्न का उत्तर नहीं है ।

× × ×

इस व्यथा को झेलता
आकाश की निस्सीमता में
घूमता फिरता विकल, विभ्रान्त
पर कुछ भी न पाता । " 3

श्रेय और प्रेय के मध्य चलनेवाला संघर्ष व्यक्ति को श्रेय के निकट तो पहुँचने देता ही नहीं उसे प्रेय का उपभोग करने से भी रोकता है । एक ओर व्यक्ति की बौद्धिक निर्मितियाँ उसे ऊँची उड़ानों के लिए प्रेरित करतीं जब कि दूसरी ओर रक्त की उष्णता उसे जैव तल की ओर आकृष्ट करती है --

" कामनाएँ प्राण को झिंझोरतीं हैं ।
चुम्बनों के चिह्न जग पड़ते त्वचा में ।
फिर किसी का स्पर्श पाने को तृषा चीत्कार करती । "4

×,2,3. रामधारी सिंह दिनकर, "उर्वशी", पृ. 35,36, तथा 37.
4. वही, पृ. 38.

" फिर क्षुधित कोई अतिथि आवाज देता,
फिर अधर पुट खोजने लगते अधर को,
कामना छू कर त्वचा को फिर जगाती है,
रेंगने लगते सहस्रों साँप सोने के रुधिर में,
चेतना रस की लहर में डूब जाती है । "×

× × ×

" कामनाओं के इकोरे रोकते हैं राह मेरे,
खींच लेती है तृषा पीछे पकड़ कर बाँह मेरे ।"[2]

उर्वशी में इस प्रकार के अन्तर्द्वन्द्वों को प्रकट करने वाले अनेक सूत्र बिखरे पड़े हैं । हम विस्तार भय से उन सबको यहाँ प्रस्तुत नहीं कर रहे हैं । अन्तः संघर्ष का एक रूप वह भी है जिसमे जैव तल की आकांक्षा को निम्नकोटि की मानकर[3] उससे दूर अमर मूल्यों के सन्धान में देशकाल के अतिक्रमण की आकुलता लक्षित होती है । ऐसे सम्बन्धी कतिपय उद्धरणों को यहाँ प्रस्तुत करना अनुचित न होगा :---

" अमर जो द्युतिमान मनोमय जीवन झलक रहा है,
उसे प्राप्त हम कर सकते हैं तन के अतिक्रमण से । "[4]

× × × ×

" तन का अतिक्रमण , यानी इन दो सुरम्य नयनों के
वातायन से झाँक देखना उस अदृश्य जगती को
जहाँ मृति की सोमा सूनेपन में बिला रही है । "[5]

उर्वशीकार की यह मान्यता कि देह का अतिक्रमण करके ही व्यक्ति अन्तरात्मा को उपलब्ध हो सकता है उसके अन्तर्मन के उस संघर्ष का स्पष्ट परिचय है जो मूलसत्ता की उपलब्धि तथा अस्तित्वबोध के मध्य सतत चलता

× रामधारी सिंह दिनकर, "उर्वशी", पृ. 38.
2. वही, पृ. 39.
3. हाय, तृषा फिर वही तरंगो में गाहन करने की ।
कहाँ उच्च वह शिखर काल का जिस पर अभी विलय था ?
और कहाँ यह तृषा ग्राम्य नीचे आकर बहने की ।"--उर्वशी, पृ.59-60.
4-5. वही, पृ. 48-49.

रहता है । कवि अस्तित्व को तप्त ज्वलन के रूप में स्वीकार करता है तथा परम सत्ता को दीपक की सौम्य शिखा के रूप में :--

" यह अतिक्रान्त वियोग नहीं, शोणित के तप्त ज्वलन का
परिवर्तन है स्निग्ध, शान्त दीपक की सौम्य शिखा में ।"×

अस्तित्व से सत्व तक की यात्रा में अस्तित्व वह विन्दु है जहाँ से यात्रा का प्रारम्भ होता है तथा सत्व या परम सत्ता वह गन्तव्य है जहाँ तक की यात्रा होती है किन्तु मार्ग की अपनी कठिनाइयाँ ही पथिक का संघर्ष हैं :--

" ले जाना है यह अमूल नगपति के तुंग शिखर पर,
वहाँ जहाँ कैलास प्रान्त में शिव प्रत्येक पुरुष है
और शक्तिदायिनी शिवा प्रत्येक प्रणयिनी नारी
पर कैसा दु:साध्य पन्थ है कितना उड्डयन कठिन है।"2

मार्ग की कठिनता के मूल में भी व्यक्ति स्वयं है क्योंकि :-

" पहले तो मधुसिक्त भँवर ये पंख नहीं खुलते हैं ;
और खुले भी तो उड़ान आधी ही रह जाती है ;
नीचे उसे खींच लेता है आकर्षण मधुवन का । "3

अतिक्रमण का यह प्रयास ही वस्तुत: संघर्षों का ही प्रतिफलन है सबसे पहले देश और काल की सीमाओं का ही अतिक्रमण करना चाहता है । समय की सीमा रेखा के पार जाने का अर्थ है शाश्वतता की धारा से सम्पर्कित होना । इस धार की सबसे बड़ी विशेषता इसमें देश और काल का विलय है :--

" अतल, अनादि अनन्त पूर्ण बृंहित अपार अम्बर में
सीमा खींचे कहाँ ? निमिष, पल, दिवस, मास संवत्सर
महाकाश में टँगे काल के लत्तक से लगते हैं । "4

× रामधारी सिंह दिनकर, "उर्वशी", पृ. 50.

2, 3. वही, पृ. 50.

4. वही, पृ. 54.

" सिन्धु, विन्ध्य हिमवान खड़े हैं दिगायाम में जैसे
एक साथ, त्यों काल देवता के महान प्रांगण में
भूत भविष्यत वर्तमान, सब साथ-साथ ठहरे हैं । "[1]

समय के पार का जो सम्भावित बोध है वह शून्यता का हो हो सकता है । यह शून्यता हमारे बोध को अन्तिम परिणति तथा उर्जा या शक्ति को चरम अवस्था है :----

" महा शून्य का उत्स हमारे मन का भी उद्गम है,
बहती है चेतना काल के आदि मूल को छू कर ।
× × × ×
काल रन्ध्र भर हमारे साँसों के सौरभ से ।
अन्तर्नभ का यह प्रसार । यह परिधि-भंग प्राणों का ।
सुख को इस अपार महिमा को कहाँ समेट धरें हम ? "[2]

प्राणों को परिधि के टूटने पर ही काल रन्ध्र की पूर्ति अन्तर्नभ के प्रसार से संभव है और भराव के इस प्रयास में सुख को अपार महिमा का बरस जाना स्वाभाविक है किन्तु सुख को इस अपार महिमा को समेटने के लिए भी अद्भुत वैराग्य की आवश्यकता है । विराटता की चरम स्थिति भी शून्य की स्थिति ही है :--

" महा शून्य के अन्तरगृह में उस अद्वैत भवन में
जहाँ पहुँच दिक्काल एक है, कोई भेद नहीं है ।"[3]

उपर्युक्त उद्धरणों से कदाचित ऐसा प्रतीत हो सकता है कि इनमें संघर्ष की कोई स्थिति नहीं है । सभी कुछ नितान्त स्पष्ट और सपाट प्रतीत होता है । किन्तु इस समस्त वर्णन की पृष्ठभूमि में व्यक्ति के अस्तित्वबोध को नकारा नहीं जा सकता । ज्ञान की समस्त पूँजी के पीछे उसका अपने पन का बोध पूर्ववत् है । यह बोध निम्न उदाहरण से और भी अधिक स्पष्ट हो जाता है :---

" रुको समये -सरिते । पल । अनुपल । काल -शक्ति घटिकाओं ।

× रामधारी सिंह दिनकर, "उर्वशी", पृ. 55
2-3. वही, पृ. 55.

" इस प्रकार, आतुर उड़ान भर कहाँ तुम्हें जाना है ?
कहीं समापन नहीं ऊर्ध्वगामी जीवन की गति का,
क्या पयोनिधि का त्रिकाल में कोई कूल नहीं है ।
कहीं कुण्डली मार बैठ जाओ नक्षत्र निलय में । " ×

व्यक्ति को सबसे बड़ी विडम्बना उसका अहं है । ज्ञान की विपुल विराटता उसके सामने बौना जाती है । वह सम्पूर्ण ज्ञान को आत्मसात करता है । समस्त स्थितियों से निकटतम परिचय प्राप्त करता है, एकीकरण की सैद्धान्तिक स्थापना करता है किन्तु इस सबके मध्य उसका अपना होना निरन्तर निहित रहता है । सत्व का प्रसार अर्थात् बिखराव ही तो व्यक्तित्व है और उसका पुनर्संयोजन एकीकरण । पुनर्संयोजन का प्रयास ही चरम संघर्ष है ।

प्रत्येक बोध व्यक्ति का अपना बोध होता है । प्रणय के मादक क्षणों में जैव तल की सनसनाहट से लेकर मुक्ति तक का समस्त ~~अनुभव~~ बोध व्यक्ति का अपना निज का बोध होता है । स्वीकार तथा अस्वीकार के निकष उसका वह सांस्कृतिक बोध है जो उसे परम्परा की धरोहर के रूप में प्राप्त होता है ; जिसके लिए उसका परिवार और समाज उसे विशेष रूप से प्रशिक्षित करता है । यह कहना लगभग असंभव है कि व्यक्ति की समग्र समझ की पृष्ठभूमि के निर्माण में कितना भाग व्यक्ति का अपना होता है और कितना दूसरों द्वारा दिये गए प्रशिक्षणों का । अनासक्ति द्वारा प्रणय को पवित्र करने का प्रयास[2]- वस्तुत: उसके अपराध बोध का प्रतीक है । अपराध बोध की स्थिति भी अन्त: संघर्षों की द्योतिका है ।

जहाँ तक दमन, उदात्तीकरण तथा परिवेश के अध्ययन का सम्बन्ध है इनका अध्ययन वस्तुनिष्ठ न होकर व्यक्ति निष्ठ होता है । तात्पर्य यह कि इनका सीधा और गहरा सम्बन्ध कलाकार के व्यक्तिगत जीवन और

× रामधारी सिंह दिनकर, "उर्वशी", पृ. 54.

2. " नहीं इतर इच्छाओं तक हो अनासक्ति सीमित है,
उसका किंचित स्पर्श प्रणय को भी पवित्र करता है । "
----उर्वशी, पृ. 34.

व्यक्तित्व से होता है जिसका विवेचनात्मक अध्ययन हम अगले अध्याय में प्रस्तुत करेंगे ।

स्वतंत्र रूप से कलाकार के व्यक्तित्व को लेकर इन सूत्रों का अध्ययन इस लिए भी आवश्यक है क्योंकि उसका दमन ही परिवेश के प्रभावों से संयुक्त होकर कला या रचना के रूप में प्रतिफलित होता है । कलाकार रचना को अपने वैयक्तिक स्तर पर जीता है, उसका संवेदनशील मन अनेक स्पंदनों को आत्मसात् करते हुए महसूसा करता है, इसप्रकार जब अन्तर के तल पर रचना परिपक्व हो चुकती है तब अचानक समस्त आवरणों को फोड़ एक दिन सहसा प्रकट हो जाती है । रचना दमन का उदात्तीकृत रूप होते हुए भी किसी न किसी संकेत रूप में इन सूत्रों को अंकस्थ किये ही रहती है । यहाँ पर हम इन्हीं संकेत सूत्रों की ओर एक इंगित भर करेंगे --- ।

(4) सुख की आकांक्षाओं का दमन :-

सुख की आकांक्षाओं का दमन अर्थात् वर्जनाओं का स्वीकार । समस्त वर्जनायें वस्तुत: उस प्रशिक्षण का परिणाम होती हैं जिन्हें सामाजिक व्यक्ति -संस्कृति -सभ्यता और नैतिकता के परम्परा के रूप में अपने पूर्वजों से एक अच्छे जीवन यानी सुखात्मक जीवन की आशा के रूप में ग्रहण करता है ; यह नितान्त महत्वहीन है कि उसके इस तथा कथित या कल्पित सुख की आशा का विस्तार काल किसने परिमाण में है ? कहीं-कहीं तो --- अधिकांशत: इसका विस्तार जीवन और मृत्यु की सीमाओं का भी अतिक्रमण कर जाता है -- जैसे मृत्यु के पश्चात् स्वर्ग की उपलब्धि । स्वर्ग से हमारा -- यानी स्वर्गाकांक्षाओं का -- तात्पर्य सुख के समस्त साधनों से होता है जिन्हें हम प्रयत्न करके भी अपने जीवन में नहीं जुटा पाते हैं । भौतिकवादी दृष्टिकोण से जो लोग कुछ सुखोपभोग के साधन जुटा भी लेते हैं तो उन्हें उनके नष्ट हो जाने का या फिर अपने नष्ट हो जाने का भय आ दबोचता है । कदाचित कुछ बिरले जीवट के लोग यदि इससे मुक्त हुए तो परमात्मा -- जो वस्तुत: समस्त सुखों की चरम स्थिति है, की चिन्ता घेरे रहती है । फिर इस परमात्मा की प्राप्ति के लिए करणीय तथा अकरणीय कार्यों की संहिता

अनिवार्य हो उठती है । इस सब को एक शब्दीय व्याख्या फलासक्ति हो सकती है । फलासक्ति दूसरों को समझाने के लिए अच्छा शब्द है किन्तु समस्त फलों की आसक्तियों से मुक्त होने की कामना भी तो एक प्रकार की फलासक्ति ही है । इस स्थिति में समस्त प्रयासों का फल फलों की आसक्ति से मुक्त होना हो जाता है । तात्पर्य यह है कि आसक्तियों की निर्मितियाँ सूक्ष्म हो सकती हैं परन्तु वे समाप्त होती प्रतीत नहीं होतीं । उर्वशी में इस फलासक्ति को लेकर कुछ सूत्र यत्र-तत्र बिखरे हुए मिलते हैं । इस सम्बन्ध में यह महत्वपूर्ण नहीं है कि उसका प्रसंग क्या है ? महत्वपूर्ण है आसक्ति का भूत जो आदिकाल से मनुष्य को दौड़ा रहा है । मुक्ति का विरोध या समर्थन दोनों ही आसक्ति की उपस्थिति की सूचनाएँ हैं । आसक्ति की इसी कुक्षि से वर्जनाओं का जन्म होता है क्योंकि प्रत्येक आसक्ति अपने मूल में सुख की ही आकांक्षा होती है ।

दमन के मूल में वर्जनाएँ होती हैं जिनकी अभिष्कर्त्ता बुद्धि होती है । उर्वशी में बुद्धि का निर्देश इस प्रकार किया गया है ----

" पढ़ो रक्त की भाषा विश्वास करो इस लिपि का ;
यह भाषा यह लिपि मानस को कभी न भरमायेगी
चली बुद्धि की भाँति जिसे सुख-दुख से भरे भुवन में
पाप दीखता वहाँ जहाँ सुन्दरता हुलस रही है,
और पुण्य भय वहाँ कंकाल कुलिश काँटे हैं । " ×

विश्व को विभाजित करके देखना बुद्धि का अपना स्वभाव है । जहाँ भी विभाजन है उसके मूल में मानवीय चयनता का होना अनिवार्य है । प्रत्येक चयन से वर्जना और दमन की ही अन्ततोगत्वा सिद्धि होती है--

" जब तक प्रकृति विभक्त पड़ी है श्वेत-श्याम खंडों में
विश्व तभी तक माया का मिथ्या प्रवाह लगता है ।
किन्तु शुभाशुभ भावों से मन के तटस्थ होते ही ,

× रामधारी सिंह दिनकर, "उर्वशी", पृ. 46.

" न तो दीखता भेद न कोई शंका ही रहती है । "×

तथा

' राग-विराग दुष्ट दोनों, दोनों निसर्ग-द्रोही हैं ।
एक चेतना को अजुष्ट संकोचन सिखलाता है,
और दूसरा प्रिय, अभीष्ट सुख की अभिमत दिशा में,
कहता है बल सहित भावना को प्रसरित होने को । "[2]

वयन और परित्याग को लेकर यानी वर्जनाओं के सम्बन्ध में उर्वशी में स्पष्ट संकेत है कि ----

" विधि -निषेध है जहाँ, वहाँ पर कर्म अकाम नहीं है ;
विधि-निषेध कुछ नहीं, नियम है वे अर्जन-वर्जन के । "[3]

जीवन की पृष्ठभूमि में वर्जनाओं की व्याप्ति का यह स्पष्टतम् संकेत है ---

" और जहाँ अर्जन वर्जन का गणित चला करता है,
कह सकते हो, जग प्रहरियों की उस बड़ी सभा में,
एक जीव भी है जिसके कर्मों का ध्येय नहीं है ?"[4]

हमें मुक्त रूप से यह स्वीकार करलेना चाहिए कि, कुछ लोग स्यात् ऐसे हों जो बिना किसी उद्देश्य या चयन की प्रवृत्ति के कार्य रत हों, अधिकांश लोग कालासक्ति से ग्रसित ही होते हैं । जहाँ तक चयनता का प्रश्न है वह गृहत्यागी साधू-सन्यासियों में भी देखी जा सकती है । निस्पृह दिखाई पड़नेवाले भी अपने सामने उद्देश्य अवश्य रखते हैं और उस उद्देश्य की प्राप्ति ही उनकी कालासक्ति है । कालासक्ति से वर्जनाओं तक तथा वर्जनाओं से कालासक्ति तक की यात्रा में दमन का महत्व अकथनीय है । इसे नकारना संभव ही नहीं । जब भी हम कुछ चुनते हैं तो उससे इतर पर भी हमारी

× रामधारी सिंह दिनकर, "उर्वशी", पृ. 61.
2,3. वही, पृ. 62 तथा 63.
4. वही, पृ. 63.

दृष्टि होती है । इस अवयित भग का अपना एक अलग आकर्षण होता है जिसे हम कई कारणों से दमित कर लेते हैं । वस्तुत: यहाँ पर हमारा उद्देश्य मात्र उन संकेतों को ओर इंगित करना भर था जो उर्वशी को रचना प्रक्रिया में दमन को रेखांकित करते हैं , इनका विस्तृत विवेचन हम उर्वशीकार के व्यक्तित्व को लेकर अगले अध्याय में करेंगे ।

उदात्तीकरण तथा परिवेश - इन दो सूत्रों के सम्बन्ध में सबसे प्रमुख बात यह है कि दमन के पश्चात् उदात्तीकरण तक की यात्रा के मध्य मानवीय चेतना को परिवेश के विभिन्न आयामों से गुजरना होता है । इन आयामों से गुजर कर ही दमित आकांक्षाओं का उदात्तीकरण होता है । परिवेश के आयामों के सम्बन्ध में विचार करते समय हमने कलाकार के वंश, संस्कार, सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक वातावरण का उल्लेख किया था जिनका विस्तृत अध्ययन यद्यपि आगामी अध्याय में किया जायेगा किन्तु उर्वशी को केन्द्रबिन्दु में रखते हुए उसके व्यक्तित्व के सम्बन्ध में जो कतिपय रेखायें उभरती हैं वे इस प्रकार हो सकती हैं -----

(1) उर्वशीकार के मन में देवत्व एक स्पृहणीय वस्तु है जिसे प्राप्तकरने के लिए उसका आकुल मन प्रयास करता है × किन्तु इस प्रयास का रूप [2] मानव की श्रेष्ठता की स्थापना है ।[3]

(2) उर्वशीकार को इतिहास तथा पुराणों का ज्ञान है ।

(3) आर्थिक दृष्टिकोण से विपन्नता एवं संपन्नता दोनों ही स्थितियों से उर्वशीकार भली भाँति परिचित है ।

(4) उर्वशीकार प्राचीन जैविकता तथा आधुनिकता के बोध मध्य किसी भी निश्चययत्मक बिन्दु पर नहीं पहुचाता ।

(5) वह एक ओर रूप के चाकचिक्य से प्रभावित प्रतीत होता है तथा दूसरी ओर उसका पौरुष दीप्त संस्कारी मन आदर्शों को

× रामधारी सिंह दिनकर, "उर्वशी" देखिए पृ. 3,6,11,14,42.

2. वही, पृ. 115.

3. वही, पृ. 6,12,42,43,97,98 आदि ।

खोज में भटकता रहता है । उसका मन आदर्श और यथार्थ के मध्य सतत संघर्ष रत प्रतीत होता है ।

(6) रूप को भोगने में जैविक क्षमता उसकी मानसी क्षुधा पर अनेक प्रश्न चिह्न आरोपित करती प्रतीत होती है ।

हमने यहाँ पर व्यक्तित्व की संभावित रेखाओं का अंकन किया है जो उस समय तक प्रमाणित स्वीकार नहीं किया जा सकता जब तक उर्वशी-कार के व्यक्तित्व का प्रमाणिक अध्ययन व्यक्तित्व विश्लेषण सहित न प्रस्तुत किया जाय ।

(6) उदात्तीकरण :-

स्थूल रूप से समस्त रचना दमित ऊर्जा का उदात्तीकरण होती है । परन्तु सूक्ष्म रूप से इसे विशेष विश्लेषित करते समय जो प्रमुख विचार हमारे सामने आता है वह यह कि उदात्तीकरण कृत रूप दमित आकांक्षा का रचनामय ऐसा रूप है जो समाज स्वीकृत है । ऐसी स्थिति मे दमित आकांक्षा जिस रूप में पहली बार उभरती है वह समाज द्वारा अस्वीकृत रूप में ही होती है । समाज की यह स्वीकृति तथा अस्वीकृति देश-काल सापेक्ष होती है । इसके साथ ही बहुत संभव है मुख को यह इच्छा किसी ऐसे रूप में प्रथम बार उदित हुई हो जो जैव तल पर या व्यावहारिकता के स्तर पर निम्नकोटि की प्रतीत हो परन्तु दमित होने के पश्चात् जिसे हम प्राय: छद्म रूप कहते है, वह उस मूल के अधिक निकटवर्ती प्रतीत हो जिसके कि उसे होना चाहिए । छद्म और वास्तविकता में दृष्टिकोण का ही भेद है । काम की इच्छा जब राम की इच्छा बन जाती है तो इस छद्म को कहा जा सकता है और वास्तविक भी । काम उसका सहज किन्तु क्षणिक आभास है जब कि राम उस पल का अनन्त विस्तार अर्थात् देश-काल की परिधि से परे हो जाना है । इस समस्त विवेचन में महत्वपूर्ण यह है कि रचनाकार तथा विवेचक स्वयं किस तल पर है । इसका भी सविस्तार अध्ययन हम अगले अध्याय में ही प्रस्तुत करेंगे ।

---000---

खण्ड : दो

2.4. उर्वशीकार : व्यक्तित्व और परिवेश

‖ मनोदार्शनिक पृष्ठभूमि ‖

इतना हो है ज्ञात कि मेरी
व्यथा उमड़ कर छंद हुई -
दिनकर द्वन्द्वगीत ।

आँखों से पूछो स्यात्
आँसुओं का भेद मिले -
- दिनकर -रसवंती ।

कविता में कवि कहाँ छिपा है,
इसका सुराग नहीं मिले ।
यह कलाकार की उच्चो स्थिति है ।
और इसे मैंने आज तक निभाया था ।
लोग समझते रहे कि मैं देश का दर्द गाता हूँ
मगर दर्द मैंने अपना ही गाया था ।
- - दिनकर, हारे को हरिनाम ।

Anyone conversent both with ~~psychoanalysis~~ modern literature and with psychoanalysis knows that modern literature is full of psychoanalytical insight. ------ Dr. Norman O Brown,
Life Against Death.

2.4. उर्वशीकार : व्यक्तित्व और परिवेश

कलाकार के व्यक्तित्व एवं परिवेश के विश्लेषणात्मक अध्ययन के अभाव में कलाकृति का सम्यक् अवगाहन संभव हो नहीं । वस्तुनिष्ठता का प्रत्येक दावा या प्रयास अपने मूल में व्यक्तिनिष्ठता से संदर्भित होता ही है । वस्तुत: जब तक अध्येता के निकट वस्तुनिष्ठता का बोध शेष रहता है उसमें वैयक्तिकता अनाहूत रूप से समावेशित हो ही जाती है । इसके अतिरिक्त वह प्रत्येक बोध जिसे अध्येता वस्तुनिष्ठ मानता है अभिव्यक्ति के क्षणों में उसके अपने व्यक्तित्व के संस्पर्श से मुक्त नहीं हो सकता । ऐसी स्थिति में तटस्थता की बात अपना शाब्दिक अस्तित्व तो बनाए रख सकती है किन्तु तात्विक रूप से वह अनुगूँज से अधिक की अधिकारिणी नहीं हो सकती । तटनी अपने तटों को प्रभावित करती ही है और तट भी अपना कुछ न कुछ सरिता को सतत प्रवाही धारा को चाहे-अनचाहे सौंपते ही हैं अस्तु नदी तट से और तट नदी से निरपेक्ष नहीं हुआ करते । इसी प्रकार कृतिकलाकार के अपने व्यक्तित्व एवं परिवेश से तथा कलाकार अपनी दूसरों की कृतियों से पूर्णत: निरपेक्ष रह ही नहीं सकता ।

भावों एवं विचारों के संदर्भ में सोचने पर उपर्युक्त तथ्य की और सटीक पुष्टि हो जाती है भाव और विचार व्यक्ति निरपेक्ष नहीं होते । सत्य तो यह होगा कि इनका जन्म ही दूसरों के अस्तित्व के कारण संभव होता है इसलिए कृति को सम्यक् रूप से समझने के लिए और विशेषकर उसमें निहित समस्या का अनुशीलन करने के लिए कलाकार के व्यक्तित्व तथा परिवेश का अध्ययन एक अनिवार्यता सिद्ध होता है ।

मानवीय बोध घटनाओं को जिन दो प्रमुख आयामों में देखता है उसमें एक का नाम है काल तथा दूसरे का स्थान । काल अनन्त है, सर्वव्यापी है और स्थान के अभाव में घटना की कल्पना भी दुष्कर प्रतीत होती है अस्तु

दोनों ही समान रूप से महत्वपूर्ण हैं । काल घटनाओं के होने का मानवीय क्रम है क्योंकि उनके होने के बोध को जिस गणक से अपने होने के संदर्भ में व्यक्ति आंकता है वही काल का क्रम माना जाता है । काल स्थान के मानवीय गणना क्रम में पूर्ववर्ती घटनाओं के के आकलन को सरलता से इतिहास की संज्ञा दी जा सकती है । वर्तमान के झरोखे से अतीत को झाँकने का प्रयास जहाँ एक परम्परा का रूप धारण कर चुका है वहीं कालक्रम की परिवर्तनशीलता, जो वर्तमान को किसी निश्चित धुरी पर टिकने नहीं देती, उसे पर्याप्त नमनीय सिद्ध करती है ।

4.1 व्यक्तित्व एक अध्ययन

अध्ययन को प्रक्रियाओ में किसी निश्चित सिद्धान्त को प्रत्याशा अथवा किसी पूर्वनिर्धारित सिद्धान्त को प्रामाणिकता को माँग बहुत बहुत समुचित प्रतीत नहीं होती । बहुत विशेषण का प्रयोग वस्तुत: अपनी सार्थकता को इसलिए साकार करता है क्योंकि कदाचित यदि सिद्धान्त जैसे कतिपय निष्कर्ष अनायास उत्पन्न हो जायँ, (हो सकते हैं) अथवा किसी सिद्धान्त को प्रामाणिकता किन्हीं सीमाओं में सिद्ध होती प्रतीत हो तो उसका स्वागत किया जाता है, किन्तु प्रत्येक स्थिति में ऐसा होगा ही यह आवश्यक नहीं । इसके साथ ही यदि ऐसा कुछ भी न घटता प्रतीत हो तो उससे अध्ययन की सार्थकता पर प्रश्न चिह्न आरोपित करना अध्ययन की पवित्रता का अवमूल्यन होता है यह इसलिए भी महत्वपूर्ण है क्योंकि " कोई भी सिद्धान्त युक्ति पूर्ण ढंग से न तो सत्य प्रमाणित किया जा सकता है और न सत्य प्रमाणित किया जा सकता है,[×] क्योंकि आत्यांतिक रूप से कुछ भी निश्चित नहीं होता ।[2] " सत्य का विचार आत्यान्तिक है किन्तु सत्य की आत्यान्तिकता के सम्बन्ध में कोई भी दावा नहीं किया जा सकता हम सत्यान्वेषी हैं उसके धारक नहीं ।"[3]

4.1.1. सामाजिक प्राणी होने के नाते व्यक्ति रात-दिन अपने समान आकृति तथा व्यवहार करनेवाले जीवधारियों के मध्य रहता है, अत: कहा जा सकता है कि समान बनकर रहता है , अपने इसी विशिष्ट गुण के कारण उसको अन्य

× ..... no theory has been shown to be true or can be shown to be true. Karl.R Popper, Objective Knowledge: An Evolutionary Approach, Oxford university Press. 1975, p. 21.

2. ---- there is no absolute certanity. Ibid, p. 37.

3. The idea of truth is absolutist, but not claim can be made for absolute certainity: we are seekers for truth but we are not its possers.
--- Ibid, page 46- 47.

विशेषताओं में सामाजिकता का स्थान सर्वोपरि स्वीकार किया जा सकता है किन्तु यदि इस सामाजिक प्राणी को अपने ही समानधर्मी व्यक्ति को पारिभाषित करना हो तो उसके सम्बन्ध में उसके सामने निश्चित रूप से एक महान संकट उत्पन्न हो जायेगा । व्यक्ति को पारिभाषित करने के लिए उसके पास जो दो संभावित ढंग हो सकते हैं उनमें पहला यह है कि वह व्यक्ति के उन गुणों का वर्णन करे जो वनस्पति एवं पशु-पक्षी जगत में नहीं पाये जाते अथवा उसके अस्तित्व को अधिक सार्थकता पूर्वक व्यक्त करने के लिए उसको पशु-पक्षी या वनस्पति जगत् के प्राणियों से समता को ओर संकेत कर दे । इससे अधिक कुछ भी संभव प्रतीत नहीं होता । ऐसा सुना जाता है कि एक बार प्लेटो के शिष्य ने भी उससे व्यक्ति की परिभाषा जाननी चाही थी और प्लेटो ने बिना किसी हिचक के बड़े ही आत्मविश्वास पूर्वक कहा था कि "व्यक्ति पंखहीन मुर्गी है ।" निकट ही कहीं संत डायजनीज उसका ~~अपना~~ वक्तव्य सुन रहे थे उन्होंने एक मुर्गी के पंख उखाड़ कर प्लेटो के सामने प्रस्तुत करते हुए जानना चाहा था कि क्या यही व्यक्ति है ? प्लेटो को कोई उत्तर न सूझा था । लेकिन क्या आज भी यह प्रश्न उसी प्रकार अनुत्तरित नहीं है ? प्रश्न आज भी अनुत्तरित है किन्तु प्रयास की कोई पर्याप्त प्रभू है । तात्पर्य यह कि व्यक्ति के सम्बन्ध में ही अभी तक जब कुछ बहुत ठोक तौर पर नहीं कहा जा सकता तो व्यक्तित्व की स्थिति तो और भी संदिग्ध प्रतीत होती है । हमें यहाँ पर इस तथ्य को स्वीकार कर लेना चाहिये कि व्यक्तित्व शब्द का प्रयोग काफी सतही तौर पर किया जाता है । व्यक्ति को देखकर उसके आकार - प्रकार के आधार पर अथवा फिर कतिपय गुणों (दुर्गुणों) के आधार पर उसके व्यक्तित्व का निरूपण किया जाता है और कभी-कभी तो लोग यह भी कहते सुने जा सकते हैं कि अमुक के पास "व्यक्तित्व" जैसी कोई चीज ही नहीं । अर्थात् उनकी मान्यता से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि व्यक्तित्व के अभाव में भी व्यक्ति हो सकता है । संभवत: ऐसी स्थिति में उनका उद्देश्य व्यक्ति की अद्वितीयता या मौलिकता या उस स्थिति या गुण

विशेष के अभाव को ओर संकेत करना होता है जो उस व्यक्ति विशेष को दूसरों से पृथक करता है । भीड़ इकाइयों का योग होती है किन्तु भीड़ में इकाई के महत्व को नकारा नहीं जा सकता ।

व्यक्ति के क्रिया-कलापों में प्रयुक्त ऊर्जा को आधार मानकर यदि उसे मूलत: " संकुल शक्ति तंत्र " × के रूप में स्वीकार करने पर, जैसा कि हाल एवं लिंडजे ने अपनी पुस्तक " थ्योरीज़ आफ़ परसोनॉल्टी" में माना है, व्यक्तित्व को व्याख्या शक्ति या ऊर्जा जैसे शब्दों में की जा सकती है किन्तु ये शब्द व्यक्तित्व का कोई स्पष्ट आभास कराने में सक्षम प्रतीत नहीं ≠ होते । ऐसी स्थिति में " व्यक्तित्व" शब्द को समझने के लिए शब्दकोशों एवं विश्वकोशों का आश्रय ग्रहण किया जा सकता है ।

आक्सफोर्ड इंगलिश डिक्शनरी :-

इस शब्दकोश में अंग्रेजी " परसनॉलिटी" शब्द के तीन अर्थ दिए गए हैं जो इस प्रकार हैं :-

(1) " वस्तु से भिन्न गुण प्रकृति अथवा व्यक्ति होने का तथ्य व्यक्तित्व है । " 2

(2) " व्यक्तित्व वह गुण अथवा सिद्धान्त है जो प्राणी को वैयक्तिक बनाता है ।"3

(3) तीसरे अर्थ के रूप में डब्ल्यू. यच . हडसन की उक्ति स्पेन्सर विश्वासकोश से उद्धृत की गयी है जो इस प्रकार है :-

× Man was regarded as complex energy system, Theories of Personality ed. by Calvin S. Hall and Gardner Lindzey, 2nd edn. John Wiley & Sons Inc. New York 1975, page 117.

2. The quality, character, or fact of being a person as distinct from a thing.

3. The quality or principle which makes a being personal.

--- The Oxford English Dictonary Vol. VII, Clardon Press, 1970, page 727.

" हम अनन्त व्यक्तित्व के सम्बन्ध में नहीं सोच सकते । व्यक्तित्व सीमित होता है अन्यथा इसका कोई अर्थ नहीं होता ।"[x]

न्यू आक्सफोर्ड इलस्ट्रेटेड डिक्शनरी :-

इस शब्दकोश के अन्तर्गत पर्सनॉलिटी के शब्द के तीन अर्थ दिये गये हैं जो इस प्रकार हैं :-

(1) व्यक्ति होना ।[2]

(2) वैयक्तिक अस्तित्व अथवा पहचान ।[3] तथा

(3) भिन्न वैयक्तिक चरित्र ।[4]

दि इलस्ट्रेटेड हेरिटेज डिक्शनरी एण्ड इन्फार्मेशन बुक :-

इस शब्दकोश में पर्सनॉलिटी के छः अर्थ दिये गये हैं जो इस प्रकार हैं:-

(1) व्यक्ति होने का गुण अथवा अवस्था ।[5]

(2क) आत्मा अथवा मन का वह गतिक वैशिष्टय या चरित्र (गुण) जिसके द्वारा व्यक्ति विशेष का निर्माण होता है तथा उसमें प्राणवत्ता संचरित होकर उसके जीवनानुभव को अद्वितीय बनाती है ।[6]

(3) विशिष्ट गुण या व्यवहार से मुक्त व्यक्ति ।[7]

" We can not think of an infinite personality. Personality implies limitation or it means a nothing at all. " The Oxford English Dictonary, Vol. VII, Clardon Press, 1970, p.727.

2. Being a person.

3. Personal existence or identity.

4. Distinctive personal character. -- The New Oxford Illustra -ted Dictionary, Oxford University Press, 1978, p. 1256.

5. The State or quality of being a person.

6. The dynamic character, self or psyche that constitutes and animates the individual person and makes his experience of life unique.

7. A person as the embodiment of distinctive traits of mind and behaviour.

(3) सामूहिक गुणों का एक ढँचा, जिसके अन्तर्गत मनुष्य को व्यावहारिक अनवस्थित स्वभाव वाले तथा भावात्मक विशेषताओं का समावेश रहता है ।×

(4) व्यक्ति के वे विशेषतायें जो उसे सामाजिक रूप से आकर्षक बनाते हैं । 2

(5) महत्व या प्रसिद्धि वाला व्यक्ति । 3

(6) स्थान या स्थिति (घटना विशेष) के वे गुण जो उसे विशिष्टता प्रदान करें ।4

(7)

इलस्ट्रेटेड वर्ल्ड इन्साइक्लोपीडिया :-

वह प्रत्येक वोज व्यक्तित्व है जो प्रत्येक दूसरे व्यक्ति से उसे पृथक करतो है । 5

वेब्स्टर थर्ड न्यू इन्टरनेशनल डिक्शनरे :-

इस शब्दकोश में इसके बारह अर्थ दिये गये हैं जो इस प्रकार हैं :-

(1) व्यक्ति भिन्न होने का तत्व व्यक्तित्व है ।6

(2) गुण विशेष अथवा आध्यात्मिक अस्तित्व । 7

× The pattern of collective character, behavioural, temperamental and emotional traits of an individual.
2. Dinstinctive qualities of an individual, especially those distinguishing personal characteristics that make one socially appealing .
3. A person of prominance or notority.
4. The characteristics of place or situation that give it a distinctive character. - The Illustrated Heritage Dictionary and Information Book, p. 978.
5. Personality is everything that makes one person different from every other person. - Illustrated World Encyclopedia, Bobley Publishing Corporation, Woodbury, Newyork, 1966p.1275.
6. The fact of being an individual perwon.
7. The distinctive quality or state of spiritual entity. - Webster's Third New International Dictionary, Vol. II page, 1637.

(3) व्यक्ति के वे गुण जो उसके वैधानिक अथवा सामान्य एवं वैधानिक स्तर का निर्माण या निर्धारण करते हैं । ×

(4) व्यक्ति का अपना होना । 2

(5) व्यक्ति का वैशिष्ट्य । 3

(6) व्यक्ति विशेष से सम्बन्धित तथ्य या स्थितियाँ । 4

(7) किसी व्यक्ति के व्यवहार चरित्र या अन्य किसी पक्ष के सम्बन्ध में कही गई बात । 5

(8) व्यक्ति के गुणों की वह विचित्रता जो दूसरों के संदर्भ में उसके व्यवहार को विशिष्टता प्रदान करती है । 6

(9) आत्मचेष्ण जागरण से व्यक्ति के कार्य/व्यवहार करने की आकस्मिक प्रवृत्ति । 7

(10) व्यक्ति को विशिष्टता प्रदान करने वाली चारित्रिक प्रवृत्तियाँ, दृष्टिकोण तथा आदतें । उसका व्यक्तित्व कहलाती हैं । 8

× The qualities of a person that constitute or fix his legal or general legal capacity.

2. A personal being.
3. A single individual.
4. The condition or fact of relating to a particular person.
5. An utterence that refers to the personal conduct or aspect of some individual.
6. The complex of characteristics that distinguishes a particular individual or individualizes him in his relationship with others.
7. The totality of an individual's emergent tendencies to act or behave esp. self consciously.
8. The organisation of the individuaB's distinguishing character traits, attitudes or habits. - Webster's Third New International Dictionary, Vol II, page-1687.

§1.1§ व्यक्ति की वैयक्तिक एवं सामाजिक भिन्नता या विशिष्टता ।[x]

§1.2§ व्यक्तिगत गुणों के कारण सामाजिक वैशिष्टय जिसके अन्तर्गत प्रशंसा, आदर अथवा प्रभाव जैसी बातें सम्मिलित रहतीं हैं ।[2]

दि न्यू कैक्स्टन इनसाइक्लोपीडिया :-

व्यक्तित्व जीवन के किसी भी स्तर पर वंशानुक्रम से प्राप्त एवं अनुभव द्वारा विकसित एवं संस्कारित तथा प्रतिदर्शित सम्भावनाओं का प्रतिफलन है ।[3]

इन्टरनेशनल इनसाइक्लोपीडिया ऑफ साइक्याट्री, साइकोलाजी, साइको एनालिसिस एण्ड न्यूरोलाजी :-

व्यक्तित्व व्यक्ति को उसकी विशिष्ट पहचान प्रदान करनेवाले गुणों का एक संश्लिष्ट योग है ।[4]

शब्दकोशों एवं विश्वकोशों के आधार पर प्रस्तुत व्यक्तित्व के उपर्युक्त अर्थों पर विचार करने पर जो कतिपय निष्कर्ष व्यक्तित्व के सम्बन्ध में प्रस्तुत किये जा सकते हैं वे इस प्रकार हैं :-

§1.1§ व्यक्तित्व व्यक्ति के गुणों का संश्लिष्ट योग है ।
गुणों से हमारा तात्पर्य उसके भौतिक गुण जैसे शारीरिक गठन, रूप रंग आदि, व्यावहारिक गुण जैसे दया, क्षमा, क्रोध, उत्साह आदि का प्रदर्शन एवं प्रवृत्यात्मक गुण जैसे अध्ययनशीलता, सामाजिक कार्यों में अभिरुचि अथवा धार्मिक कृत्यों की ओर विशेष झुकाव आदि से है ।

x. Distinction or excellence of personal and socialtraits.

2. The social characteristics of commanding notice admiration respect or influence through personal characteristics. - Webster's Third New International Dictionary,Vol.II,p.1687.

3. Personality at any stage of life is the outcome of inherited potentialities, as developed and modified and patterned by by experience.- The New Caxton Encyclopedia,Vol 14,(cont'd)

(2) व्यक्तित्व के कारण ही व्यक्ति दूसरों से भिन्न प्रतीत होता है ।

(3) व्यक्तित्व में एक आध्यात्मिक अस्तित्व होता है ।

(4) व्यक्तित्व का परिचय व्यक्ति के कार्यों द्वारा पाया जाता है ।

(5) व्यक्तित्व समाज की प्रतिक्रियाओं का उसी प्रकार अनिवार्य प्रतिफलन है जिस प्रकार व्यक्ति समाज की अनिवार्य इकाई ।

(6) व्यक्तित्व के मूल में ✱ पैतृक अंश विद्यमान रहता है ।

अर्थों की संपृक्तता द्वारा प्राप्त निष्कर्षों के आधार पर यदि व्यक्तित्व को पारिभाषित करने का प्रयत्न किया जाय तो कहा जा सकता है कि वंशानुक्रम से प्राप्त संभावनाओं का वह वैशिष्टय जो सामाजिक घात प्रतिघात द्वारा निर्मित होकर ऐसे गुणों के रूप में प्रतिफलित होता है जिनके द्वारा व्यक्ति समाज में दूसरों से भिन्न प्रतीत होता है तथा जिनके कारण उसे समाज में एक विशिष्ट इकाई के रूप में इकाइत्व प्राप्त होता है, व्यक्तित्व कहलाता है ।

उपर्युक्त परिभाषा में जिन दो तत्वों पर विशेष बल दिया गया है वे हैं संवृति तथा परिघटना । इनके संयोग से व्यक्तित्व मूल रूप से गोचर जगत का ही विषय बन जाता है । कैलीफोर्निया विश्वविद्यालय में मनोविज्ञान के आचार्य तथा इन्स्टीट्यूट ऑफ पर्सनालिटी एससमेन्ट एण्ड रिसर्च के निदेशक डॉ. डोनाल्ड डब्ल्यू. मैक निनान इस मत से सहमत नहीं है उनका कहना है कि, " साधरण व्यक्ति के लिए व्यक्तित्व प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय है -- एक ऐसी वस्तु जिसे देखा जा सकता है, अनुभव किया जा सकता है -- यानी व्यक्ति की भौतिक दृष्टिगोचरता से लेकर गुण एवं व्यवहार की शैली तक । ×

The Caxton publishing company Ltd. London, 1977, page 4668.

3. Leland H. Stott. Personality Development an overview Interntional Encyclopedia of Psychiatry, psychology, Psychoanalysis and Neurology- ed. Benjamin B. Wolman Vol.8. Aesculapius Publishers. Inc. Newyork, 1977 page 302.

1. To the layman, personality is a phenomenon, something that can be see and experienced - that physical appearance of a person as well as his manner and style of behaving (Contd..)

संवृत्ति (तात्विकता (एवं परिघटना को दूर तक स्वीकार न करने वाले डॉ. डोनाल्ड व्यक्तित्व को व्याख्या करते हुए लिखते हैं कि " व्यक्तित्व अपने अधिकांश में भौतिक ज्ञान (फेनामेना(का विषय ~~xxxx~~ न होकर विचार मात्र है जो व्यक्ति के जैविक तत्वों (वंशानुक्रम से प्राप्त संभावनायें (का व्यक्ति के अनुभव द्वारा परिष्कृत संस्कारित वह रूप जो न्यूनाधिक रूप में स्वीकार्य जैव भौतिक गतिक व्यवस्था संरचना है जो व्यक्ति के गुण सम्बन्धी विचारों एवं व्यवहारों को निश्चित करती है तथा उनके मूल में रहती है । "[×]

वस्तुत: डॉ. डोनाल्ड का मत कि व्यक्तित्व प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय होने से अधिक मात्र एक अवधारणा है, उसको एक अमूर्तत्व प्रदान करता है । इस अमूर्तत्व की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि एक ओर यह भौतिक जगत् के उपादानों- रूप -रंग और आकृति से तथा व्यवहार से सम्बद्ध है तो दूसरी ओर व्यवहार जगत् की प्रतिक्रियाओं और उसके मूल में निहित अन्त: प्रेरणाओं के संसार में एक अत्यंत रहस्यवादी स्थिति का सृजन करता है । गत पृष्ठों में कोशगत अर्थों में एक अर्थ उसका आध्यात्मिक ~~x~~ अस्तित्व भी माना गया है । व्यक्तित्व को आध्यात्मिकता से जोड़ने के मूल में एक ऐसी जटिलता का सहज अनुभव होता है जो अपनी छाया तो बिखेरती है किन्तु उस छाया को संज्ञापित करने के लिये जब भी कोई शब्दों के चयन का प्रयत्न करता है तब या तो शब्द फिसल जाते हैं या फिर अर्थों के वट वृक्ष तले उनका आकार बौना जाता है । जहाँ एक ओर यह स्वीकार किया जा सकता है कि"समूचे व्यक्ति के अध्ययन से मानव व्यवहार का सम्यक् अध्ययन विकसित हो सकेगा [2] वहीं यह भी स्वीकार करने में कोई हिचक नहीं होनी चाहिये कि "व्यक्तित्व मानव का सत्व है" तथा

Dr. Donald-W Mac. Kimon 'Personality--
The Encyclopedia of mental health ed. Albert Deutsch Vol.4 Page 1467

2. Personality is for the most part not a phenomenon, but a conceptualization of a complex set of biological givens that are modified and shaped by individual experience into a more or less enduring dynamic organization of psycho physical structures which underlie and determine a person's characteristic thought and behaviour".

Dr. Donald W. Mac Kinnon - Personality.
Encyclopedia of Mental Health Vol. 4 page-1467.

" व्यक्ति जो वस्तुत: है वही उसका व्यक्तित्व है ।"[×] तात्पर्य यह कि व्यक्तित्व का सम्बन्ध व्यक्ति के उस भाग से है जो उसका सर्वाधिक प्रतिनिधित्व करता है । [1] यहाँ पर व्यक्ति के प्रतिनिधि भाग को स्वीकार करने में जो सबसे बड़ी आपत्ति उठ सकती है वह यह कि इस स्थिति में व्यक्तित्व समग्रता का अध्ययन न होकर मात्र खण्ड का ही अध्ययन होगा । जो भाग उसका सर्वाधिक प्रतिनिधित्व करता है यदि वही उसका व्यक्तित्व है तो जो प्रतिनिधित्व नहीं करता वह क्या है ? इसके साथ ही यह सामान्य समझ की बात है कि किसी व्यक्ति का एक ही भाग सदा उसका प्रतिनिधित्व नहीं करता यानी समय विशेष में यदि उसका व्यवहार एक प्रकार का होता है तो दूसरे समय उसका व्यवहार दूसरे प्रकार का । ऐसी स्थिति में मात्र गणना की मात्रा के आधार पर व्यक्तित्व का निर्धारण समुचित हो ही नहीं सकता । व्यक्ति का व्यवहार जो अधिकांश रूप में उसके परिवेश से प्रभावित रहता है उसके व्यक्तित्व को आंशिक रूप से ही उजागर करता है । सत्य तो यह है कि परिवेश संदर्भित व्यवहार उसके व्यक्तित्व का एक आयाम भर होता है । ऐसी स्थिति में उपर्युक्त मतों से सहमत होने में कठिनाई हो सकती है । फ्रायड ने जो मनोविश्लेषण के द्वारा व्यक्तित्व के अध्ययन का प्रयास किया वह उसके पहलुओं को तो उजागर करता है किन्तु उसकी समग्रता को नहीं । फ्रायड के एक समय के सहायक और बाद में स्वतन्त्र अध्येता युंग ने व्यक्तित्व को अनेक प्रकार से अभिव्यक्त करने का प्रयास किया है । युंग के ये विभिन्न प्रयास वस्तुत: उनके मानस में व्यक्तित्व की बहुआयामिता का प्रतीक है । व्यक्तित्व जैसे गहन तत्व के संबंध में यहाँ पर युंग के कतिपय विचारों का उल्लेख अनुपयुक्त न होगा । एक स्थान पर युंग लिखते हैं कि :-

2.4.2 " व्यक्तित्व का अर्थ है एक परिपक्व मानसिक सम्पूर्णता जो

1. An adequate understanding of human behaviour. Will evolue only from the study of the whole person. "Calvin S' Hall and Gardiner Lindzey: Theories of personality. Second edn., John Wiley and Sons Inc. New York - 1975 page 6.

2. Ibid page 8.

अतुल शक्ति तथा अवरोधक क्षमता से पूर्ण हो ।"[X]

दूसरे स्थान पर युंग ने व्यक्तित्व को जोवन को वह पूर्णता कहा है जिसे प्राप्त करना मानव को आत्यांतिक एवं प्रबलतम् इच्छा है । [2]

तोसरे स्थान पर युंग व्यक्तित्व को बोज के रूप में स्वोकार करते हैं जो धोरे-धोरे जोवन के रूप में विकसित होता है । [3] युंग आगे लिखते हैं कि " व्यक्तित्व जोवने के अन्तार्नुभावों का सर्वोच्च अनुभूतोकरण है यह जोवन में उच्च साहस का कार्य वैयक्तिकता के विधायकों को सम्पूर्ण स्वोकारोक्ति, तथा आत्मनिश्चय हेतु महानतम् सम्भावित स्वतंत्रता से युक्त सार्वभौम स्थितियों का सफलतम् अनुकरण है । "[4]

युंग महोदय एक ओर व्यक्तित्व को अन्त: अनुभवों का सर्वोच्च अनुभूतो-करण एवं आत्म निश्चय हेतु महानतम् सम्भावित स्वतंत्रता से युक्त सार्वभौम स्थितियों का सफलतम् अनुकरण स्वोकार करते हैं तथ दूसरो ओर " अस्तित्व के पूर्ण प्रत्यक्ष प्रत्यक्षोकरण के रूप में उसे अप्राप्य आदर्श भो मानते हैं किन्तु उनके निकट यह अप्राप्यता आदर्श के विरुद्ध तर्क नहीं है क्योंकि आदर्श मात्र सूचना पट होते हैं गन्तव्य नहीं ।"[5]

विचार को ऐसो हो गहन स्थिति में युंग का वैज्ञानिक मन दर्शन को गहन अनुभूतियों में डूबता प्रतोत होता है जब वे कहते हैं कि " व्यक्तित्व ताओ है।[6]

1. Personality is what a man really is.

Allport quoted by Calvin S. Hall and Gardiner Lindzey. Theories of personality 2nd Edn. page.9.

X. What is usually meant by personality a well rounded psychic whole, that is capable of resistence and abunding in energy". C.G. Jung. The development of personality. The collected works of C.G. Jung Vol. 17 by R.F.C. Hall. Routledge & Kegar Paul London.1977 page.169

2. ----The ultimate aim and strongest of all mankind is to develop that falness of life which is call personality"--Ibid page.167.

3. Personality is the seed that can only develop by slow stages through out life. Ibid. page.171 (Contd)

ताओं के सम्बन्ध में युंग अपने विचार प्रकट करते हुए लिखते हैंकि, " ताओ उस जल के समान है जो निर्बाध रूप से अपने गंतव्य की ओर प्रवाहित होता रहता है । "[x] युंग एक ओर व्यक्तित्व की प्राप्ति का अर्थ व्यक्तित्व की सम्पूर्ण इकाई के आदर्श विकास से कुछ कम नहीं मानते है ; यद्यपि विकास के लिए जिन अनिवार्य अनन्त अर्हताओं को पूर्ण करने की आवश्यकता होती है उनका पूर्ण ज्ञान असंभव है, फिर भी, इसके लिए, " जैविक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक स्तरों पर सम्पूर्ण जीवन की आवश्यकता होती है ।"[2] अंत में युंग को स्वयं ऐसा प्रतीत होता है जैसे वे निशब्द हो गये हों । उन्हें अपनी क्षमताओं के परे व्यक्तित्व का दर्शन होता है । व्यक्तित्व के समक्ष वे भाषा को अपर्याप्त पाते हैं तथा उसके इतने अधिक आयामों का एक साथ अनुभव करते हैं कि सबकुछ एक रहस्य जैसा प्रतीत होने लगता है । इस सम्बन्ध में उनका यह वक्तव्य काफी महत्वपूर्ण है :---

> " इसके सम्बन्ध में जो कुछ भी कहा जा सकता है वह आश्चर्य जनक रूप से असंतोष जनक एवं अपर्याप्त है । ..... व्यक्तित्व का विचार मात्र साधारण प्रयोग में इतना धुंधला है तथा कुपरिभाषित है कि दो व्यक्ति इस शब्द को एक ही संदर्भ में ग्रहण करने वाले कठिनता से उपलब्ध हो सकते हैं ।"[3]

4. Personality is the supreme realization of the innate idiosgncrasy of living being. It is an act of high courage flung in the face of life, the absolute affirmation of all that constitutes the individual the most successful adaptation to the universal conditions of existence coupled with the greatest possible freedom for self determinati Ibid page.171.

1. Personality as the complete realization of our whole being is an unattainable ideal. But unattainability is no argument against the ideal, for ideals are only signposts, never the goal. C.G.Jung. The Collected papers of C.G. Jung Vol.17 page.172.
2. Personality is Tao. Ibid page.186.
3. Tao and likness it to a flow of water that moves irresistably toward its goal. Ibid page-186.
4. The achievement of personality means nothing less than the optimum development of the whole individual human being. It is impossible to foresee the endless variety of conditions that have to be fulfilled. A whole life time in all its biological social and spiritual aspects is needed Ibid page.171.

किसी विषय या वस्तु के सम्बन्ध में व्यक्ति द्वारा सीमा का स्पष्ट स्वीकार, जिसे वह अपनी अक्षमता भी कह सकता है, उसके अन्तर्निष्ठा की अभिव्यंजना है । युंग जब आजीवन शोध के पश्चात् उसे अव्याख्येय एवं रहस्यात्मक घोषित करते हैं तो इससे उनके अध्ययन की न्यूनता स्पष्ट नहीं होती प्रत्युत हमारे समक्ष व्यक्तित्व के सम्बन्ध में कुछ महत्वपूर्ण सूत्र प्रस्तुत करते हैं । उनके उपर्युक्त कथनों के आधार पर हम उन्हें यहाँ सूत्र रूप में प्रस्तुत करना अधिक उपयुक्त समझते हैं क्योंकि इन सूत्रों के आधार पर युंग के बाद के मनोवैज्ञानिकों ने काफी विचार किया तथा व्यक्तित्व के विकास के सम्बन्ध में कतिपय सिद्धान्तों का निर्माण भी किया । विस्तार भय से तथा विषय को सीमा को दृष्टि में रखते हुए सभी का विवेचन या उल्लेख यहाँ सम्भव नहीं किन्तु व्यक्तित्व को समझने के लिए कुछ पर तो विचार किया ही जा सकता है । यह इसलिए भी अनिवार्य है क्योंकि जब तक व्यक्तित्व के सम्बन्ध में हम किसी निश्चित निष्कर्ष / निष्कर्षों पर नहीं पहुँचते, उर्वशीकार के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में तथा उर्वशी के सम्बन्ध में विश्वास पूर्वक ऐसा कुछ भी नहीं कहा जा सकता जो सार्वभौम न होते हुये भी कम से कम उसके निकट तो हो ।

वस्तुत: यह स्वीकार करते हुए के व्यक्तित्व वह है, " जो प्रतिक्षण हो रहा है, जो कभी पूर्ण नहीं है तथा जो सतत देख-रेख, ध्यान और शिक्षा को आकर्षित करता है वह व्यक्तित्व का ही अंश है जो विकसित एवं सम्पूर्ण होना चाहता है ।"[×] युंग महोदय ने जहाँ व्यक्तित्व के अध्ययन के लिए कुछ सूत्र प्रस्तुत किये हैं वहीं एक महत्वपूर्ण बात भी कही है और वह है - व्यक्तित्व का दो रूपों में विभाजन - पहला वह जो पूर्ण है तथा दूसरा वह जो पूर्ण होने

1. Personality is a great and mysterious problem. Everything that can be said about it is curiously unsatisfactory and inadequate. ----The idea of personality is, the common usage, so vague and ill defined that one hardly ever finds two people who take the word in the same sense. C.G. Jung. Collected papers of C.G. Juug. Vol.17 page 181.

-----Something that always becoming, is never completed, and calls for unceasing care, attention and education. That is the part of the human personality which wants develop and become whole". C.G.Jung. The collected papers of C.G. Jung. page.170.

के लिए प्रयत्नशील है ।

2.4.13. व्यक्तित्व के सम्यक् ज्ञान के लिए उन्होने जीवन को जिन तीन स्तरों पर सम्पूर्णता को आवश्यक बताया है वे हैं --

(1) जैविक स्तर

(2) सामाजिक स्तर तथा

(3) आध्यात्मिक स्तर ।

इसके पूर्व कि हम विकास की प्रक्रिया में व्यक्तित्व पर आगे विचार करें युंग के व्यक्तित्व विभाजन पर विचार करना अधिक समीचीन होगा । व्यक्तित्व की अपूर्णता की घोषणा बहुत गहरे में अप्रत्यक्ष रूप से इस बात की स्वीकारोक्ति है कि पूर्णता की कोई न कोई स्थिति अवश्य रही होगी या हो सकती है । यदि पूर्णता की कोई स्थिति संभव ही नहीं तो अपूर्ण कहना भी भ्रामक एवं अर्थहीन है । इसके साथ ही यह भी विचारणीय है कि अपूर्णता और पूर्णता की ये स्थितियाँ अपने आप में महत्वपूर्ण हैं अथवा अध्येता के अपने संदर्भ में, उसकी अपनी मेधा की तुलना में ।

दूसरा प्रश्न पहले -- कोई भी स्थिति या घटना अपने आप में कैसी हो सकती है इसका अनुमान किसी भी उपाय से नहीं लगाया जा सकता क्योंकि प्रत्येक घटना या स्थिति जब भी उसके सम्बन्ध में कुछ भी कहा जायेगा या अनुमान लगाया जायेगा व्यक्ति सापेक्ष ही होगी । ज्ञान-विज्ञान की हमारी समस्त संधारणायें व्यक्ति सापेक्ष ही हैं यह उनकी, घटनाओं या परिस्थितियों की, यत्किंचित् आकस्मिक सार्वभौमिकता ही है कि वे दूसरों के निकट भी समान जैसी ही प्रतीत हो ।

पहला प्रश्न - पूर्णता की संकल्पना - वह चाहे जितनी अधूरी क्यों न हो, के अभाव में अपूर्णता की चर्चा भी महत्वहीन ही है । व्यक्तित्व के सम्बन्ध में भी इसी संधारणा को कालान्तर में इतना बल मिला कि मानववादी मनोवैज्ञानिकों जिनमें जॉन रोवन प्रमुख हैं है, को उपव्यक्तित्व की चर्चा करनी पड़ी ।

इस सम्बन्ध में जॉन रोवन को कथन महत्वपूर्ण है --

" हम हमेशा उप व्यक्तित्वों के सम्पर्क में हो आते हैं उनका रूप चाहे जो हो । ..... नाम बदलते हैं किन्तु वास्तविकता वही रहती है । " [1]

जॉन रोवन आगे लिखते हैं कि -

" यह उप व्यक्तित्व ही है जिसे हम अपना होना मानते हैं और जो वास्तव में हम हैं । जब लोग हमारी प्रशंसा करते हैं और या हमारे आत्म सम्मान को संवर्धित करने का प्रयास करते हैं तब अक्सर इस उप व्यक्तित्वों को ही वे बढ़ावा देते हैं । अब विषमता यह है कि हम सरलता से इस झाँसे में आ जाते हैं कि यह उपव्यक्तित्व ही हमारी वास्तविकता है ..... इस सीमा तक कि अन्त में हम अपने आप को इस उपव्यक्तित्व के रूप में ही जानने लगते हैं । "[2]

व्यक्तित्व का छद्म प्रकाशन जिसे डॉ. रोवन उप व्यक्तित्व की संज्ञा देते हैं वस्तुत: एक अखण्ड का ही ऐसा खण्ड है जो अपने अस्तित्व को बनाये रखते हुए अपने शेष से जुड़ने के प्रयास में सतत् प्रयत्नशील रहता है । समाज-शास्त्रीय दृष्टिकोण से व्यक्तित्व के सम्बन्ध में विचार करनेवाले डॉ. एरिक फ्राम भी इस तथ्य को स्वीकार करते हैं जब वे कहते हैं कि ---

" व्यक्ति प्रकृति एवं अन्य मनुष्यों से पृथक होने के कारण अपने आप को एकाकी एवं पृथकीकृत समझता है । " [3]

1. We almost always come across subpersonalities in some form or other. It may be freud's ego, Id, and Super Ego, or Jung's ~~xxxxx~~ ~~xxxxx~~ Complexes or arche types, or Berner's Ego Stales, or Perl's top dog or under dog's or Kleivi's internal objects, or Shapiro's subselves, the names change but the reality is still these". John Rowan: Ordinary Ecstasy Routledge and Kegil Paul 1978 page.153.
2. Ibid page. 158.

इस सम्बन्ध में यदि हम व्यक्ति शब्द पर सोधेविचारकरें तो बात सरलता से स्पष्ट हो जातो है । व्यक्तित्व का एक अर्थ हमारे मत से व्यक्त तत्व भो हो सकता है । जो तत्व व्यक्त हुआ है वहो व्यक्तित्व है । इसो स्थल पर यह भो विचारणोय है कि व्यक्त होने से पूर्व अव्यक्त रूप से तत्व को स्थिति होनो हो चाहिये । तात्पर्य यह कि व्यक्तित्व में तत्व को उपस्थिति स्वोकार को जा सक्तो है । उसका, तत्व का अव्यक्त रूप से व्यक्त होना हो व्यक्तित्व है । जो व्यक्त हो चुक्ता है उसके सम्बन्ध में हमारो आधो-अधूरो जानकारो हो भो सक्तो है किन्तु जो अव्यक्त है उसके सम्बन्ध में हम प्राक्कल्पनात्मक संधारणाओं से आगे जा हो नहों सक्ते । इसके साथ हो अव्यक्त अपने समूचेपन में एक साथ हो व्यक्त नहों हो जाता । उसके व्यक्त होनेक को प्रक्रिया एक सातत्य है जो अपने परिवेश से प्रभावित होतो हुई तथा कुछ अंशों तक परिवेश को प्रभावित करतो हुई एक नैरन्तर्य क ो स्थिति में रहतो है ।

व्यक्तित्व को समझने को जो सूत्र युंग ने प्रस्तु त किये वे उसे एक सोमा तक समझने में सहायक हो सक्ते हैं । यहाँपर उनके सूत्रोंपर विचार करते हुए व्यक्तित्व को रूप -रेखा और उसको विक्शनशोला प्रवृत्ति को समझने का प्रयास करेंगे ।

जैविक स्तर :-

जैविक स्तर पर व्यक्तित्व के सम्बन्ध में विचार करते समय जिस सूक्ष्मतम रूप को कल्पना को जा सकतो है वह है शुक्राणु अथवा फिर शुक्राणु हो क्यों युग्माणु जो गर्भ में गर्भाधान के पश्चात् अस्तित्व ग्रहण करता है । शुक्राणु, अण्ड अथवा युग्माणु (जाइगोट) के रूप में व्यक्तित्व को संभानायें पलनो प्रारम्भ हो जातों हैं जिनका विवेचन कठिन हो नहों असंभव है । × संक्षेप में इतना हो कहा जा सक्ता है कि माता एवं पिता को मानसिक्ता, गर्भाधान के क्षण

1. Our personality develops in the course of our life from germs that are hard or impossible to discern." C.B. Jung; The collected papers of Jung page. 172.

तथा रक्त में मिश्रित रसायनिक गुणों को हो जैविक स्तर पर स्वीकार किया जा सकता है ।

सामाजिक स्तर :-

2.4.3.2.

मानव को जीवन यात्रा में ऐसे किसी स्तर की कल्पना नहीं की जा सकती जब वह समाज से पृथक अपने अस्तित्व की कल्पना कर सका हो । प्रकृति के सानिध्य में भी उसे और कुछ मिले न मिले जननी जनक अतिरिक्त प्रकृति का सहचर्य मिलता ही है और प्राकृतिक युग्मों को देख कर अपने एकाकी पन का अनुभव स्वाभाविक ही है । आदि पुरुष की परिकल्पना को लेकर जो अकामयत की स्थिति है, और आज के मानव के संदर्भ में, भीड़ में अकेलेपन की तलाश और फिर भीड़ में खो जाने की जो अवस्था है उसे आत्मनिर्भरता या आत्म केन्द्रित होने की संज्ञा दी जा सकती है किन्तु एकाकीपन की खोज में फिर-फिर उसी भीड़ में खो जाना जिससे ऊब कर एकाकीपन की खोज का आरम्भ हुआ था शायद जीवन की सबसे बड़ी त्रासदी कही जा सकती है और इस त्रासदी को पूरी तरह से स्वीकार नहीं भी किया जा सकता है । [हम ऊपर व्यक्तित्व के विभाजन की ओर संकेत कर चुके हैं उसके सम्बन्ध में भी फिर यथावसर किया जायेगा] द्वन्द्वात्मकता की इस स्थिति को कैरेन हार्नी ने बड़े ही स्पष्ट शब्दों में इस प्रकार स्वीकार है --

> " आत्मनिर्भरता या आत्मकेन्द्रित होने की उसकी इच्छा कभी पूर्ण नहीं हो सकती क्योंकि उसके व्यक्तित्व का एक भाग प्रेम पाना चाहता है, प्रशंसित होना चाहता है ।"[1]

कैरेनहार्नी के कथन से जो बात सबसे अधिक स्पष्टतापूर्वक सिद्ध होती है, वह है, मनुष्य की सामाजिकता । वस्तुत: जन्म से लेकर मृत्यु तक की यात्रा का पक्ष ही समाज है । यात्रा का प्रारम्भ जहाँ एक ओर अर्जा के अस्तित्व का

1. -----his need for independence can never be fully satisfied because another part of his personality wants to be loved and admired." Karen Horney: Theories of personality ed. Holland Lindzey. page.136.

प्रमाण है वहाँ उस महा शून्यता का द्योतक भी है जिसके पार अस्तित्व पूर्णत्व को परिकल्पना करता है । पूर्णत्व के इस विन्दु को निस्संदेह किसी विशेष शब्दावली के माध्यम से पारिभाषित नहीं किया जा सकता । इसके सम्बन्ध में किन्हीं निश्चित रेखाओं का अंकन भी संभव नहीं ; उसे पूर्ण ब्रह्म, परम सत्ता, एब्सोल्यूट एनर्जी, जीवनेच्छा का पूर्ण प्रत्यक्षीकरण तथा चेतना जैसे अनेक नाम दिये जा सकते हैं और ज्ञान-विज्ञान के विभिन्न मार्गों से गुजरनेवाले सुधी जन ऐसी ही अनेक संज्ञायें इसे देते रहे हैं किन्तु इससे इसके स्वरूप पर कोई अन्तर नहीं पड़ता । हाँ एक बात जो अधिक निश्चित रूप से पुष्ट होती प्रतीत होती है वह है एक सत्ता का स्वीकार और उसकी अभिव्यक्ति मनोविज्ञान की शब्दावली इसे आत्मसंचालन (ऑटो एक्चुअलाईजेशन) कह कर अपना काम चला लिया करता है क्योंकि इसका मूल स्रोत बाहर खोजना असंभव है । जीवन के सम्बन्ध में जब इसके प्रारम्भिक विन्दु पर विचार किया जाता है तो उसे जन्म के साथ जोड़ने में, यद्यपि यह नितान्त निर्भ्रान्त नहीं है, खोजी अहं को एक तुष्टि का अनुभव हो सकता है जैसा कि युंग महोदय लिखते हैं कि :--

> " व्यक्तित्व का विकास, जीवनेच्छा का पूर्ण प्रत्यक्षीकरण की भावना व्यक्ति के जन्म के साथ ही उत्पन्न होती है । "[1]

जन्म के साथ ही व्यक्ति का विकसित होना मात्र उसके होने पर निर्भर नहीं होता । व्यक्ति का स्वयं का चुनाव उसकी क्षमता पर निर्भर करता है । विकास का कौन सा मार्ग चुना जा सकता है अथवा विकास के रथ का पहिया किस पथ से गुजरेगा या गुजारा जायेगा यह एक विकट प्रश्न है, परन्तु युंग महोदय इस सम्बन्ध में परिवेश यानी सामाजिक स्तर के महत्व को स्वीकार करते हुए लिखते हैं कि :--

> " व्यक्ति अपने मार्ग के सम्बन्ध में नैतिक निर्णय लेने में तभी सक्षम हो सकता है जब वह उस मार्ग को सर्वोत्तम माने । यदि अन्य मार्ग श्रेष्ठतर रूप में स्वीकार किये जाते हैं तो वह अपने

1. ----the growth of personality, the full realization of life will, that is born with the individual. C.G. Jung. The collected papers of C.G. Jung Vol. 17 page. 183.

व्यक्तित्व के स्थान पर दूसरे व्यक्तित्व में जियेगा तथा उसे ही विकसित करेगा । "×

युंग महोदय के उपर्युक्त कथन से दो बातें सिद्ध होतीं हैं :--

(1) व्यक्ति के समक्ष अनेक मार्ग होते हैं जिसमें एक को चुनने की क्षमता उसको मार्ग के सम्बन्ध में उसे सर्वोत्तम मानने की स्थिति पर आधारित होती है । कहा जा सकता है कि अनेक मार्गों का होना ही उस भीड़ या परिवेश का होना है जिसके मध्य वह स्वयं अपने अस्तित्व का अनुभव करता है । चयन की क्षमता यानी दृढ़ता उसका वंशानुक्रमित गुण भी हो सकता है और परिवेश का परिणाम भी । युंग महोदय इस सम्बन्ध में मौन हैं ।

(2) दूसरा निष्कर्ष यह है कि व्यक्ति पर, उसके निर्णय लेने की क्षमता या दृढ़ता के अभाव में, दूसरों का व्यक्तित्व या परिवेश हावी हो सकता है । परिवेश या सामाजिकता का यह संकुल तन्त्र व्यक्ति पर इस सीमा तक प्रभावी हो सकता है कि उसके कान्तार में उसका अपना व्यक्तित्व ही दब जाय । कहा जा सकता है कि व्यक्तित्व परिवेश को तथा परिवेश व्यक्तित्व को प्रभावित करते रहते हैं ।

व्यक्ति के अपने व्यक्तित्व से पृथक जहाँ दूसरे की प्रधानता रहती है उसके सम्बन्ध में युंग महोदय का मत है कि :-

" दूसरे मार्ग - नैतिक, सामाजिक, राजनैतिक, दार्शनिक और धार्मिक परम्पराओं के मार्ग हैं । वस्तुत: परम्परा सदा एक अथवा

× But a man can make a moral decision to go his own way only if he he holds that way to be the best. If any other way were held to be better than he would live and develop that other personality instead of hisown.

दूसरे रूप में फलती - फूलती रहती है । तथा मात्र यह सिद्ध करती है कि मानव जाति की एक बड़ी जन संख्या अपने मार्ग का चयन न करके मात्र परम्पराओं को चुनती है फलत: अपनी सम्पूर्णता के मूल्य पर, एक ढंग का, एक सामूहिक जीवन पद्धति का विकास करती है ।"[×]

सामाजिक स्तर व्यक्ति की संधारणा को समझने के लिए युंग का कथन महत्वपूर्ण होते हुये भी कई प्रश्नों को जन्म देता है । इसके साथ ही वह परम्पराओं को व्यक्ति की चयन की अक्षमता मानता है । यद्यपि युंग ने इसे स्पष्ट रूप से कहीं स्वीकार नहीं किया है किन्तु उसका यह कथन कि :-

" दूसरे मार्ग नैतिक, सामाजिक, राजनैतिक, दार्शनिक और धार्मिक परम्पराओं के मार्ग हैं", इस दूसरे मार्ग को व्यक्तित्व के मूल स्वर से पृथक स्वीकार करना है ।

सामाजिक स्तर पर व्यक्तित्व की संधारणा को और अधिक स्पष्ट करने के लिए मनोवैज्ञानिक कुर्तलिविन ने जिस सिद्धान्त को प्रस्तुत किया उसे क्षेत्र सिद्धान्त के रूप में जाना जाता है ।

लेविन का क्षेत्र सिद्धान्त :-

2.4.3.2.1.

मनोवैज्ञानिक लेविन ने व्यक्तित्व को सामाजिक स्तर पर समझने के लिये इस सिद्धान्त को प्रस्तुत किया है । सारस्वरूप इसकी मान्यतायें इस प्रकार हैं :-

§।§ व्यक्ति एक संकुल ऊर्जा व्यवस्था है ।[2]

---

1. The other ways are conventionalities of moral, social, political, philosophical or religious nature. The fact that the conventions always flourish in one form or another only proves that the vast majority of mankind do not choose their own way, but convention, and consequently develop not themselves but a method and a collective mode of life at the cost of their own wholeness". --C.G. Jung. The collected papers of C.G. Jung. Vol.17 page.174.

2. Person is a complex energy System. K.Lewin: Theories of Personality ed. Hall and Lindzey page.226.

§2§ आवश्यकता को अभिव्यक्ति, ऊर्जा को मुक्ति, तनाओं को अभिवृद्धि, मूल्यों का बोध एवं बल को सृष्टि है । ×

§3§ व्यक्ति विश्व में एक पृथक सत्ता के रूप में भी है तथा उसके अविभाज्य अंग के रूप में भी ।

§4§ व्यक्ति के चारो ओर एक व्यवहार क्षेत्र होता है जो उसके व्यवहार के समय निर्मित होता है ।

§5§ मूर्त व्यक्ति को मूर्त स्थिति में गणितीय रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है ।

§6§ विश्व के सन्दर्भ में एवं उसके व्यवहार क्षेत्र को एक वृहद वृत्त के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है । § देखिये चित्र §

इस चित्र से स्पष्ट होता है कि :-

§1§ व्यक्ति विश्व में पृथक सत्ता होने के साथ ही उसका अविभाज्य अंग है ।

§2§ ऐसी स्थिति में व्यक्ति एवं विश्व की पृथकता तथा एकता दोनो ही प्रदर्शित की गयी हैं ।

§3§ व्यक्ति के चारो ओर का परिवेश उसका मानसिक परिवेश कहलाता है । जिसे चित्र में अंग्रेजी अक्षर ई से इंगित किया गया है । "पी" के चारो ओर का क्षेत्र अर्थात् व्यक्ति और वातावरण का योग जीवन क्षेत्र कहलाता है । इसके बाहर का जगत भौतिक जगत है ।

§4§ वृहत् वृत्त की परिधि रेखा जीवन की वास्तविकता का प्रतिनिधित्व करती है ।

§5§ जीवने क्षेत्र में व्यक्ति के व्यवहार को निर्धारित करने वाले समस्त तथ्यों की समग्रता को समावेशित किया गया है ।

§6§ जीवन क्षेत्र का भौतिक क्षेत्र द्वारा आवृत्त होने का यह अर्थ नहीं है कि जीवन क्षेत्र भौतिक क्षेत्र का अंग है ।

× Ibid. page 232.

§7§ भौतिक क्षेत्र भौतिक रूप से मानसिक वातावरण को प्रभावित करता है फलतः यह कहा जा सकता है कि जीवन क्षेत्र एवं उसके वाह्य जगत की सीमा रेखा परस्पर प्रभावशीलता के गुण से युक्त हैं ।

§8§ व्यक्ति स्वयं एकांगी न होकर विषमांगी होता है । जिसका अर्थ है कि उसकी अन्तर्रचना में अनेक भाग होते हैं । ये समस्त भाग ऐ दूसरे से भिन्न होते हुये भी सतत सम्पर्कित होते हैं । इसी प्रकार जीवन क्षेत्र जिसे हमने मानसिक परिवेश कहा है अनेक खंण्डों में विभक्त रहता है । एक खण्ड में घटनेवाली घटना दूसरे खंण्ड को प्रभावित करती है । इस प्रकार परिवेश व्यक्ति को तथा व्यक्ति परिवेश को परिवर्तित किया करता है ।

§9§ व्यक्ति और घटनाओं के मध्य जो विभाजक सीमा रेखा होती है वह भी भेद्य तथा अभेद्य - दो प्रकार की होती है । अभेद्य का अर्थ सम्पूर्णतः अभेद्य नहीं होता । ऐसी स्थिति में व्यवहार एवं परिवेश दोनों ही एक दूसरे को निरन्तर प्रभावित किया करते हैं । § देखिये चित्र §

इस प्रकार व्यक्तित्व के सामाजिक स्तर को समझने के लिए आवश्यक है कि हम जाने कि व्यक्ति अपने मानसिक परिवेश की किस स्थिति में है ? बहुत संभव है एक व्यक्ति जो भौतिक रूप से कक्षा में बैठा है मानसिक रूप से मैदान में बेस बॉल खेल रहा हो जिसके परिणाम स्वरूप कक्षा में घटनेवाली सब घटनायें उसके ऊपर कोई भी प्रभाव न डाल पायें जबकि दूसरी ओर सब कक्षा में बगल में बैठी एक लड़की द्वारा प्रस्तुत टिप्पणी सरलता से उसके विचारों को खेल के मैदाने से विरक्त कर दे । इससे यह समझना चाहिये कि समस्त सीमा रेखायें वस्तुतः परिवर्तनीय होती हैं । इसके साथ ही उनकी संख्या भी घटती बढ़ती रहती है ।×

× K. Lewin. Field theory in Social Science; Selected theoritical papers ed. D. Cartwright. Harper & Rao New York 1951 page 250-251.

लेविन का क्षेत्र सिद्धान्त

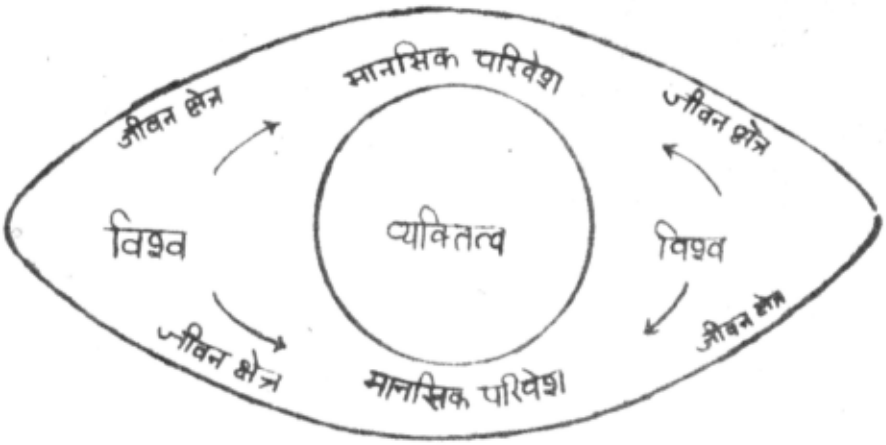

व्यक्तित्व की अन्तर्रचना

लेविन का क्षेत्र सिद्धान्त

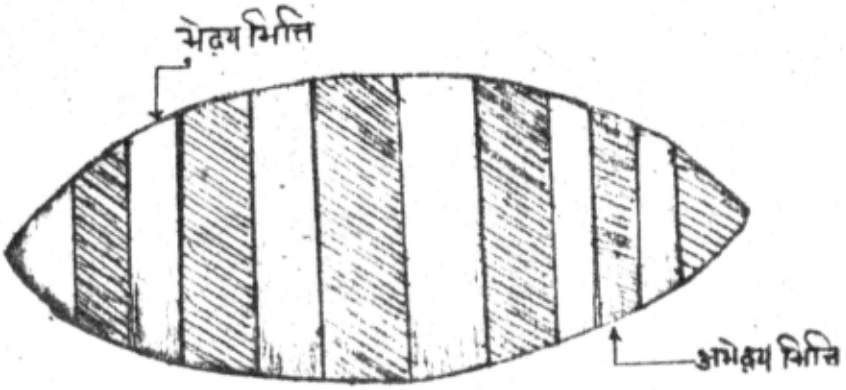

परिवेश की अन्तर्रचना

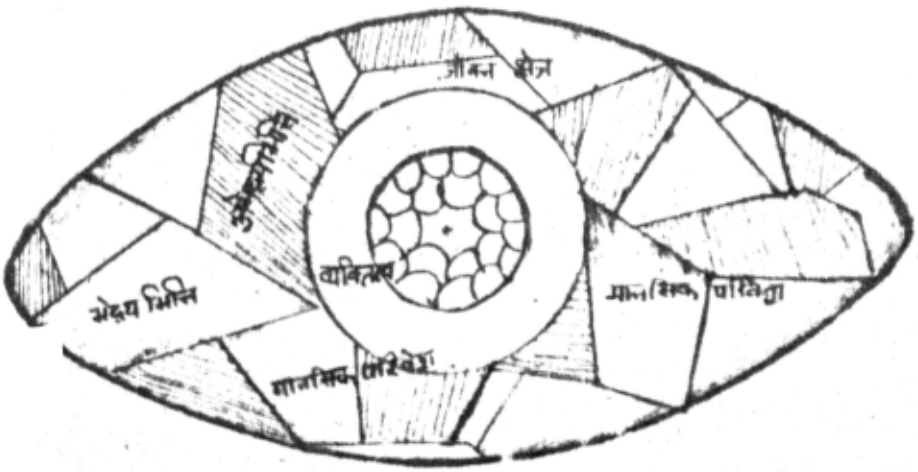

व्यक्तित्व का सामाजिक स्तर

डॉ. कुर्त लेविन के उपर्युक्त सिद्धान्त से व्यक्तित्व के सम्बन्ध में जो निष्कर्ष प्राप्त किये जा सकते हैं वे इस प्रकार हैं :-

(1) व्यक्तित्व जन्म जात होता है ।

(2) व्यक्ति विश्व का अभिन्न अंग होते हुए भी एक स्वतन्त्र इकाई है ।

(3) व्यक्ति का अन्त: संसार भी पर्याप्त संकुल संरचनात्मक होता है । इसके विभिन्न भागों के मध्य एक ऐसी भित्ति होती है जिसकी भेद्यता एवं अभेद्यता सतत परिवर्तनशील होती है ।

(4) वाह्य वातावरण में व्यक्ति का मानसिक परिवेश भौतिक परिवेश के निरन्तर सातत्य के कारण उससे सदा प्रभावित होता रहता है तथा अपने अस्तित्व से वाह्य परिवेश को भी प्रभावित किया करता है ।

(5) अन्तर्रचना की जटिलता एवं विभिन्नता के होते हुये भी व्यक्ति और परिवेश एक दूसरे को सतत प्रभावित करते रहते हैं । गार्डन महोदय का यह कथन हमें इस सम्बन्ध में बहुत उपयुक्त प्रतीत होता है कि :-

" व्यक्ति अपने परिवेश से बहुत अधिक प्रभावित होता है तथा उससे भिन्न रूप में न उसे समझा जा सकता है और न उसके सम्बन्ध में विचार ही किया जा सकता है ।"[1]

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि व्यक्ति के अनुभवों को अर्थ देने की प्रक्रिया में प्रभाव तथा भाव दोनों ही सम्मिलित रहते हैं । कोई भी व्यवहार अथवा अनुभव प्रभाव के बिना नहीं होता । यह प्रभाव सामाजिक स्तर पर प्रकृति

1. The person is thus greatly affected by his enviornment and cannot be considered or understood apart from it. "IRA.J. Garden. Human Development a Transectional prospective. Harper & Rao London.1975 page.8.

एवं व्यक्ति दोनों का हो हो सकता है । अन्तर्मानस को रचना में जिन अनेक प्रकोष्ठों को चर्चा को गई है वे व्यक्ति मानस पर पड़े हुये चेतन अथवा अचेतन रूप से राजनैतिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, धार्मिक परिवेशों के प्रभाव हो हैं जो स्थिति विशेष में सक्रिय होकर व्यक्ति के सम्पूर्ण व्यवहार को प्रभावित करते हैं । इसप्रकार एक क्षण विशेष में व्यक्ति के व्यवहार को समग्रता का जो रूप होगा वह उसके व्यक्तित्व को प्रतिबिम्बित करेगा । व्यक्ति के सम्बन्ध में बिंब से अधिक कुछ नहो कहा जा सक्ता क्योंकि दृष्टा के मानस पर व्यक्ति को जिस मूर्तता का प्रभाव पड़ता है वह उसके अन्तर्मन को छाया होतो है ।

आवश्यकता सिद्धान्त :-

§ एरिक फ्राम §

2.4.3.3.2.2.

लेविन के सिद्धान्त से व्यक्तित्व के सम्बन्ध में उसके स माजिक स्तर के मात्र उस पक्ष पर प्रकाश पड़ता हे जिसके अन्तर्गत वह समाज से प्रभावित होता है या समाज को प्रभावित करता है । व्यक्ति और समाज को संरचना को गणितोय विधि से रेखांकित कर व्याख्यायित करने का प्रयास लेविन ने किया किन्तु व्यक्ति को आवश्यक्ताओं के सामाजिक परिप्रेक्ष्य पर लेविन महोदय ने विशेष विचार नहों किया है । आवश्यक्ताओं का अनुभव व्यक्ति सतत किया करता है । एक व्यक्ति को आवश्यक्तायें दूसरे को किसो न किसो रूप में प्रभावित अवश्य करतों हैं अस्तु उसको आवश्यक्ताओं पर विचार किये बिना व्यक्तित्व के सामाजिक स्तर को समझ नितान्त अधूरो रहेगो । मनोवैज्ञानिक मनुष्य को अस्तित्व सम्बन्धो पाँच आवश्यक्ताओं को मानते हैं जो इस प्रकार है -

§1§ सम्बन्धित रहने को आवश्यक्ता

§2§ अतिक्रमण को आवश्यक्ता

§3§ मूलबद्धता को आवश्यक्ता

§4§ पहचान को आवश्यक्ता

§5§ अनुस्थापन को आवश्यक्ता । ×

× The personality Theories - Hall and Lindzey page 131.

(1) सम्बन्धित रहने की आवश्यकता :-

2.4.1.3.2.2.1

वस्तुत: आवश्यकता का मूल उस तथ्य में खोजा जा सकता जिसके अनुसार व्यक्ति का विकास पशु से हुआ है । डारविन के विकासवादी सिद्धान्त के आधार पर आज भी व्यक्ति अपने व्यवहार में कहीं न कहीं आदिम पशु जगत् से जुड़ा रहना चाहता है ।

(2) अतिक्रमण की आवश्यकता :-

2.4.1.3.2.2.2.

पशु जगत से जुड़ने के साथ ही उससे ऊपर उठकर रचनात्मकता की इच्छा यानी अपने वर्तमान काल का अतिक्रमण कर अन्य तलों पर अवस्थित होने की इच्छाउसकी दूसरी आवश्यकता है ।

(3) मूलबद्धता की आवश्यकता :-

2.4.1.3.2.2.3.

व्यक्ति एक ओर जहाँ अपने परिवेश का अतिक्रमण करना चाहता है नूतन आयामों वाले नर क्षितिजों की खोज करना चाहता है वहीं कहीं पर उसके संस्कार उसे अपने समानधर्मी जीवधारियों से जुड़े रहने के लिए अनाहूत आमंत्रण भेजते रहते हैं । धरती का यह मोह उसे अतिक्रमण से रोकता है । जन जीवन से जुड़े रहने की प्रवृत्ति ही मूल बद्धता की आवश्यकता है ।

(4) पहचान की आवश्यकता :-

2.4.1.3.2.2.4

व्यक्ति अपने कार्यों द्वारा अपनी पहचान स्थापित करना चाहता है जैसे उसकी पहचान लुप्त हो गयी हो ? कौन सी पहचान है जिसे वह कायम करना चाहता है या फिर जिसकी उसे तलाश रहती है ? वह जो कुछ भी करता है उस सब में फिर -फिर अपने आप को ही पाना चाहता है । उसके अस्तित्व को दूसरे सराहें सकारें यही उसका प्रयत्न रहता है । एरिक फ्राम महोदय व्यक्ति के इस प्रयास को पहचान की आवश्यकता कहते हैं ।

(5) अनुस्थापन की आवश्यकता :-
2.4.1.3.2.2.5

व्यक्ति द्वारा विश्व को समझने -बूझने के निश्चित ढंग ढाँचे को अपनाने का प्रयास अनुस्थापन की आवश्यकता है । उसका यह प्रयास औचित्य अथवा अनौचित्यपूर्ण भी हो सकता है । बहुत संभव है उसमें औचित्यता तथा अनौचित्यता दोनो के ही तत्व हों ।

आवश्यकताओं एवं व्यक्तित्व के समाजिक स्तर पर विचार करते हुए एरिक फ्राम निम्न निष्कर्षों पर पहुँचते हैं :-

(1) मनुष्य के पास जन्मत: एक प्रकृति होती है ।

(2) इस आवश्यक प्रकृति को पूर्णता प्रदान करने के लिए ही मनुष्य ने समाज का निर्माण किया है ।

(3) मानव की आधार भूत आवश्यकताओं के को पूर्ण करने में आज तक कोई समाज सफल नहीं हो सका है ।

(4) किन्तु ऐसे समाज की संरचना संभव है । जिस समाज को एरिक फ्राम कल्पना करते हैं वह साज है जिसमें मनुष्य मनुष्य से प्रेम के सम्बन्धों द्वारा बंधा रहता है, जहाँ पर भ्रातत्व के बन्धन उस धरती से जकड़े रहते हैं । [1]

कैरेन हार्नी :-
2.4.1.3.2.3.

व्यक्तित्व को व्याख्यायित करने के लिए आवश्यकताओं को लेकर विचार करनेवाले मनोवैज्ञानिकों में कैरेन हार्नी का अपना स्थान है । उन्होंने मानवीय आवश्यकताओं को निम्नलिखित तीन वर्गों में विभाजित किया है --

(1) जन समुदाय की ओर बढ़ने की आवश्यकता

(2) जन समुदाय से दूर हटने की आवश्यकता तथा

(3) जन समुदाय के विरुद्ध उठने की आवश्यकता ।

1. Erich Fromm - 1955 page 362 quoted by Hall and Lindzey. Theories of Personality page 133.

§1§ जन समुदाय को ओर बढ़ने को आवश्यक्ता :-

2.4.1.3.2.3.1

इसके अन्तर्गत व्यक्ति को प्रेम सम्बन्धो आवश्यक्ता को स्थान दिया गया है । § प्रेम का यहाँ पर व्यापक अर्थ है अर्थात् जैवतल के शारोरिक सम्बन्धों से लेकर मानसिक्ता के तल पर अनुभव किये जाने वाले समस्त सम्बन्ध । §

§2§ जन समुदाय से दूर हटने को आवश्यक्ता :-

2.4.1.3.2.3.2.

समानज जोव धारियों के प्रति आकर्षण के अतिरिक्त जिस भाव का अनुभव व्यक्ति समाज में करता है उसमें विकर्षण भो है । आकर्षण के क्षणों में जहाँ वह बँधना चाहता है वहों विकर्षण के पल उसे मुक्ति को ओर प्रेरित करते हैं । मनुष्य को मुक्ति कामना उसको दूसरो प्रकार को आवश्यक्ता है ।

§3§ जन समुदाय के विरुद्ध उठने को आवश्यक्ता :-

2.4.1.3.2.3.3.

व्यक्ति जोवन में जन समुदाय के प्रति आकर्षण -विकर्षण के अतिरिक्त एक तोसरो भावना का अनुभव भो करता है वह भावना है उसके विरुद्ध उठने को अर्थात् विद्रोह को । हार्नो ने इसे शक्ति को आवश्यक्ता ह कहा है ।

सामाजिक स्तर पर व्यक्तित्व के सम्बन्ध में विचार करनेवालो कैरेन हार्नो के वर्गोकरण का मूल आधार व्यक्ति का व्यक्ति या व्यक्तियों के प्रति किया जाने वाला व्यवहार है । व्यवहार को भिन्नता का मूल कारण व्यक्ति को प्राकृतिक भिन्नता न होकर सामाजिक परिस्थितियाँ हैं । [1]

हैरो स्टैक सुलोवान :-

2.4.1.3.2.4.2

" सामाजिक स्तर पर व्यक्तित्व के सम्बन्ध में विचार करने वाले

1. Theories of Personality. Hall and Lindzey page. 1367.

मनोवैज्ञानिक सुलोवान एक ओर जहाँ व्यक्तित्व को एक ऐसा " प्राक्कल्पित अस्तित्व मानते हैं जिसे व्यक्ति के अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्धो एवं परिस्थितियों से पृथक नहो किया जा सक्ता ।"[×] वहों आवश्यक्ताओं को का सम्बन्ध जोवन को जैव रसायनिक (फिजियोकेमिक्ल) न्यूनताओं से जोड़ते हुये उन्हें उन परिस्थितियों के रूप में स्वोकार करते हैं जिनके कारण जैविक संरचना को व्यवस्था में संन्तुलन उत्पन्न होता है । इस असंतुलित अवस्था को पुन: संतुलित करने के लिए जो गति होतो है उसो के आधार पर व्यक्तित्व का निर्माण होता है । इस दृष्टिकोण से विचार करने पर सुलविन महोदय यह भो स्वोकार करते हैं कि मानवोय जैव संरचना के अत्यधिक संवेदनशोल एवं नमनोय होने के कारण जैसे हो उसके अन्तर्वैयक्तिक संबंधों में कोई परिवर्तन आता है उसका व्यक्तित्व बदल सक्ता है । [2]

मुरे :-
EM-1-325.

व्यक्तित्व के सम्बन्ध में सामाजिक दृष्टिकोण से मनोवैज्ञानिक मरे ने भो पर्याप्त विचार किया है । वे एक ओर तो व्यक्तित्व को " नैरन्तर्य" को स्थिति [3] मानते हुये उसे जोवन के ऐसे नियामक तत्व या संस्था के रूप में स्वोकार करते हैं जो जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त लगातार व्यक्ति को कार्य प्रणालो में परिवर्तन किया करतो है ।[4]

× Personality is a hypothetical entity which can not be isolated from inter personal situations and inter personal behaviour. Ibid page. 137.
2. Theories of personality Hall and Lindzey. page - 141-150.
3. Ibid page. 167.
4. Murray : 1951 p.436,

मरे व्यक्तित्व को प्रकृति को अमूर्त मानते हैं उसका सम्बन्ध जीवने में घटनेवाली घटनाओं के क्रम से स्थापित करते हैं । व्यक्तित्व का इतिहास व्यक्तित्व स्वयं होता है । अस्तु व्यक्तित्व के माध्यम से व्यवहार के पुनरावृत्ति एवं सहनशीलता के तत्व प्रकट होते हैं ।

मरे महोदय ने आवश्यक्ताओं पर भी विचार किया है । उन्होने आवश्यक्ताओं के चार वर्गीकरण किये हैं :-

§1§ मुख्य आवश्यक्तायें § प्राथमरी नीड्स §

§2§ गौण आवश्यक्तायें § सेकेन्डरी नीड्स §

§3§ प्रत्यक्ष आवश्यक्तायें § ओवर्ट नीड्स § तथा

§4§ अप्रत्यक्ष या गुप्त आवश्यक्तायें § कोवर्ट नीड्स §

§1§ मुख्य आवश्यक्तायें :-

2.4.1.3.2.5.1

मुख्य आवश्यक्ताओं का सम्बन्ध जैविकस्तर के संतुष्टिकरण से है । इसके अन्तर्गत, भोजन, पानी, वायु, काम आदि की आवश्यक्ताओं को रखा है ।

§2§ गौण आवश्यक्तायें :-

2.4.1.3.2.5.2.

गौण आवश्यक्ताओं का उद्भव मुख्य आवश्यक्ताओं की कुक्षि से ही होता है किन्तु इनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध जैवस्तर पर उठनेवाली किसी प्रत्यक्ष प्रक्रिया से नहीं होता । इनके अन्तर्गत -, प्रदर्शन की भावना, दूसरों द्वारा सकारे जाने की इच्छा तथा प्रभुत्व की कामना आदि आते हैं ।

§3§ प्रत्यक्ष आवश्यक्तायें :-

2.4.1.3.2.5.3.

ये वे आवश्यक्तायें होतीं है जिनकी अभिव्यक्ति मात्र यांत्रिकी होती

है ।

(4) अप्रत्यक्ष या गुप्त आवश्यकतायें :-

इस वर्ग के अन्तर्गत मरे महोदय ने काल्पनिक आवश्यकताओं या स्वप्नों के माध्यम से अभिव्यंजित आवश्यकताओं को स्थान दिया है । [×]

इसप्रकार मरे महोदय के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति मानवीय अन्त: क्रियाओं का अविभाज्य अंग होने के कारण मूल रूप से सामाजिक व्यक्ति है [2] तथा उसका व्यक्तित्व उसकी अपनी भावनाओं तथा दूसरों की माँगों एवं हितों के मध्य एक समझौता है । [3]

जी. डब्ल्यू आल पोर्ट :-

मरे महोदय ने जहाँ व्यक्तित्व को अमूर्त घोषित किया है वहीं वैयक्तिक दृष्टिकोण से व्यक्तित्व के सम्बन्ध में विचार करने वाले मनोवैज्ञानिक आलपोर्ट " व्यक्तित्व के वास्तविक अस्तित्व को स्वीकार करते हैं । [4] उनकी मान्यता है कि व्यक्ति के व्यवहार में निश्चयात्मकता की जो प्रवृत्ति होती है वही उसके व्यक्तित्व का निर्माण करती है । [5]

1. Personality Theories. Hall and Lindzey. page 178.
2. Basically every person is a social person an inter dependent part of a system of human interactions. Ibid. page.192.
3. -----human personality is a compromise between the individual's own impulses and the demand and interest of the other people. Ibid. page. 193.
4. -----Personality has a real existence". The theories of personality Hall and Lindzey page.204.
5. -----human needs are organised into a hirearchy of relative pre-potency". Abraham Maslow. A theory of Human motivation, psychology in the world to-day ed. by Robert V. Guthrie record edn. Addison. Wesley Publishing Co. London. 1971. page.101

अब्राहम . एच मासलोव :-

सामाजिक स्तर पर व्यक्ति को वरीयता प्रदान करने वाले मनोवैज्ञानिक मासलोव ने आवश्यकताओं के सम्बन्ध में विचार करते हुये यह बताया कि " मानवीय आवश्यकतायें सापेक्ष अधि क्षमता के पदानुक्रम में संगठित रहतीं हैं ।"× पूर्ति के क्रम के अनुसार इन्हें आधारभूत आवश्यकताओं को संज्ञा देते हुये कम से कम पाँच वर्गों में विभाजित किया जा सकता है । संक्षेप में इन्हें §1§ जैविक, §2§ सुरक्षात्मक, §3§ प्रम सम्बन्धो, §4§ भावनात्मक तथा §5§ आत्मगतिक आवश्यकताओं को संज्ञा दो जा सकती है । [2] व्यक्ति एक निश्चित क्रम से इनका अनुभव करता है । उदाहरण के लिए जैविक तथा सुरक्षात्मक आवश्यकताओं को संतुष्टि हो जाने पर हो व्यक्ति को प्रेम सम्बन्धो आवश्यकताओं का अनुभव होता है [3]

मासलोव ने आवश्यकताओं को आ अनन्तता के सम्बन्ध में विचार करते समय जो महत्वपूर्ण बात कहो है वह यह है कि आवश्यकताओं को अनन्तता उस समय तक अनुभव होतो रहतो है जब तक व्यक्ति जिस कार्य के लिये उपयुक्त है वह कार्य नहीं करता । [4]

× Ibid page. 116.

2. "If both the physiological and the softy needs are farely well gratified, then there will emerge the love and affection and belongingness needs". Abraham H. Marlow. "A theory of Human motivation. Psychology in the world To-day ed, by Robert V. Guthrie page. 108.

3. Ibid page. 109.

4. Ibid page. 109.

प्रश्न उठ सकते हैं कि व्यक्ति की उपयुक्तता किस कार्य के लिये है तथा क्या उसे अपनी उपयुक्तता का बोध हो सकता है या होता है ? पहले प्रश्न का उत्तर, यद्यपि बहुत स्पष्ट नहीं, देने का प्रयास मासलोव महोदय ने आत्मगतिक आवश्यकता की व्याख्या करते हुये इस प्रकार दिया है :-

" मनुष्य जो हो सकता है उसे वह होना ही चाहिये इस आवश्यकता को हम आत्मगतिक आवश्यकता कह सकते हैं । " ×

आत्मगतिकता या स्व के प्रत्यक्षीकरण पर विचार करते हुये डॉ. कुर्त गोल्डस्टीन लिखते हैं कि -

" आत्मगतिकता या स्व प्रत्यक्षीकरण मानव प्रकृति की रचनात्मक प्रवृत्ति है । " [2]

गोल्डस्टीन के वक्तव्य से जो अर्थ निकलता है उसके आधार पर हम कह सकते हैं कि :-

(1) आत्मगतिकता या स्व का प्रत्यक्षीकरण (सेल्फ एक्चुलाईजेशन) मानव की रचनात्मक प्रवृत्ति है अर्थात् व्यक्ति सभी प्रकार की रचनाओं में वस्तुत: अपने आप को ही प्रत्यक्षीकरण करता है ।

तथा

(2) स्वप्रत्यक्षीकरण के अन्तर्गत भूख, प्यास, काम, आश्चर्यवत्ता या सौन्दर्य दर्शन (सौन्दय का एक गुण आश्चर्य चकित करने वाला भी होता है ।) तथा शक्ति को प्राप्त करने का प्रयास भी होता है ।

(3) रचना धर्मिता की इस प्रवृत्ति में रचना स्वयं महत्वपूर्ण नहीं है - महत्वपूर्ण है भरने की प्रवृत्ति । एक शून्य को भरने के प्रयास में मूर्त या अमूर्त कुछ भी सृजित हो सकता है ।

मासलोव के सम्बन्ध में उठने वाले दूसरे प्रश्न को लेकर अधिक से अधिक

1. Theories of personality; Hall and Lindzey. page.306.

यही कहा जा सकता है कि यदि प्रश्न उठता है तो उसका उत्तर भी होता अवश्य है । यदि प्रश्न की संभावना है तो उत्तर भी संभाव्य है । उत्तर की यह खोज समय और श्रम की कितनी अपेक्षा रखती है यह बहुत महत्वपूर्ण नहीं है । मासलोव का उत्तर बहुत संतोषजनक उत्तर नहीं है क्योंकि इस उत्तर को खोज से फिर प्रश्न जनमता है कि मनुष्य क्या हो सकता है ? उसे क्या होना चाहिये ? एक प्रश्न दूसरे के उत्तर के रूप में यदि प्रयुक्त किया जाय तो स्थिति सुलझने के स्थान पर और उलझ कर रह जाती है । इसके पूर्व हम इस सम्बन्ध में किसी निश्चित बिन्दु पर पहुँचने का प्रयास करें अधिक उपयुक्त तो यह होगा कि हम व्यक्तित्व के आध्यात्मिक स्तर पर भी एक दृष्टिपात कर लें ।

व्यक्तित्व का आध्यात्मिक स्तर :-
2.4.1.3.3.

आध्यात्मिक स्तर पर जब भी किसी अध्ययन की बात चलती है तो चाहे-अनचाहे कुछ लोगों के, विशेषकर अपने को प्रगतिशील तथा वैज्ञानिकता के निकट समझने वाले लोगों के मानस पर एक पौराणिक छाया मंडराने लगती है । कुछ ऐसे भी लोग हैं जो मात्र वही मानने को प्रस्तुत हैं जो प्रयोगशालाओं में कुछ उपकरणों के द्वारा सिद्ध हो जाय । प्रयोगशाला में उपकरण के द्वारा परीक्षित ज्ञान ही मात्र एक ज्ञान है इस मत के समर्थकों को आध्यात्मिकता के नाम से एक अन्जानी अनबूझी सी परेशानी होने लगती है । आत्मा के अस्तित्व को प्रमाणित नहीं किया जा सकता, इसलिए आत्मा नाम की किसी चीज का अस्तित्व नहीं है । अर्थात् वह कार्य या विचार जिसे प्रयोगशाला में प्रयोगों द्वारा परिभाषित न किया जा सके उसके लिये विज्ञान में कोई स्थान नहीं है । न्यूटन ने भौतिकी में शुद्ध समय या चरम समय (एब्सोल्यूट टाइम) का प्रयोग किया अब चूँकि भौतिक शास्त्र में इस विचार को प्रयोग द्वारा सिद्ध करने का कोई उपाय नहीं है इसलिये न्यूटन के इस शुद्ध समय सम्बन्धी विचार को भौतिक शास्त्र से निकाल दिया जाना चाहिये क्योंकि

यह एक अर्थ हीन विचार है ।[x] वस्तुत: वैज्ञानिक उपकरण भी तो मनुष्य की अपनी खोजों का परिणाम हैं । आज यदि ऐसा कुछ जिसे मानव मन अनुभव करता है किन्तु उसे प्रयोगों या तर्कों द्वारा भी सिद्ध नहीं कर पाता तो इससे उस पर वैज्ञानिकता की छाप भले ही न लगे किन्तु उसकी स्थिति पर व्यक्ति के अनुभव का सन्देह नहीं किया जा सकता । तर्क हो सकता है कि ऐसी स्थिति में विश्वास नहीं किया जा सकता है ठीक है किन्तु विश्वास न करने का अर्थ सन्देह नहीं होता । इसके साथ ही जितना कुछ अनुभव में जन्मता है क्या वह पूरा का पूरा मात्र इसलिए असत्य है या अविश्वसनीय है क्योंकि वह अन्य प्रकारों माध्यमों से सिद्ध नहीं किया जा सकता ? चरम ऊर्जा का विचार (कन्सेप्ट ऑफ एब्सोल्यूट एनर्जी) को कोई भी रूप क्वाँटा के आगे सिद्ध नहीं होता किन्तु इससे ऊर्जा के विचार को असत्य नहीं घोषित किया जा सकता है । जितना हम जानते हैं या जानने का दावा करते हैं उससे कई गुना ऐसा है जिसे हम नहीं जानते । किन्तु हमारे जानने अथवा न जानने से उसके होने में कोई अन्तर नहीं पड़ता । बहुत संभव है कि हमारे न जानने के कारण हमारे लिए उसका अस्तित्व न हो किन्तु उसके अस्तित्व को इस हमारे नकार से कोई अन्तर नहीं पड़ता । हमारा न जानना हमारा अपना अज्ञान है वस्तु के अस्तित्व का अभाव नहीं । ऐसी स्थिति में एक जिज्ञासु के दृष्टिकोण से उस सबको जिसके सम्बन्ध में हमें प्रयोगशालाओं का बल या तर्कों का सम्बल उपलब्ध न हो, उसे महत्वहीन कह कर ठुकराया नहीं जा सकता ।

" पूर्ण जीवन के बिना ही व्यक्तित्व को कौन पा सकता है । "[2]

-- जैसी अभिव्यक्तियों द्वारा युंग ने व्यक्तित्व की आध्यात्मिकता को

1. Benjamin B. Wotman. " Concerning Psychology and the philosophy of the Science. Hand Book of General Psychology ed. by Benjamin B. Wolman. page Prentice - Hall Inc. Englewood Cliffs, New hersey. London. 1973 page-28.
2. Who can achieve personality as the fruit of full life" C.G. Jung. The collected work of C.G. Jung Vol. 17 page.171.

संकेतित किया था एडलर ने आत्मा के रचनात्मक स्वरूप को स्वीकारते हुये उसके आत्म स्वरूप का यह कह कर समर्थन किया कि -

" रचनात्मक आत्मा जीवन को अर्थवत्ता प्रदान करती है, यह उद्देश्यों तथा साधनों को उत्पन्न करता है रचनात्मक आत्मा का सिद्धान्त मानव जीवन का क्रियाशील सिद्धान्त है तथा यह आत्मा के प्रति प्राचीनतर विचार से भिन्न नहीं है । "[x]

वस्तुत: युंग ने आत्मा पर बहुत बल दिया था उसने आत्मा को व्यक्तित्व का वह केन्द्र माना है जिसके चारो ओर अन्य व्यवस्थायें तारा मण्डल की भाँति परिक्रमा करती हैं । [2] अब्राहम मासलोव जब आत्मातिक या आत्म प्रत्यक्षीकरण (सेल्फ एक्चुअलाईजेशन) की चर्चा करते हैं तो कुछ ऐसी ही ध्वनि हमें सुनाई पड़ती है जिसकी ओर गत पृष्ठों में संकेत किया गया है । फ्रेडिरिक पर्ल (जेस्टाल्ट) पर विचार करते हुये आत्म चेतना के लिए चेतना की अखण्डता का विचार प्रस्तुत करते हैं [3] चेतना का यह विन्दु उस समय रहस्यवादी हो उठता है जब वे चेतना के क्षेत्रों को निर्देशित करते हुये उसके तृतीय क्षेत्र में प्रवेश करते हैं । पर्ल के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति के पास चेतना के तीन क्षेत्र होते हैं - पहला आत्मा के प्रति चेतना होना, दूसरा संसार के प्रति चेतन होना तथा तीसरा आत्मा और संसार के मध्य एक कल्पित क्षेत्र के प्रति चेतन होना । [4]

1. Theories of Personality: Hall and Lindzey. page.127.
2. James Fudiman & Robert Frager: Personality and Personal Growth. Horpes and Row. New York.1976 page. 171.
3. For every individual there are three zones of awareness; awareness of self, awareness of the world and awareness of what lies between- a kind of intermediate fantasy zone).
4. Man is divided into a multipliaity of small Is. And each separate small is able to call itself by the name of the whole, to act in the name of the whole, is agree or disagree, to give promises, to make decisions, with which another, One or the whole will have to deal. This explains why people so often make decisions and so seldom carry them out----------. It is the tragedy of the human being that any small I has the right to sign ohegue and promisesory notes

(Contd.)

पर्ल को यह व्याख्या आत्मा को स्वीकार करके चलती है तथा चेतना को उससे पृथक स्वीकार करते हुए उसे आत्मा के प्रति चेतन मानती है । ऐसी स्थिति में प्रश्न उठ सकता है कि यदि चेतना का कार्य क्षेत्र आत्मा भी है तो चेतना का मूल स्रोत क्या है ? क्या आत्मा चेतना से पृथक है अथवा अपने आत्यांतिक रूप में यह द्वैत अर्थहीन है । पर्ल के सामने ऐसे प्रश्न उभरे या नहीं आज आज इस सम्बन्ध में तर्क-वितर्क अर्थ हीन है, किन्तु गुर्जिएफ जैसे साधकों के निकट ये प्रश्न निश्चित रूप से उभरे थे । गुर्जिएफ के विचारों को उसके शिष्य पी.डी. ऑस्पेन्सकी ने लिपिबद्ध करते हुये व्यक्ति और व्यक्तित्व के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है काफी महत्वपूर्ण है । मनुष्य के अन्दर अनेक मनुष्यों की कल्पना और प्रत्येक मनुष्य का अपने आप को वास्तविक मानना व्यक्तित्व की बहुआयमिता को कुंजी सिद्ध हो सकता है । ऑस्पेन्सकी लिखता है कि --

> " मनुष्य अपने अन्तर में अनेक मैं में विभक्त है और प्रत्येक छोटा मैं अपने को एक पूर्णता के साथ एक नाम विशेष से विभूषित भी करता है । पूर्णत्व के नाम पर सहमत अथवा असहमत होना, ऐसे वचन देना, निर्णय करना जिनसे दूसरा मैं दूसरे मैं अथवा अथवा व्यक्ति को समष्टि को निपटना पड़ेगा । इससे यह स्पष्ट होता है कि प्राय: लोग निर्णय लेकर उसे कार्यान्वित क्यों नहीं करते । ..... यह जीवन की विडम्बना है कि किसी भी छोटे मैं को वचनपत्र अथवा चेक पर हस्ताक्षर करने का पूरा अधिकार है जब कि सम्पूर्ण व्यक्ति को उसे निपटाना पड़ता है । व्यक्ति की समग्रता प्राय: इसप्रकार के आकास्मिक मैं द्वारा किये गये वादों तथा लेनदारियों को निपटाने में निहित रहती है । "×

and the man, that is the whole, has to meet them. People's whole lie often consist in paying off the promissory notes of small accidental Is.

L.C. Gurdjieff, quoted by P.D. Ouspensky; In search of Miraculous Harcort Brace and world 1949) John Rowan ordinary Ecastasy page.151.

1. Theories of Personality; Hall and Lindzey page. 304. 306.

उनका संघर्ष वस्तुत: समन्वय के लिये होता है, दोनों के ही रूप बदलते रहते है । इस परिवर्तन का अंकन, विशेष कर व्यक्ति के सम्बन्ध में व्यक्ति के द्वारा, उसके व्यक्तित्व का अंकन व्यक्तित्व के विकास की प्रक्रिया में, या विकसनशीला स्थिति में माना जाता है । स्वयं के द्वारा स्वयं को खोज, अपने आप को पाने की छटपटाहट [1] ऐन एटेम्पट टु नो दाई सेल्फ [1] अक्सर एक ऐसे दार्शनिक पहेली समझी जाती है जिस का हल फुरसतिये विचारक आरामकुर्सी पर लेटे हुये तन्दिल अवस्था में ढूँढा करते हैं -- परन्तु वस्तु स्थिति ऐसी है नहीं । सामूहिक अचेतन के घेरे में अचेतन के गर्भ से उठनेवाली समग्रता की धूमिल छवि तथा उसके समानान्तर जगता हुआ निजी अस्तित्व बोध उसे एक ओर खोजी वृत्ति से भरते हैं तो दूसरी ओर पर-स्वीकार से । पर-स्वीकार ही सही अर्थों में पहचान की तलाश है । इस पहचान की तलाश का अनुभव व्यक्ति को उस समय ही होता है जब दूसरे उसे स्वीकार करें । वह दूसरों द्वारा स्वीकृत होने को अपनी पहचान मानता है । आवश्यक नहीं कि यह स्वीकृति वास्तविक स्वीकृति हो । इस स्वीकृति को प्राप्त करने के लिये सन्तानोत्पत्ति से लेकर दान-पुन्य तक सारे कृत्यों का सम्पादन वह करता है । पहचान की यह तलाश जब शाश्वत्ता से जुड़ने का प्रयास करती है तब अमरत्व की खोज बन जाती है । शाश्वत्ता की यह भावना भी समग्रता की ही अभिव्यक्ति है । देश और काल का अतिक्रमण कर काल जयी बनने की कामना अभाव बोध का स्वीकारउहै किन्तु इस अभाव बोध की पृष्ठभूमि में भाव कल्पना का अस्तित्व भी निहित रहता है । भाव के अभाव में तो अभाव भी अस्तित्वहीन हो जाता है । भाव यानी समग्रता से जुडने का जोधा बोध आत्म बोध है । आत्म बोध का क्षण व्यक्तित्व की पूर्णता का क्षण हो सकता है । बोध का प्रत्येक क्षण अपूर्णता की अभिव्यक्ति है । आत्मबोध के क्षण में तो किसी बोध की कल्पना नहीं की जा सकती । भक्त मानस इसे भावान की उपलब्धि कहे

1. The integrated wholeness of the organism must be one of the foundation stone of motivation theory. Abraham H. Maslow. Psychology in the world to-day page.101.

समग्रता का यह विखण्डित रूप और वह भी ऐसा कि उसको समग्रता खण्डित प्रतीत भी न हो वस्तुत: मैं है । मैं का यह बोध ही व्यक्ति का अस्तित्व बोध है । इस अस्तित्वबोध से आगे को जो यात्रा होती है उस यात्रा के मध्य व्यक्ति का जो अन्त: या वाह्य स्वरूप प्रकट होता है उसको समग्रता को उसका व्यक्तित्व कहा जा सकता है । दृश्य जगत से अदृश्य की ओर तथा मूर्त से अमूर्त की ओर बढ़ते हुये व्यक्तित्व को स्पष्ट करने के लिये हम संक्षेप में दो सिद्धान्तों की चर्चा और करेंगे । पहला सिद्धान्त है शरीर सिद्धान्त तथा दूसरा है अंड सिद्धान्त या व्यक्तित्व संश्लेषण का सिद्धान्त ।

शरीर सिद्धान्त :-

शरीर सिद्धान्त के प्रणेता कुर्त गोल्डस्टीन ने व्यक्तित्व की व्याख्या करने के लिये व्यक्तित्व के रूप में एक शरीर की कल्पना की । शरीर के विभिन्न क्रिया कलाप वस्तुत: उसकी अन्तर्निहित ऊर्जा की अभिव्यक्ति है । शरीर की यह ऊर्जा ही मानसिक ऊर्जा कहलाती है । यह ऊर्जा सम्पूर्ण शरीर में समान रूप से व्याप्त रहती है किन्तु गतिक नियम के अनुसार स्थान यानी खालीपन के अभाव में गति संभव नहीं । मनुष्य द्वारा अनुभव की जाने वाली प्रत्येक अनुभूति अथवा उसके द्वारा व्यक्त प्रत्येक इच्छा एक शून्यता का प्रकाशन है । इस शून्य को भरकर समूचे शरीर में ऊर्जा के वितरण को समान बनाने के प्रयास में जीवन में अनेक कार्यों का सम्पादन होता चलता है । कार्य सम्पादन की यह समग्रता ही व्यक्ति का व्यक्तित्व है । ×

× Hall : Theories of Personality Hall and Lindzey, page 304-305.

संश्लेषण सिद्धान्त :-

अब्राहम एच. मासलोव ने कहा था कि शरीर सिद्धान्त में समग्रता का संगठित रूप ही परिचालन सिद्धान्त की आधारशिला होनी चाहिये ।[×] युंग ने भी व्यक्तित्व की व्याख्या करते हुये उसकी तुलना ताओ से की थी तथा कहा था कि ताओ उस निर्झर के समान है जो निर्बाध गति से अपने गंतव्य की ओर प्रवाहित होता रहता है । प्रश्न उठता है कि वह कौन सा गन्तव्य है जिसकी ओर समस्त गतियाँ और समस्त प्रयास लगातार लगे रहते हैं । यह प्रश्न कुछ विचित्र सी उलझने उत्पन्न करता है । उलझने इसलिये क्योंकि इनका उत्तर आत्मगतिक सिद्धान्त या आवश्यकता के सिद्धान्तो से नहीं मिल पाता । एक आवश्यकता की पूर्ति होते ही दूसरी आवश्यकता का अनुभव क्यों होता है, अथवा एक वस्तु जिसे प्राप्त करने के लिये कुछ समय पूर्व एक व्यक्ति प्राण-प्रण से चेष्टा कर रहा था, उसे प्राप्त करने के पश्चात् उसे ऐसा क्यों प्रतीत होता है कि यह तो उसका प्राप्य न था । एक असंतोष, एक विकलता की ज्वाला उसके प्राणों में क्यों मचलती रहती है ? क्या कुछ समय पूर्व की उसकी आवश्यकता उसकी वास्तविक आवश्यकता न थी ? क्या उसका समस्त प्रयास किसी ऐसी वस्तु के लिये था जिसकी उसे सचमुच खोज ही न थी ? समस्त मानवीय प्रयास एक अर्थहीन अर्थ में क्यों ऐसी खोज पर समाप्त हो जाते हैं जिसे कन्दर्पीय खोज कहा जा सकता है । देर से छिपकों का जोड़ ही अंत में कन्दर्प सिद्ध होता है किन्तु उसकी समग्रता इसे स्वीकार नहीं करने देती । उसमें कुछ और भी होता है जिसकी तलाश में खोजी आवरणों को विमोचित करता चला जाता है और अन्त में फिर एक शून्यता ? अब सत्य ही कहना कठिन है कि आदिम आज तक का खोजी मानस किसी सारपूर्ण तथ्य को उपलब्ध

× The integrated wholeness of the organism must be one of the foundation stone of the Motivation Theory." Abraham H. Maslow Psychology in the world to day page 101

हो सका है किन्तु उसका प्रयास निश्चय ही एक व्याकुलता को प्रमाणिक अभिव्यंजना है । इटली के डॉ. राबर्ट एसागिओली ने व्यक्तित्व की इस आकुलता को देखकर ही व्यक्तित्व विश्लेषण के स्थान पर व्यक्तित्व संश्लेषण की बात की । उन्होंने व्यक्तित्व में गहनता के स्थान पर ऊँचाई को महत्व दिया । अन्ततोगत्वा व्यक्ति का समस्त प्रयास कुछ पाने के लिये ही तो होता है । वह पूर्णता को उपलब्ध होना चाहता है अर्थात् पूर्णत्व उसका प्राप्य है । प्राप्य से जो अर्थ सबसे ज्यादा स्पष्ट होता है वह यह कि अभी तक नहीं मिला है -- यानी पूर्णत्व का अभाव । कुछ है जिसे व्यक्ति पाना चाहता है अर्थात् उससे जुड़ना चाहता है यानी संश्लिष्ट होना चाहता है ।

राबर्ट एसागिओली ने चेतन के समस्त रूपों - अचेतन, पूर्वचेतन, अतिचेतन तथा सामूहिक अचेतन- व्यक्ति तथा उसके प्राप्य को विश्व के अण्डाकार रूप में प्रदर्शित किया । एसागिओली ने एक अण्डाकार वृत्त के तीन भाग किये सबसे निचले भाग को अचेतन, अपेक्षा मध्य भाग को पूर्वचेतन तथा उर्ध्व भाग को अति चेतन का प्रतीक माना । पूर्व चेतन के मध्य में व्यक्ति के अस्तित्व का बोध एक विन्दु द्वारा प्रदर्शित किया तथा उसके चारो ओर का क्षेत्र एक लघु वृत्त द्वारा चेतन क्षेत्र का प्रतीक माना । अति चेतन के शीर्ष विन्दु पर उन्होंने आत्म पराव्यक्तित्व जैसे ~~आत्मव्यक्तित्व~~ विन्दु की कल्पना की । (देखिये चित्र) आत्मपरव्यक्तित्व ही व्यक्ति का आत्मबोध है । व्यक्तित्व का यह वह विन्दु है जो विकास क्रम में शीर्षस्थ है । इसे हो पाने के लिये व्यक्ति सतत् प्रयत्नशील रहता है । यात्रा के इस पथ को अर्थात् अण्डाकार वृत्त को वाह्य परिधि को विन्दुओं से भिन्न चिह्नित करते हुये उसे सामूहिक अचेतन की संज्ञा दी । (हमें राबर्ट एसागिओली का मात्र यह चित्र ही प्राप्त हो सका है । उसकी कोई व्याख्या नहीं । पुस्तक के अन्त में जान रोवन ने सामग्री के उपयोग की ही सम्मति दी है ।)

1. John Rowan: Ordinary Ecstasy. page. 200.

असागिओली का अण्ड चित्र

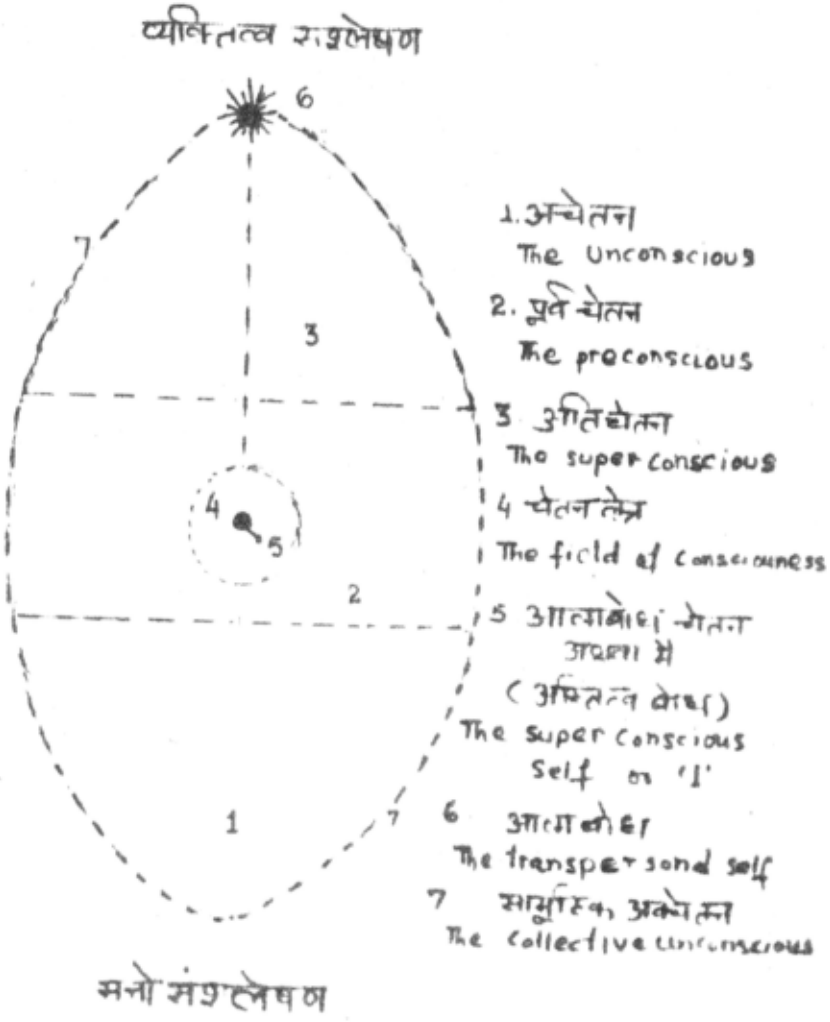

व्यक्तित्व का अध्यात्मिक स्तर

John Rowan Ordinary Ecstasy, Routledge and Kegan Paul Ltd London, 1976, page. 66.

****

व्यक्तित्व : अस्तित्व बोध से आत्म बोध तक :--

2.A.3.4

व्यक्तित्व वस्तुत: उस यात्रा को संज्ञा है जो अस्तित्व बोध से प्रारम्भ होकर आत्म बोध पर समाप्त होतो है । व्यक्तित्व को यात्रा समाप्त होतो है ठोक उसो तरह जैसे सभो यात्रायें समाप्त होतों हैं । समाप्ति का अर्थ व्यक्ति को यानो लेखक को सोमा से है । सोमा, शक्ति या सxx xxxx सामर्थ्य जैसे सभो शब्द अन्ततोगत्वा एक बोध के हो प्रतोक है । इसलिये यह स्वोकार करते हुये कि हमारे बोध के आगे और उससे परे और भो बोध हैं होंगे और हो सकते हैं, जहाँ पर व्यक्ति विशेष का बोध विरमता प्रतोत होता है हो, जहाँ पर चेतना के पटल पर सन्ध्या का काजल गहराने लगे उस पड़ाव को सुविधा के लिये मंजिल मानने का भ्रम बहुत अयुक्ति संगत नहों है । इस भ्रम को भो तो जिया जाता है और सहलाया जाता है । सत्य तो यह है कि कुछ भो कभो समाप्त नहों होता किन्तु फिर जिस रूप में वह रहता है उसे हमारे पुराने बोध सरलता से सकार नहों पाते ।

सामूहिक अचेतन यानो युगों के इतिहास को समेटे जोता हुआ व्यक्ति अपने चारो ओर पूर्व चेतन को स्थिति में एक पूर्ण चेतन प्रकाश का अनुभव करता है । उसका यह अनुभव जहाँ दूसरों के संदर्भ में अस्तित्व बोध के भाव को और मजबूत करता है वहों अचेतन के गर्भ में अस्तित्व बोध पूर्व को समग्रता को धुंधलो स्मृति उसे अपने खण्डित होने का बोध करातो है । खण्डित होने का यह बोध उसे फिर एक व्याकुलता से भर देता है । अस्तित्व को ममता उसे जोवन को ओर प्रेरित करतो है और समग्रता का आकर्षण इस खण्डितावस्था के समस्त सम्बन्धों को एक झटके से तोड़ फेंकने को प्रेरणा देता है । उसके चारो ओर व्याप्त परिवेश, जिसके अन्तर्गत उसका परिवार, गाँव, देश, विश्व और उसमें फैलो हुई विभिन्न परिस्थितियाँ उस पर अपना - अपना प्रभाव डालतों रहतों हैं । वह अपने इस रूप में अपने आप को इतना असुरक्षित अनुभव करता है कि

****

जननी के वक्ष से लगकर उसे महानतम सुरक्षा का बोध होता है । संयोग से इस स्थिति में उसे सुरक्षा के लिये अपने साथ ही दूसरे के अस्तित्व का बोध होता है । दूसरे का अस्तित्व परिचय के घेरे में उसे सुरक्षा प्रदान करता है अर्थात् उसके अस्तित्व बोध को सहलाता रहता है, तथा अपरिचय की स्थिति में उसके लिये भय को सृष्टि करता है । यही कारण है कि व्यक्ति जीवन भर अपने आप को दूसरों में खोजता रहता है । समग्रता की धुंधली स्मृति उसे जब -जब आकुल करती है तब-तब वह आश्वासनों की कोख में सिमटने के लिये प्रयत्नशील हो उठता है । उसके व्यक्तित्व के चारो ओर जो पूर्व चेतन में चेतना का क्षेत्र है उसके सम्बन्ध में में जब हम लेविन के सिद्धान्त को दृष्टि में रखते हुये विचार करते हैं तो व्यक्ति मानस और परिवेश की विभिन्नता तथा उनके मध्य पायी जानेवाली भग्न-अभेद्य भित्तियाँ उसे अनेक घाटों पर भटकने के लिये बाध्य कर देती है । वस्तुत: परिवेश और व्यक्ति में आकर्षण- विकर्षण की क्रीड़ा अबाध रूप से चलती रहती है । यह बहुत निश्चित रूप से कहा ही नहीं जा सकता कि अमुक प्रकार के परिवेश अमुक प्रकार के व्यक्तित्व को उपलब्ध हो सकेगी । बहुत संभव है कि एक सीमा तक कुछ संभावनायें सत्य होती सिद्ध हों किन्तु ऐसा होगा ही आवश्यक नहीं ।

परिवेश तथा व्यक्ति के मध्य जो पूर्णत्व का विन्दु है जिसकी तलाश समूचे व्यक्ति की तलाश है (ट्रान्सपर्सनल सेल्फ) अर्थात् एक ऐसा आत्म रूप जो व्यक्ति के परे है (परे तभी उसे पाया जा सकता है (तथा जैसा ही है) उसकी ओर आकर्षण तभी संभव जब वह कम से कम कुछ समानतायें रखता हो । वह पर्सनल इसलिये है क्योंकि व्यक्ति उसकी ओर आकृष्ट होता है तथा उसका होना अपना होना मानता है । अब ट्रांस (trans) उससे दूरी भी है इसप्रकार वह अप्राप्य व्यक्ति का प्राप्य बन जाता है । प्राप्य से प्राप्तकर्ता की दूरी जहाँ आकर्षण का एक कारण बनती हैं वहीं अनेक बाधाओं को भी उत्पन्न कर देती है । परिवेश अर्थात् चेतना का क्षेत्र, व्यक्ति

और उसके प्राप्य के बीच में होता है, व्यक्ति के लिये एक लेन्स का कार्य करता है । यह लेन्स जिस रंग या प्रकार का होगा प्राप्य का रूप भी व्यक्ति को उसी प्रकार का दृष्टिगत होगा । यह परिवेशीय लेन्स परिवर्तनशील होता है इसीलिये पूर्णरूप की प्राप्ति के लिए एक सीमा तक प्रयत्न करने के पश्चात् अथवा एक वस्तु विशेष को पा चुकने के पश्चात् जब यह परिवेशीय लेन्स बदलता है तो व्यक्ति को सब-कुछ बदला हुआ प्रतीत होता है । कभी-कभी तो उसे ऐसा भी अनुभव हो सकता है कि जिसके लिये वह इतना प्रयास कर रहा था या जिसे इतने श्रम से अर्जित किया वह उसका प्राप्य था ही नहीं । इस स्थिति में उसका पूर्व बोध पुनर्जाग्रत हो सकता है और एक ऐसे तनाव की सृष्टि xxx हो सकती है जिसके कारण अस्तित्व का विशाल फानूश एकबारगी ही अर्श से फर्श पर गिर कर चकनाचूर हो जाय, या फिर मुक्त द्वार से प्रवाहित करते प्रभंजन के मस्त झोंके उसे कुछ इस तरह से हिलाने लगें कि दीपों की बहु फलकी ज्योति काँप-काँप उठे । प्रकाश और छाया की इस उन्मुक्त लीला में पहले ही से विभक्त व्यक्ति मानसिक बिखराव (Schizophremia) की स्थिति में भी पहुँच सकता है ।

व्यक्तित्व के संबंध में एक और महत्वपूर्ण बात यह है कि व्यक्ति अपने व्यक्तित्व के प्रति कितना ही सजग होने का प्रयास क्यों न करे अपने व्यक्तित्व का मूल्यांकन करने में कभी सफल नहीं हो सकता । मूल्यांकन सदा दूसरे ही करते हैं क्योंकि मूल्य का अर्थ ही दूसरे (the other) की उपस्थिति के कारण संभव हो पाता है । इससे कोई विशेष अंतर नहीं पड़ता कि वह दूसरा व्यक्ति है अथवा वस्तु । जो भी मूल्यांकन करता है, तथ्य तो यह है कि उसके लिये दूसरा व्यक्ति होते हुये भी वस्तु से अधिक अहमियत (महत्व) नहीं रखता ।

व्यक्ति और परिवेश दोनों ही जीवित अस्तित्व हैं । ऐसा मानना भूल होगी कि व्यक्ति जीवित अस्तित्व है और परिवेश मृत । व्यक्ति और परिवेश के संघर्ष के क्षण, वे संघर्ष के स्थिति में मात्र संघर्ष के लिये नहीं होते ।

सकता है । संपूर्ण स्थिति मानसिक यात्रा के उस रथ को है जिसका चक्र भौतिक जगत के तल पर गुजरा करता है । व्यक्तित्व को इस व्याख्या से यद्यपि व्यक्तित्व को पूर्णता को नहीं प्राप्त किया जा सकता है किन्तु उसको रेखांकित करके समझनेवाले समझ को सहलाया तो जा हो सकता है । वस्तुत: बुद्धि-मत्ता को परत दर परत जमावट अज्ञान को हो कुछ और उजागर करतो है फलत: जिसे हम अपना जानना मानते हैं वह कालान्तर में उधार को जिन्दगी सिद्ध होतो है । साहित्य जिन्दगी को कोख से जब उपजता है तो ऐसा नहीं कि उसमें सत्य का कोई अंश हो हो नहीं, सत्य उसमें होता है किन्तु उसके चारों ओर असत्य का इतना घटाटोप होता हैकि वह ज्योति को एक क्षीण रेखा बन जाता है सच तो यह है कि घटा टोप में हो क्षीण रेखा को चमक कुछ और पैना जातो है तथा उसका उजास मन का सम्मोहन बन जाता है । असत्य के घटा टोप से सरलता से परिवेश को संज्ञा दो जा सकतो है । व्यक्ति जो है वह परि-वेश नहीं है हाँ परिवेश के कारण एक सीमा तक प्रभावित अवश्य है । काम और अर्थ जीवन के दो अत्यंत महत्वपूर्ण पक्ष हैं । एक जैविक तल पर अमरत्व को शाश्वत खोज है तथा दूसरा सुरक्षा के लिये हर पल खींचो जातो लक्ष्मण रेखा । किन्तु व्यक्तित्व काउ अमरत्व न तो काम को अंजुलो में अँटता है और न असुरक्षित अस्तित्व लक्ष्मण रेखा के भीतर शान्त होकर बैठता है । दशाननो परिवेश एक साथ अनेक मुखौटे पहन कर एक विचित्र उलझन को सृष्टि किया करता है, जिसके परिणाम स्वरूप व्यक्तित्व के अध्येता इसके विभिन्न आयामों का उद्घाटन किया करते हैं तथा परिवेश के जिसे क्षेत्र के निकट व्यक्ति दृष्टिगत होता है उसके आधार पर हो उसके व्यक्तित्व का मूल्यांकन करने लगते हैं ।

4/5 व्यक्तित्व मूल्यांकन एवं परिवेश :-

व्यक्ति को आवेष्ठित करने वालो परिस्थितियाँ एवं वातावरण उसका

परिवेश कहलाता है । यह परिवेश मुख्य रूप से दो प्रकार का हो सकता है - भौतिक परिवेश तथा मानसिक परिवेश ।

भौतिक परिवेश :-

इ.ज.ह.1

भौतिक परिवेश के अन्तर्गत वे भौगोलिक, राजनैतिक, तथा आर्थिक स्थितियाँ आतीं हैं जो व्यक्ति को सीधे प्रभावित करतीं हैं ।

मानसिक परिवेश :-

इ.ज.ह.2

मानसिक परिवेश से हमारा तात्पर्य व्यक्ति को वंशपरम्परा में रक्त सम्बन्ध के कारण प्राप्त होने वाले गुण, पारिवारिक परिस्थितियाँ, जैसे संयुक्त परिवार, या विभाजित परिवार का होना, भाई बहनों के मध्य व्यक्ति का स्थान, माता -पिता दोनों का जीवित रहना अथवा न रहना, या फिर दोनों में से एक का होना, विमाता की परिवार में उपस्थिति अथवा अभाव, व्यक्ति के प्रति परिवार के अन्य सदस्यों का स्नेह, आदि पारिवारिक परिस्थितियों को सृष्टि करता है ; सांस्कृतिक, धार्मिक एवं बौद्धिक स्थितियों के साथ-साथ परम्परागत अन्ध विश्वासों के प्रति आस्था अथवा अनास्था आदि के उस संयुक्त रूप से है जो व्यक्ति मानस के विकास में सहायक होते हैं । व्यक्तित्व का मूल्यांकन करते समय जहाँ उपर्युक्त तथ्यों को दृष्टिपथ से ओझल नहीं किया जा सकता वहीं मात्र इन तथ्यों के आधार पर मूल्यांकन किया भी नहीं जा सकता ।

व्यक्तित्व मूल्यांकन: तथा केन्द्रीय समस्या :-

इ.ज.ह.6

सभी व्यक्तित्व पूर्ण होने की प्रक्रिया में हैं अर्थात प्रत्येक व्यक्तित्व एक अपूर्णता है । अपूर्णता यह बोध पूर्णता के आधार पर ही संभव है । यदि पूर्णता का कोई स्पष्ट अथवा अस्पष्ट बोध नहीं है तो अपूर्णता का भी कोई अर्थ नही होता । जीवनउ में जब तक गति है तब तक एक शून्यता या खालीपन को हमें स्वीकार करना होगा क्योंकि शून्यता या खालीपन या स्पेश के

अभाव में गति संभव हो नहीं । जीवन की हर हल-चल श्वासों का प्रत्येक स्पंदन रिक्तता के कारण ही संभव है । रिक्तता को भरने का प्रत्येक प्रयास वस्तुत: कुछ पा लेने की ललक है किसी अदृश्य से संयुक्त हो जाने की कामना है । संयुक्त होने का यह प्रयास - चाहे वह किसी वस्तु के प्रति हो, व्यक्ति के प्रति हो अथवा फिर किसी अनाम सत्ता के प्रति हो ; जहाँ समस्त गति का कारण है वहीं एक ऐसी स्थिति की प्राक्कल्पना भी जब संयुक्त या पूर्ण स्थिति रही होगी । यदि पूर्ण स्थिति देश या काल के किस खण्ड में रही होगी यह हिसाब लगाना व्यर्थ है क्योंकि काल अनन्त और शाश्वत होते हुये भी गणना के क्षणों में खण्डों के जोड़ का बोध है । सम्पूर्ण जोड़ नहीं होता । उसमें इस स-बसे अधिक कुछ ऐसा ~~xx~~ होता है जिसके लिये समस्त संज्ञायें अपर्याप्त एवं अधूरी ही सिद्ध होतीं हैं । व्यक्ति अपने सामूहिक अचेतन और अचेतन के तल पर ~~xxx~~ निश्चित रूप से उस पूर्णता से ~~xxx~~ अपने आप को पृथक मानता है । अलगाव की यह स्थिति ही उसके अन्दर असुरक्षा की भावना का संचार करती है जिससे सबसे प्रथम उसे त्राण मिलता है माता के अंक में, उसके वक्षस्थल से सट कर । व्यक्ति उस पूर्णत्व की खोज में ही कभी अस्तित्व बोध से भरे होने के कारण कभी "काम " कभी " अर्थ " के उपकूलों पर भटका करता है । इसीलिये प्रत्यक्ष रूप से हमें जीवन में या तो काम की समस्या दिखाई पड़ती है या अर्थ की जबकि वस्तुत: वास्तविक समस्या न तो काम की होती है और न अर्थ की ।

मूल्यांकन के उन क्षणों में परिस्थिति और भी विषम हो जाती जब यह मूल समस्या और भी विषम हो जाती है जब वह समस्या आध्यात्मिकता को चूनर ओढ़ कर रूपसी बन जाती है । एक ओर सौन्दर्य का साम्राज्य या फिर संत की साधना तथा दूसरी ओर प्रियतम और परमात्मा की उप-स्थिति में सब कुछ गड्मड् हो जाता है । इस स्थिति की झलक वस्तुत: सत्य की ही एक झलक है । ऐसा प्रतीत होता है कि उर्वशीकार स्वयं इसकी इस झलक पाने में सफल रहा है । प्रमाणस्वरूप हम उसका यह कथन प्रस्तुत करते

है :-

> " अंतिम सत्य का रूप पूर्ण सौन्दर्य का रूप है, यह सत्य स्वयं तो प्रच्छन्न है, किन्तु सृष्टि रूपी दर्पण में उसका जो बिम्ब पड़ता है वही उसकी अभिव्यक्ति है । यह अभिव्यक्ति प्रेम का संकेत देती है । प्रेम है सौन्दर्य को पहचानने की शक्ति, प्रेम है सौन्दर्य पर न्योछावर होने की योग्यता । प्रेम ही वह शक्ति है जो जीव को उसके विरह की अनुभूति कराती है और प्रेम से प्रेरणा पाकर जीव ~~~~ उस सत्ता से फिर से मिल जाने का प्रयास करता है जिस सत्ता से वह सृष्टि की प्रक्रिया में वियुक्त हो गया~~~ है । "×

हमारा विश्वास है कि शब्दकोशों, विश्वकोशों तथा व्यक्तित्व के संबंध में उपलब्ध विभिन्न मनोवैज्ञानिकों के मतों एवं सिद्धान्तों के आधार पर हम मोटे तौर पर एक ओर जहाँ गत पृष्ठों में व्यक्तित्व को रेखांकित कर सके हैं वहीं जीवन की उस मूल समस्या को जो समस्त जीवन की केन्द्रीय समस्या है अर्थात् " व्यक्तित्व के समाकलन या एकीकरण की समस्या " को भी संकेतित कर सके हैं ।

व्यक्ति का समस्त प्रयास वस्तुत: इस एक ही दिशा में होता है । यह प्रयास चेतन यानी सजग रूप से भी हो सकता है तथा अचेतन अर्थात् बिना बोध के भी हो सकता है । जीवन सागर पर उठनेवाली तरंगों का फेनिल वैकल्य उसके आन्तरिक आन्दोलन को अभिव्यंजित तो करता है किन्तु उस विकलता की मूल आकुलता का उसमें कोई स्पष्ट संकेत निहित नहीं रहता । जीवन की मूल समस्या को जानने का आधार जीवन ही हो सकता है उससे बाहर नहीं । परिचय के क्षण आत्मसाक्षात्कार के वे क्षण होती हैं जहाँ प्रयोगशाला के उपकरण और तर्कों की मेधा बहुत पीछे छूट जाती है । इसी आत्म साक्षात्कार को उर्वशीकार ने सत्य का साक्षात्कार कहा है । इस सम्बन्ध में उसके विचारों

× रामधारी सिंह दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, पृ. 246-7.

को अविकल रूप से प्रस्तुत करना अप्रासंगिक न होगा :-

" सत्य के दो रूप होते हैं, एक संवृत्ति सत्य और दूसरा परमार्थ सत्य । संवृत्ति सत्य वह है जो दिखाई पड़ता है, किन्तु जो सत्य का असली रूप नहीं है । परमार्थ सत्य वह है जो दिखाई नहीं पड़ता किन्तु जो सत्य का असली रूप है । "×

तर्क के द्वारा इस सत्य को उपलब्धि के सम्बन्ध में उनका मत है कि :-

" तर्क से हम उसे प्राप्त कर सकते हैं जो सापेक्ष है अर्थात् बुद्धि गम्य है उसे नहीं जो निरपेक्ष अथवा ज्ञानातीत है । निरपेक्ष सत्य को जानने के लिये मनुष्य को सहज ज्ञान को छोड़ कर और कोई चारा नहीं है । " 2

सहज ज्ञान के सम्बन्ध में वे आगे लिखते हैं :-

" सहज ज्ञान आलोकित मनोदशा में सत्य का रहस्योद्घाटन है करता है और चीजों को उनके खण्डित रूपों में नहीं देखकर सम्पूर्णता में देखता है । "3

व्यक्तित्व एवं परिवेश तथा दोनों के पारस्परिक सम्बन्धों को प्रस्तुत करने, एवं जीवन की केन्द्रीय समस्या को संकेतित करने के पश्चात् अब हम आगामी पृष्ठों में उर्वशीकार के परिवेश और व्यक्तित्व का मिला-जुला अध्ययन करेंगे । अध्ययन के इस प्रयास में हम उर्वशीकार के सम्बन्ध में विद्वानों के संस्मरणों तथा उनके जामाता श्री शिव सागर मिश्र द्वारा प्रस्तुत जीवनी को आधार मानकर चलते हुये उनके व्यक्तित्व की ओर संकेत करने वाले उनके शब्दों को जो उनकी डायरी अथवा उनकी रचनाओं में बिखरे हुये हैं हम प्रमाण रूप में प्रस्तुत करेंगे ।

× रामधारी सिंह दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, पृ. 152.
2. वही, 243.
3. वही, पृ. 245.

खण्ड : दो

2.4.2 परिवेश

काव्य दृष्टि समय को खण्डशः स्थिति को नहीं मानती । धरती की आर्द्र हरीतिमा में खिला फूल धरती के सिक्ता विस्तार में भी खिला है । अन्तर केवल उस दृष्टि में है जो विस्तार को नाप नहीं पाती । काव्य दृष्टि किसी वस्तु या घटना को पूर्वापर सम्बन्धों में रखकर देखती है, अतः उसके निकट युग विशेष की अभिव्यक्तियाँ अतीत और अनागत युगों के सत्य को भी व्यक्त करने में समर्थ है ।

--- महादेवी वर्मा

2.4.2.1. परिवेश एक अध्ययन

व्यक्तित्व एवं परिवेश का वही सम्बन्ध है जो केन्द्र और परिधि का । केन्द्र के अभाव में परिधि की कल्पना कठिन है तथा परिवेश के अभाव में व्यक्तित्व की । व्यक्तित्व के चारो ओर जो निहित रहता है, तथा जिसके पारस्परिक घातों - प्रतिघातों का प्रति फलन मानवीय जिजीविषा में होता है उसे परिवेश की संज्ञा सरलता से दी जा सकती है । भौगोलिक विभिन्नता, माटी की एक रूपता को स्थूल रूप से स्वीकारते हुए भी भिन्न-भिन्न गुणों से विभूषित रहती है ; और इसप्रकार हर माटी को तथा उसके ऊपर फैले आकाश को एक अलग पहचान निर्मित हो जाती है । यह भौगोलिक विभाजन कालान्तर में अपनी प्रत्येक स्वतंत्र इकाई में एक विशेष गन्ध का निर्माण करता है, हर टुकड़े का का अपना आकाश अपने अन्दर सुदूर अतीत की इतनी परम्पराएँ समोए रहता है कि उसके तले उगनेवाला प्रत्येक व्यक्तित्व सहज ही कतिपय विशेषताओं से भर जाता है । परिवेश की बहुआयामिता और व्यक्तित्व की उसके किसी आयाम विशेष से निकटता या दूरी, जो परिवर्तनशील होती है, व्यक्तित्व को एक विशिष्टता प्रदान करते हैं । समय के संदर्भ में घटनेवाली समस्त घटनाएँ अपनी प्रभाव लहरियाँ किसी न किसी रूप में समस्त वातावरण में छोड़ जाती है जिनसे अनागत घटनाक्रम न्यूनाधिक रूप में प्रभावित होता रहता है । परिवेश के विभिन्न रूप --- भौगोलिक, आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक -- अपने घटनाक्रम में एक इतिहास का ही निर्माण नहीं करते प्रत्युत उस भविष्य को भी एक विशिष्टता प्रदान करते हैं जिसकी पहचान वर्तमान के रूप में होती है । अस्तु आवश्यक है कि कलाकार के व्यक्तित्व को समझने के लिए उसके विभिन्न परिवेशों का अध्ययन किया जाय जिससे कि उनके अन्तर्गत उभरनेवाली समस्याओं का सम्यक्‌रेखांकन हो सके ।

" उत्तर बिहार के बेगूसराय जिले में सिमरिया ग्राम के एक

निम्न मध्यवर्गीय" भूमिहर ब्राह्मण किसान परिवार में हुआ23 सितम्बर, 1908 को महाकवि श्री रामधारी सिंह दिनकर का जन्म हुआ था ।[×]

श्री राजेश्वर प्रसाद सिंह के उपर्युक्त कथन से स्पष्ट होता है कि दिनकर जी का जन्म ---

(1) सिमरिया ग्राम में हुआ था जो बिहार के बेगूसराय जिले में स्थित है ।

(2) आर्थिक दृष्टिकोण से उस मध्यवर्गीय परिवार में हुआ था जिसकी जीविका का साधन कृषि कर्म था ।

(3) सामाजिक एवं सांस्कृतिक दृष्टिकोण से उस परिवार में ब्राह्मण संस्कार थे ।

(4) काल क्रम में वह समय 1908 का था ।

उर्वशीकार के व्यक्तित्व को समझने के लिए आवश्यक है कि सिमरिया ग्राम की भौगोलिक स्थिति का, तथा सन् 1908 के आस-पास देश में व्याप्त राजनैतिक, आर्थिक स्थितियों का एवं स्थानीय सांस्कृतिक परिवेशों का अध्ययन किंचित विस्तार से किया जाय ।

भौगोलिक परिवेश :-

25 डिग्री से 26 डिग्री अक्षांश तथा 86 डिग्री से 87 डिग्री देशान्तर रेखाओं के मध्य में गंगा नदी के उत्तरी तट पर बेगूसराय जिला है । बेगूसराय जिले के दक्षिण में गंगा के उत्तरी तट पर सिमरिया गाँव है ।[2] राजेन्द्र सेतु का उत्तरी छोर इसी गाँव में पड़ता है ।[3] इसके उत्तर पूर्व में बरौनी, पश्चिम में पटना, दक्षिण में मोकामा घाट, पूर्व में मुंगेर है । इस गाँव के दक्षिण में गंगा तथा पश्चिम की ओर बया नामक एक छोटी-सी नदी का प्रवाह है । इसप्रकार इस छोटे से गाँव का निर्माण मुख्यत: गंगा

× राजेश्वर प्रसाद सिंह, "रामधारी सिंह दिनकर:पालने से चिता तक", राष्ट्रकवि दिनकर, सं. डॉ. गोपाल राय तथा डा. सकलदेव शर्मा, ग्रन्थ निकेतन, पटना, 1975, पृ. 1.

2. Britanica Atlas page 115.

3. विमलकुमार जैन, : महाकवि दिनकर : उर्वशी तथा अन्य कृतियाँ, एस.चन्द एण्ड कं. दिल्ली, 1976, पृ. 1

को लाई हुई जलोढ़ मिट्टी से हुआ है, जो अपने उपजाऊपन के कारण जहाँ एक ओर भरपूर फसल देती है वहीं बाढ़ का प्रकोप भी उसे ही सर्वाधिक झेलना पड़ता है। सिमरिया का यह समस्त परिवेश जिस बृहत्तर क्षेत्र में स्थित है उस प्रान्त को बिहार प्रान्त के नाम से जाना जाता है और उसकी भौगोलिक स्थिति 21.58 डिग्री तथा 27°38 अक्षांश एवं 83°20 तथा 88.32° देशान्तर रेखाओं के मध्य विस्तृत है।× सीमा विस्तार के दृष्टिकोण से कहा जा सकता है कि इसके उत्तर में नेपाल, पूर्व में पश्चिम बंगाल, पश्चिम में उत्तर प्रदेश और मध्यप्रदेश तथा दक्षिण में उड़ीसा प्रान्त है।[2]

प्राकृतिक परिवेश :-

इस प्रदेश की भूमि गंगा, गंडक, सोन, सरयू कमलाकोशी आदि नदियों की जल राशि से सिक्त कछारी मैदान से भरी हुई है।[3]

गंगा से उत्तर की ओर इसका उत्तरीय खण्ड मिथिला या तिरहुत है। हिमालय से निकलनेवाली दक्षिणाभिमुख वाहिनी अनेक छोटी बड़ी नदियाँ इस उत्तरी खण्ड को सींचती हैं। उनमें कितनी तो बरसात में उमड़कर अपने आस-पास की बहुत दूर तक की भूमि को डुबो देती हैं। कई नदियाँ तो अपनी स्रोत गति परिवर्तित करके जहाँ-तहाँ झील, दह, पुष्कर और ताल के समान छोटे-बड़े छिछले और गहरे जलाशय बनाकर छोड़ देती हैं जो बरसात में उन्हीं नदियों के बाढ़ से अगाध जल के अन्दर डूबे पड़े रहते हैं।

कहीं आम के बड़े-बड़े घने बाग बहार दिखाते हैं, कहीं आकाश छूने की चेष्टा में तत्पर ताड़ी का झुण्ड है। कहीं लाल पल्लव और अंगूर के से उजले-उजले फल गुच्छों के साथ महुए के स्थूल वृक्षों का जमघट है। कहीं विकसित कमलों से भरे सरोवर अपना स्फटिक स्वच्छ जल पुरइन के पत्तों के

× देखिए राधाकृष्ण चौधरी, : बिहार ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक परम्परा, बिहार, सं. गोकुल कामत, पूर्वांचल प्रकाशन पटना, जनवरी, 1974.

2. सत्यदेव नारायण सिन्हा, बिहार, राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली 1972, पृ. 75. तथा राधाकृष्ण चौधरी, बिहार ऐतिहासिक और सांस्कृतिक परम्परा, पृ. 1.

3. शिवपूजन सहाय, शिवपूजन रचनावली, (पहला खण्ड) बिहार राष्ट्रभाषा परिषद पटना, 1956, पृ. 29.

आड़ में छिपे हुए हैं। जगह-जगह पर वट, पीपर पाकड़ की सुखद शीतल छाया का प्रसार है। जहाँ-तहाँ इमली और निम्ब के सघन सुन्दर वृक्ष कतार की कतार खड़े हैं।[×] " ताड़ और खजूर की भी कमी नहीं है। इसी प्रकार कटहल, बड़हर, सेमर, इमली, महुआ, आँवला, अमड़ा, सहिजन, अगस्त, जामुन, लीची, अमरूद, केला, नारंगी, नाशपाती, नींबू, अनार, बेंत, करौंदा, तूत आदि विविध प्रकार के असंख्य वृक्ष बिहार में पाए जाते हैं।"[2] तथा "बिहारी गाँवों की बस्तियोंके इर्द-गिर्द बाँस के घने झुरमुटों की बड़ी भरमार रहती है।"[3]

" यदि सालाना औसत लगाया जाय तो बिहार में पचास इंच वर्षा होती है। असाढ़ से भादों तक बरसात का बोलबाला रहता है। चैत से जेठ तक लू चलती है। तांबे हुए ताम्र पात्र की तरह धरती तड़पने लगती है।"[4]

2.3.1 उपज एवं प्रमुख व्यवसाय :-

सन् 1908 के इम्पीरियल गजेटियर के अनुसार बेगूसराय सब डिवीजन में 79 प्रतिशत भूमि पर खेती की जाती थी। यह खेती निश्चित रूप से बहुत उन्नतिशील नहीं कही जा सकती क्योंकि कृषि के काम आनेवाले पशु सामान्यत: छोटे तथा निम्नकोटि के हुआ करते थे।[5] यद्यपि यहाँ की मुख्य उपज धान है किन्तु उसके अलावा तेलहन, दलहन, तम्बाकू और मिर्च की खूब उपज होती है।[6]

× शिवपूजन सहाय, शिवपूजन रचनावली [1] पहला खण्ड [2], पृ. 30.
2-3. वही, पृ. 46.
4. वही, पृ. 34-35.
5. " In the Begusarai subdivision north of the Ganges for which exact figures are available on account of the survey in progress, it has been found that 79% of the total area is cultivated. The Imperial Gazetteer of India, vol. XVIII.
6. रामदेव नारायण सिन्हा, बिहार, पृ. 76.

3.2 मानवीय प्रकृति परिवेश :-

भौगोलिक तथा प्राकृतिक परिवेश का सीधा प्रभाव किसी स्थान के निवासियों की प्रकृति पर पड़ता है। कभी-कभी तो यह प्रभाव इतना अधिक महत्वपूर्ण होता है कि वही उनकी विशेष पहचान बन जाता है। उर्वशीकार की जन्म देनेवाली धरती इसका अपवाद नहीं है। वहाँ की माटी से उत्पन्न विशेषताओं को प्रस्तुत करते हुए श्री शिवपूजन जी सहाय लिखते हैं कि ---

" बिहार में कृषकों की संख्या अधिक है। किन्तु खेती कमाने में परिश्रमी होने पर भी ये कुछ-कुछ आलसी तथा मलिन स्वभाव के हैं। इनमें सहनशीलता अधिक और साहस कम है। "

वे आगे लिखते हैं कि --

" शाहाबाद सारन तथा चम्पारन जिले में भोजपुरी बिहारी बसते हैं। ये बड़े उद्दण्ड और हट्टेकट्टे होते हैं। उनकी उद्धत प्रकृति आँधी सी दुर्दमनीय है। ये बात-बात में लड़ने - झगड़ने पर कमर कसे रहते हैं ; जानबूझ कर झगड़ा मोल लेते फिरते हैं। दुलहा और दंगा -फसाद मचाने में ये सब से आगे रहते हैं मार-पीट और छीना -झपटी करने में इनकी बड़ी अभिरुचि है। ---------- इनकी जबरदस्ती पर एक मसल मशहूर है कि " तसलवा तोर की मोर "। ×

2.2.4 ऐतिहासिक परिवेश :-

" इतिहासकार का काम न तो अतीत से प्रेम करना है और न अतीत से छुटकारा पाना, बल्कि वर्तमान को समझने की कुंजी के रूप में उसे समझ कर उस पर अधिकार प्राप्त करना। "[2]

इतिहासाध्यन के आलोक में जिज्ञासु अतीत के गह्वर में प्रवेशकर सहज ही सम्बन्धों के उस उत्स तक पहुँच सकता है जहाँ से विकास की धारा

× शिवपूजन सहाय, शिवपूजन रचनावली, "पहला खण्ड", पृ.53.
2. डी.डी. कोसाम्बी, प्रचीन भारत की संस्कृति और कला, अनु. नेमीचन्द जैन, प्रथम हिन्दी संस्करण, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली-1968

फूटती है। अतीत का यह ज्ञान अतीत के संदर्भ में महत्वपूर्ण हो अथवा न हो इससे बहुत अन्तर नहीं पड़ता किन्तु वर्तमान को समझने के लिए उसकी सहायता की महत्ता को सहसा नकारा नहीं जा सकता। विश्व-पटल पर घटनेवाली घटनाओं की एक छाप दृश्य-अदृश्य रूप से सदा अंकित रहती है उसे यदि सभी यथावत् ग्रहण नहीं कर पाते तो इससे उसका अस्तित्व असिद्ध नहीं होता। समय के कितने अन्तराल के बाद कौन सा सम्वेदनशील मन अतीत की किस घटना की सम्वेदनशीलता को किस रूप में ग्रहण करता है इसके सम्बन्ध में आज का विज्ञान भी निश्चित नहीं है। कार्य-कारण सम्बन्धों को बहुत अधिक महत्व देना सहज बुद्धि ग्राह्यता के मार्ग में व्यवधान उत्पन्न करना है। भौतिक शास्त्र जिसके निश्चित निष्कर्ष कार्य और कारण के सम्बन्धों का कल तक बड़ा दावा करते थे, क्वाँटा सिद्धान्त से परिचित होने के पश्चात् उसकी व्यर्थता को स्वीकारने लगे हैं।× किन्तु कार्य-कारण के सम्बन्धों की निश्चितता का अभाव क्वाँटा के अस्तित्व को अस्वीकार नहीं कर पाता।

कलाकार को समझने के लिए उसे समूचे परिवेश को समझना आवश्यक है जिसकी कुक्षि में वह अंकुरित, पल्लवित और पुष्पित हुआ था। अतीत

× "There cannot be any doubt that quantum theory has reduced the causal principle useless." Dingle W., Science and Human Experience, William and Nooget, London, 1931 p. 88. Quoted by Benjamin Wolman, Concerning Psychology and Philosophy of the Science. Hand Book of General Psychology. ed. Benjamin B. Wolman, Printice Hall of India Pt Ltd. New Delhi 1973, page 41.

देखिए -- " अर्थ खोजते हो जीवन का ? लड़ो कार्य कारण को

बहुत दूर तक बिछी हुई है पीछे अंधियाले में।
चलो जहाँ तक भी, अतीत गह्वर में, चरण-चरण पर,
मात्र प्रतीक्षा निरत प्रश्न मग में मिलते जायेंगे।
और अन्त में अनाख्येय जो आदि भित्ति आती है,
परे झाँकने को भी उसमें कहीं गवाक्ष नहीं है।"--दिनकर, उर्वशी, पृ. 65.

कालीन घटनाओं का क्रमिक सूत्र वस्तुतः उस अन्तर्निहित धारा को समझने में सहायक होता है जिसका विकास वर्तमान की घटनाओं में होता है ।

प्राचीन बिहार में चार प्रमुख राज्य थे (1) विदेह, (2) वैशाली (3) अंग और (4) मगध । विदेह का भौगोलिक क्षेत्र उत्तरी पूर्वी बिहार में हिमालय, गंगा, गण्डक, और कोशी से घिरे भू भाग में पड़ता था इसे मिथिला भी कहा जाता था । विदेह मिथि के नाम पर मिथिला हुआ । चूँकि मिथि स्वयं भू था अतः उसके वंशजों को जनक के नाम से अभिहित किया गया । सीरध्वज जनक ने मिथिला में एक छत्र राज्य स्थापित किया । इन्हीं के समय में शुक्ल यजुर्वेद की रचना हुई । जनक वंश में कराल जनक अंतिम राजा था और इसकी हत्या के बाद ही यहाँ गणराज्य की स्थापना हुई । नाभा नेदिष्ट ने जिस राज्य वंश की स्थापना की थी उसी वंश के अत्यंत प्रतापी राजा " विशाल" के नाम पर वैशाली की स्थापना हुई । वर्द्धमान महावीर इसी वैशाली के रहनेवाले थे । वैशाली तीन भागों में विभक्त था ---- (1) वैशाली, (2) कुण्डग्राम और (3) वणिय ग्राम । यह अपने गणतंत्र के लिए प्रसिद्ध है । तितिक्षु ने मुंगेर भागलपुर में एक नये आनव राजवंश की नींव डाली । बाद में वहाँ अंग नामक एक राजा हुआ जिसके नाम से प्रदेश का नाम ही अंग हो गया । अंग का क्षेत्र मगध के पूरब और राजमहल की पहाड़ियों के पश्चिम में था इसकी राजधानी चम्पा थी ।

अमूर्त रय ने गया नामकी बस्ती बसाई थी । त्रिशंकु के पुत्र राजा हरिश्चंद्र ने अपने पुत्र रोहिताश्व के नाम पर रोहिताश्व गढ़ (रोहितास - गढ़) की स्थापना की थी । अमूर्त राय गय के प्रताप से ही मगध का आर्यीकरण हुआ । ऐतिहासिकाल में मगध का प्रथम संस्थापक जरासन्ध को माना गया है । मगध राज बिम्बसार ने इसके विस्तार का सूत्रपात किया राजा उदयी के समय पाटली पुत्र की स्थापना हुई ।[x]

---

x राधाकृष्ण चौधरी, बिहार ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक परम्परा, पृ. 7-8.

बिहारके ही भूमि पर एक ओर यजुर्वेद की ऋचाओं का सृजन होता है तो दूसरी ओर वैदिक धर्म के विरोध में विद्रोह का अत्यंत प्रबल स्वर भी बुद्ध-की वाणी के रूप में गूँजता है जिसकी अनुगूँज आज भी एशिया के अधिकांश भागों में प्रतिध्वनित हो रही है । बिहार की धरती पर जहाँ एक ओर विश्व के उस प्रथम प्रजातंत्र का संगठन होता है जिसकी चरम परिणति गण-राज्य की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी की एक की भोग्या होने की अस्वीकार करते हुए उसे नगरबधू के रूप में प्रतिष्ठित करती है, वहीं उस पर समुद्र गुप्त और अशोक जैसे साम्राज्यवादियों का प्रादर्भाव भी होता है जो न केवल अप्रतिम विजेता, अद्भुत साम्राज्य संस्थापक थे प्रत्युत अहिंसा और प्रेम के अद्वितीय प्रचारक भी कहे जा सकते हैं । चाणक्य जैसा नीतिज्ञ, चन्द्रगुप्त सा विजेता यदि कहीं होता है तो बिहार में । विद्रोह का स्वर यदि कहीं सबसे पहले गूँजता है तो वह भी बिहार में । प्रतापी मुगल साम्राज्य को यदि कहीं घुटने टेकने पड़ते हैं तो बिहार के शेरशाह के सामने, अंग्रेजों को भारत में निर्णायक विजय भी मिली बंगाल और बिहार के संधिस्थल अर्थात् प्लासी के युद्ध में ही मिलती है× इतना ही नहीं सन् 1857 के स्वतंत्रता संग्राम से पूर्व यदि किसी प्रदेश में अंग्रेजी साम्राज्यवाद के विरुद्ध सशस्त्र विद्रोह हुआ था तो वह भी बिहार में । इस सम्बन्ध में श्री राधाकृष्ण चौधरी लिखते हैं--

> " सन् 1839-40 ई. में राँची में और सन् 1855-56 में सन्ताल परगना में सन्तालों के विद्रोह हुए । सन्तालों का यह विद्रोह शासन और शोषण के खिलाफ पहला संगठित विरोध था ।"[2]

× प्लासी का युद्ध 23 जून, 1757 में सिराजुद्दौला और क्लाइव के मध्य हुआ था जिसके परिणाम स्वरूप अंग्रेजों के पैर भारत में जम गए थे । इस सम्बन्ध में श्री मन्मथनाथ गुप्त लिखते हैं," पर जो असल में कोई युद्ध नहीं था, बल्कि एक कमजोर तथा एक संगठन हीन शासक को देशी और विदेशी रक्त तथा धन लोलुप लोग कैसे लूट सकते हैं इसका इतिहास है ।" [देखिए, मन्मथनाथ गुप्त, राष्ट्रीय आन्दोलन का इतिहास, पृ. 36.] सन् 1703 में बिहार बंगाल का हिस्सा बना दिया गया था । देखिये , [राधाकृष्ण चौधरी, बिहार ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक परम्परा, पृ. 14.]

2. वही, पृ. 14-15.

सन् 1857 की सशस्त्र क्रान्ति में जगदीशपुर के कुँवर सिंह के योगदान को इतिहास कभी नहीं भूल सकता और उसके बाद जब सन् 1885 में काँग्रेस की स्थापना हुई तो उसमें दरभंगा नरेश महाराजा लक्ष्मीश्वर सिंह का आर्थिक योगदान तथा सन् 1917 में महात्मा गाँधी का अँग्रेजी शासन के विरुद्ध चम्पारन में सत्य का प्रयोग भारतीय इतिहास की अविस्मरणीय घटनाएँ हैं ; और अभी कल ही अर्थात् 26 जून सन् 1975 को वर्तमान प्रधान मन्त्री श्रीमती इन्द्रा गाँधी द्वारा आपात् काल की घोषणा किए जाने पर, बिहार के ही स्व. जयप्रकाश नारायण द्वारा की गई सम्पूर्ण क्रान्ति की घोषणा यह सिद्ध करती है कि बिहार की धरती विद्रोह और क्रान्ति की धरती है अस्तु उर्वशीकार जैसा वह व्यक्तित्व जो उत्ताप और अग्नि के उद्दाम पौरुष को समेटकर कोमल कान्त सौन्दर्य की प्रेमकथा कहता है, इस क्रान्ति प्रसूता की कुक्षि से ही जन्म सकता था । इसके साथ ही उपर्युक्त तथ्यों के प्रकाश में यह सरलता से स्वीकार किया जा सकता है कि --

" एक दीर्घकाल तक भारत का इतिहास और बिहार का इतिहास पर्यायवाची रहे हैं । " ×

× डॉ. ज्ञानवती दरबार, भारत की झाँकियाँ, रंजन प्रकाशन, नई दिल्ली, 1961.

आर्थिक परिवेश :-
2.4.2.5

" चाहे किसी भी देश के लिए हो, ऐसी सरकार जो सिर्फ व्यापारियों की कम्पनी से बनी हो, सबसे बुरी सरकार होती है । "

-- एडम स्मिथ, वेल्थ आफ नेशन्स .×

" आर्थिक स्तर नीचा होने के साथ-साथ ही जाति का सामाजिक स्तर भी नीचा हो जाता है " ।

-- डी.डी. कोसाम्बी, प्राचीन भारत की संस्कृति और कला, पृ. 32.

" साम्राज्य के भीतर साम्राज्य की स्थिति सदैव भयंकर सिद्ध होती है और उस दशा में तो यह और भी भयंकर हो जाती है, जब यह अधिकार एक व्यापारी वर्ग के विवेकहीन तथा मुनाफाखोर सदस्यों के हाथ मुंदे धनिक तंत्र को प्राप्त हो जाता है । "

--- तारावेंद 2

× जवाहर लाल नेहरू, विश्व इतिहास की झलक, अनु. चन्द्रगुप्त वार्ष्णेय, सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन नई दिल्ली, (दूसरी बार) 1952, पृ. 349.

2. तारावेंद, भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन का इतिहास, (पहला खण्ड), प्रकाशन विभाग सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, 1965.

9.4.25 आर्थिक परिवेश :-

उर्वशीकार के जन्म के सम्बन्ध में पहली महत्वपूर्ण सूचना यह है कि उनका जन्म निम्न मध्यवर्गीय परिवार में हुआ था और यह परिवार बिहार प्रान्त के एक ऐसे गाँव में रहता था जो गंगा के उत्तरी तट पर स्थित है। उनके व्यक्तित्व से परिचित होने के लिए आवश्यक है कि हम भारतीय ग्राम्य जीवन और उसकी अर्थव्यवस्था, विशेषकर वह अर्थ व्यवस्था जो सन् 1908 में जब दिनकर का जन्म हुआ था, देश में प्रचलित थी, का अध्ययन करें।

जीवन के प्रारम्भिक क्षणों में ही नहीं उसकी समस्त यात्रा में अर्थव्यवस्था की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण होती है। देश, राज्य, समाज और व्यक्ति की आर्थिक स्थिति उसके चिन्तन को दूर-दूर तक प्रभावित करती है। आर्थिक स्थितियों से जूझता हुआ कलाकार अपने रचना संदर्भों में प्रति-क्रियावादी भी हो सकता है। उसकी यह प्रतिक्रिया आवश्यक नहीं कि वर्ग संघर्ष-- सर्वहारा बनाम बुर्जुआ- या फिर मार्क्सवादी शब्दावली में ही अभिव्यक्त हो। जीवन की अर्थ की समस्याओं से जूझता व्यक्ति आर्थिक समस्याओं का उदात्तीकृत करके भी रचना में प्रस्तुत कर सकता है। समस्याओं का क्रमगत परिवर्तन संभव है। इस विचार का एक दूसरा पक्ष यह भी हो सकता है कि जीवन की कोई अन्य महत्वपूर्ण समस्या हो और उसकी अभिव्यक्ति आर्थिक क्षेत्र में हो रही हो। वस्तुतः जीवन को अर्थवत्ता देने के भौतिक प्रयास में जो भूमिका धन यानी अर्थ की होती है, वही मानसिक प्रयास में "रचना" तथा आध्यात्मिक प्रयास में परमात्मा की खोज की होती है। प्रयास की दिशा अलग-अलग हो सकती है किन्तु गन्तव्य एक ही होता है। एक शून्य को भरने का प्रयास, एक दूरी को तय करने की कोशिश, एक खोई हुई पहचान की तलाश और अन्त में उससे संयुक्त होकर एकमेक होने की अभिलाषा व्यक्तित्व के निर्माण और उसके अधूरे पन की कथा है जिसके आर्थिक परिवेश को उद्घाटित करने का प्रयास यहाँ किया जाएगा।

किसी परमात्मा ने मनुष्य का निर्माण किया या नहीं हम ठीक

से नहीं जानते लेकिन मनुष्य ने अपने अपने ढंग से अपने -अपने परमात्माओं को सृष्टि की यह प्रत्यक्ष है । भारतीय परम्परा में तैंतीस करोड़ देवताओं की चर्चा उन ईश्वर सृष्टाओं की चर्चा हो सकती है जिन्होंने अपनी तलाश दूसरे (the other) में करने की कोशिश की । जिस प्रकार परमात्मा मनुष्य की खोज है उसी प्रकार अर्थ यानी पैसा भी मनुष्य का अपना अविष्कार है । " पारस परसि कुधातु सुहाई" पारस के स्पर्श से कोई कुधातु ? कभी सुधातु बनी या नहीं हमें ठीक ज्ञात नहीं किन्तु मनुष्य के परस ने वस्तु में मूल्य सृष्टि की यह निश्चित है । वस्तुत: यह हमारा स्पर्श ही तो है जो वस्तु जगत में भी मूल्यों की सृष्टि किया करता है । भेड़ों के जगत में हीरे मोतियों का कुछ मूल्य हो सकता है या होता है इस सम्बन्ध में हमें सन्देह है किन्तु मानव जगत में काँच, कोयला और पत्थर पर जान ली और दी जाती है इसमें संदेह नहीं । संक्षेप में कह सकते हैं कि अर्थ व्यक्ति और समाज दोनों को ही रोटी को हड्डी है जिसके इतिहास में दूर-दूर तक संघर्ष और नोच खसोट की कथा है । उर्वशीकार के निकट जब हम आर्थिक परिवेश को निश्चित करने का प्रयास करते हैं तो अनायास ही एक ग्राम व्यवस्था हमारे समक्ष उभरती है जो किसी कल्पित युग में आदर्श रही होगी किन्तु आज उसे देख कर डो. डो. कोसाम्बी जैसे शब्द ही अधिक सार्थक प्रतीत होते हैं ----

> " भारतीय गाँव को देखकर घोरतम गरीबी, और असहायता की तीखी छाप मन पर पड़ती है - - - - - - भूख और बीमारी इस भारत के सदा के संगी हैं । चिकित्सा सम्बन्धी व्यवस्था और स्वच्छता का अभाव गाँव की पारम्परिक मानसिक जड़ता को अत्यधिक तीव्रता से प्रकट करता है, जो सदा देश की अर्थ व्यवस्था का मूलभूत तत्व और निर्दयी शासन का पक्का आधार रहा है । "×

× डो.डोकोसाम्बी, प्राचीन भारत की संस्कृति और कला, पृ.33-

4251 भारतीय ग्रामीण अर्थ व्यवस्था :--

अर्थशास्त्री रमेशचन्द्र दत्त के शब्दों को उद्धृत करते हुए पं. जवाहर लाल नेहरू ने लिखा है कि," अठारहवीं सदी में भारत एक बड़ा उद्योग प्रधान और साथ ही कृषि प्रधान देश था और भारतीय करघों का माल एशिया और योरोप की मंडियों में बिकता था - - - - - बुनाई लोगों का राष्ट्रीय उद्योग था और कताई लाखों स्त्रियों का धन्धा था । "×

इस कथन से यह स्पष्ट होता है कि तत्कालीन भारतवर्ष में उद्योग एवं कृषि दोनों को ही प्रधानता थी । उद्योगों की उन्नतिशीलता का सबसे बड़ा प्रमाण है अंग्रेजों के साथ-साथ अन्य यूरोपीय देशों द्वारा भारत से व्यापारिक सम्बन्धों का स्थापित किया जाना । इतने समृद्ध देश के ग्रामों की ऐसी दशा कि बीमारी और गरीबी वहाँ का पर्याय बन जायें निश्चित रूप से एक भीषण दुर्घटना की सूचना है जिसका सूत्रपात अत्यंत साधारण रूप से उस समय हुआ था जब सर टामस रो भारत से व्यापार करने की अनुमति नूरजहाँ से सत्रहवीं शताब्दी के आरम्भ में प्राप्त की थी । इसके पश्चात् जब प्लासी के युद्ध में अंग्रेजों को एक निर्णायक विजय मिली तब भारत वर्ष और इंगलिस्तान का सम्बन्ध व्यापार का न रह कर बहुत कुछ लूट का सम्बन्ध हो गया, इसके कारण वहाँ विज्ञान तथा उद्योग धन्धों में द्रुति उन्नति हुई । विलियम डिगबी के हिसाब के अनुसार प्लासी के युद्ध यानी 1757 से लेकर वाटर लू के युद्ध याने 1815 तक भारत से 15 अरब रुपया शुद्ध लूट के रूप में इंग्लैण्ड पहुँचा ।[2]

4251 उद्योग धन्धे :--

हम गत पृष्ठों में स्पष्ट कर चुके हैं कि बुनाई लोगों का राष्ट्रीय उद्योग था । अंग्रेजों ने भारत की लूट से एक ओर अपने देश में औद्योगिक उन्नति की तथा दूसरी ओर भारतीय उद्योगों को नष्ट करने का प्रयास किया ।

जवाहरलाल नेहरू, विश्व इतिहास की झलक, पृ. 349.

रघुनाथ गुप्त, राष्ट्रीय आन्दोलन का इतिहास, पृ. 58.

"जुलाहों को एक तरह से गुलाम बना दिया गया था क्योंकि उनको अब कम्पनी की ओर से जबर्दस्ती काम करना पड़ता था उनको अब यह स्वतंत्रता नहीं रह गई थी कि वे जिसको चाहें माल बेंचें । कम्पनी बढ़िया से बढ़िया कपड़े के लिए जो दाम देती थी उससे कहीं घटिया माल के लिए दूसरे यूरोपीय देशों के लोग तथा अरब के सौदागर उससे अधिक दाम देने को तैयार थे, फिर भी उनको मजबूरन कम्पनी के हाथों ही माल बेचना पड़ता था । - - - - - - - - बहुतों ने तो इस बात से घबड़ाकर अपना धन्धा ही छोड़ दिया । पर उन्हें धन्धा भी नहीं छोड़ने दिया जाता था । कहीं-कहीं तो ऐसी भी आज्ञा निकाल दी गई थी कि जुलाहे बिना आज्ञा के शहर से बाहर न जायँ जिससे वे कहीं भाग न खड़े हों । आधीनस्थ राजा नवाबों को यह हिदायत थी कि वे अपने यहाँ के जुलाहों को इस बात के लिए मजबूर करें कि वे सारा का सारा माल कम्पनी के हाथों में ही बेंचें और इधर-उधर न बेंचें । - - - - - कपड़े का दाम नियत करने में इस बात का कोई ख्याल नहीं रखा जाता था कि आखिर इसमें जुलाहे को कुछ पड़ता भी पड़ता है या नहीं । जुर्माने करना, बेंत लगाना तथा जबर्दस्ती कोई प्रतिज्ञा पत्र लिखवा लेना यह तो एक मामूली बात थी । कहीं जुलाहा चुराकर दूसरों को कपड़ा न बेंच दे, इस बात को निगरानी रखने के लिए कम्पनी के गुमाश्ते मुकर्रर थे । ज्यों ही गुमाश्ता देखता था कि थान पूरा हो रहा है, बस वह करघे से थान काट कर चल देता था कई जगह इन अत्याचारों से घबड़ा कर कहा जाता है कि जुलाहों ने अपने अंगूठे काट डाले कि न रहेगा बाँस न बजेगी बाँसुरी । ×

अत्याचारों का यह क्रम कुछ एक या दो दिन की घटना न थी यह उन दिनों भी अपनी पूरी उठान पर था जब प्लासी का युद्ध न हुआ था । " सन् 1834 ई. में भारत के गवर्नर जनरल ने यह रिपोर्ट की बतलाते हैं कि-- वाणिज्य के इतिहास में ऐसी तबाही का शायद ही कोई दूसरा कोई दूसरा

× मन्मथनाथ गुप्त, राष्ट्रीय आन्दोलन का इतिहास, पृ. 59-60.

दाहरण मिले । सूती कपड़ा बुननेवाले जुलाहों की हड्डियों से भारत के मैदानों पर सफेदी छा गई है ।[2]

तमाम दुनियाँ में मशीनी उद्योग और औद्योगीकरण का असर यह हुआ कि लोग गाँवों से खिंच-खिंच कर शहरों में आगए । लेकिन भारत में इससे उल्टी प्रवृत्ति हुई । शहर और कस्बे छोटे होते गये और उजड़ गए । और दिन पर दिन ज्यादा आदमी खेती के सहारे आ पड़े तथा बड़ी कठिनता से जीवन निर्वाह करने लगे । [2]

कृषि :—

2.4.2.6.1.2.

भारतीय कृषक निर्धनता में जन्म लेता है, जवान होता है और मर जाता है । किन्तु उसकी स्थिति में क्यात् ही कभी कोई महत्वपूर्ण अन्तर आया हो आज भी छोटी जोतों वाले किसान किसी भी प्रकार से सम्पन्न दृष्टिगोचर नहीं होते । उस समय यानी सन् 1908 के आस-पास तो उनकी स्थिति और भी सोचनीय थी । भारतीय किसान उस समय जमींदारों का गुलाम था और जमींदार अंग्रेजों के गुलाम थे इसप्रकार गुलामों की जंजीरों से जकड़ा भारतीय कृषक सारा-सारा दिन खटने के बाद भी प्राय: आधे पेट ही सोता था । किसानों की इस स्थिति के लिए भी अंग्रेजी सरकार ही उत्तरदायी है । भू राजस्व के रूप में उससे उसकी उपज का एक बड़ा भाग अन्याय पूर्वक छीन लिया जाता था ।

अंग्रेजों से आने के पहले कृषक अपनी पैदावार का एक भाग सीधा राज्य को दे देता था । कभी कदाचित ग्राम पंचायत भी ग्रामवासियों की ओर से यह कार्य कर देती थी इसके बाद मुगल काल में जब केन्द्रीय सत्ता निर्मित होती गई तो राजस्व की वसूली एक समस्या बन गई । ऐसी स्थिति में लगान वसूल करने के लिए कुछ लोग प्रतिनिधि के रूप में नियुक्त किए जाते थे जो वसूल की गई रकम का दसवाँ भाग अपने उपयोग के लिए रख सकते थे । " इन्हें मालगुजार या कभी- कभी ताल्लुकेदार कहा जाता था । "" किन्तु

जवाहर लाल नेहरू, विश्व इतिहास की झलक, पृ. 351.

वही, पृ. 351.

वारेन हेस्टिंग्ज़ ने भारतीय ग्राम अर्थव्यवस्था के प्राचीन भवन पर भयंकर प्रहार किया उसकी मान्यता थी कि सारी जमीन राज्य की सम्पदा है। अतएव उपज में खेतिहर का भाग केवल उसके श्रम की मजदूरी और भूमि उसके कृषि विषयक स्टाक के मुनाफे तक सीमित है, बिचौलिए का भाग वह कमीशन है जो कर संग्रहक को उसकी सेवा के लिए स्वीकार्य है और उपज का बाकी सारा भाग सरकार का है। इस सिद्धान्त को अमल में लाने के भयंकर परिणाम सामने आये। वंशानुगत भू स्वामियों के अधिकार की उपेक्षा की गई थी, जमीनों की नीलाम कर दिया गया और वे सबसे ऊँची बोली बोलने वाले उन व्यक्तियों को लीज़ पर दे दी गई जो लगान के लिए अभीष्ट जमानत पेश कर सकते थे।[×]

भूमिहर :--

2.4.2.5.1.2.1.

22 मार्च सन् 1793 में लार्ड कार्नवालिस ने जो बंदोबस्त किया था वह स्थायी बंदोबस्त के नाम से जाना जाता है, इसे दसामी बंदोबस्त[2] या इस्तमरारी बंदोबस्त[3] भी कहते थे। इस बंदोबस्त से बंगाल भर की तमाम जमींदारियों का स्वरूप बदल गया और बहुत सी जमींदारियाँ जिनका लगान बाकी था नीलाम कर दिया गया।[4] बंगाल और बिहार के लिए यह बंदोबस्त स्थायी कर दिया गया उसमें कोई परिवर्तन नहीं हो सकता था।[5]

बंदरबस्त

वास्तव में लगान में भारतीय जमींदार का भाग इतना कम था कि वह कर संग्रहक विभागों की परेशानियों की क्षतिपूर्ति, सरकारी दायित्वों का निर्वाह और व्यक्तिगत खर्चों की पूर्ति मात्र कर पाता था। इस संकट से जमींदारों को सहायता करने के विचार से सरकार ने 1799 के कुख्यात विनियम पास कर दिये। उस नये कानून ने जमींदार को इस बात के मन-

---

× ताराचंद, भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन का इतिहास, पृ.355.
2. जवाहर लाल नेहरू, विश्व इतिहास की झलक, पृ.356.
3. मन्मथनाथ गुप्त, राष्ट्रीय आन्दोलन का इतिहास, पृ. 47.
4. देखिए, पी.ई. राबर्ट्स, ब्रिटिशकालीन भारत का इतिहास, पृ 182.
5. जवाहर लाल नेहरू, विश्व इतिहास की झलक, पृ. 356.

माने अधिकार दे दिये कि वे खितिहर को बेदखल कर सकते थे, बकाया रकमों को अदायगी न होने पर उसके पशु तथा कृषि उपकरण बेच सकते थे और उन पर अधिकतम् संभव दबाव डालने के विचार से उसके विरुद्ध अन्य प्रकार की कार्यवाहियाँ कर सकते थे। सन् 1799 के कानून ने एक ओर असहाय किसानों के शोषण का द्वार खोल दिया और दूसरी ओर लगान ठेके दार को जमीन पर पूर्णस्वत्वाधिकार को पुष्टि कर दी।[×]

सन् 1857 के स्वतन्त्रता संग्राम के पश्चात् सन् 1858 में एक लगान कानून पारित किया गया जिसके अनुसार न तो भू स्वामी को लगान बढ़ाने का अधिकार था और न ही कृषकों को बेदखल करने का।[2] इस समय जमीन-दारों से जिन किसानों ने जोत के लिए जमीनें लीं वही कालान्तर में भूमिहर कहलाए।[3]

इसके बाद लार्ड रिपन के समय एक कानून बनाकर किसानों की स्थिति को कुछ और सुधारने का प्रयत्न किया गया। इससे " यह तय हो गया कि यदि किसान 12 साल तक लगातार जमीन जोत चुका हो तो उसका उस पर साधारण हक होगया और यह भी तय हुआ कि जमींदार लगान पाने को रसीद दे।[4]

बिहार में नील की खेती :----

बिहार में नील की खेती के तले भारतीय कृषक और कृषि दोनों की स्थिति अत्यंत दयनीय थी इसके ऊपर नील की खेती दूसरा बड़ा अभिशाप थी। अंग्रेज व्यापारी अपने व्यक्तिगत लाभ के लिए बंगाल और

× ताराचंद, भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन का इतिहास, पृ.319.

2. 'A Rent law had been passed in 1859 during the vicerogality of Lord Canning according to which a land lord could not increase the rent of the land or eject the tenant. O.P.singh Dhatia history of India, page 37.

3. डॉ. विजेन्द्र नारायण सिंह से एक बातचीत।

4. मन्मथनाथ गुप्त, राष्ट्रीय आन्दोलन का इतिहास, पृ. 152

बिहार में लोगों से बलात् नील की खेती करवाते थे। " अच्छी से अच्छी जमीन पर जबरदस्ती नील की खेती कराई जाती थी - - - - विद्रोह के बहाने नील के साहबों को मैजिस्ट्रेटी का अधिकार मिला हुआ था।"[x]

9425.123.

अकाल :---

आर्थिक परिवेश अकाल और बाढ़ जैसे प्राकृतिक प्रकोपों से बहुत प्रभावित होता है। भारतीय जन का ; विशेषकर बंगाल और बिहार के निवासियों का आर्थिक परिवेश लगातार इन अकालों से प्रभावित होता रहा है। सन् 1769 -70 के अकाल से , जिसके सम्बन्ध में प्रसिद्ध है कि लोग मुरदों का मास खा कर रहे तथा उसमें लगभग एक करोड़ लोगों को मृत्यु हुई +[2] लेकर 1861 जिसमें, साढ़े आठ करोड़ आबादी मौत को भेंट हुई थी[3] 1876, 1896 तथा 1900 तक बराबर अकाल पड़ते रहे। इन अकालों से समूचे देश का आर्थिक परिवेश तो प्रभावित हुआ ही विशेषकर बिहार के वे ग्रामीण अंचल अधिक प्रभावित हुए जिनमें से एक में उर्वशीकार का जन्म हुआ था।

× × × ×
× ×
×

× मन्मथनाथ गुप्त, राष्ट्रीय आन्दोलन का इतिहास, पृ. 123.

2. ताराचंद, भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन का इतिहास, पृ. 260. देखिए, पी.ई. राबर्ट्स, ब्रिटिशकालीन भारत का इतिहास, पृ. 133.

3. जवाहर लाल नेहरू, विश्व इतिहास की झलक, पृ. 357-8.

राजनैतिक परिवेश :---

2.4.2.6.

सन् 1908 के आस-पास का समय राजनैतिक दृष्टिकोण से अत्यंत महत्व का था। दासता और आर्थिक शोषण के प्रतिकार के लिए देश में एक व्यापक चेतना कुलबुला रही थी। सन् 1857 के आंशिक विद्रोह एवं उसके बाद के दमन चक्र ने निस्संदेह भारतीय जनता की प्रतिरोधात्मक शक्ति को, उसके मुक्ति प्रयासों को अंग कर दिया था किन्तु इंगलिस्तान और भारतीय अंग्रेज भक्तों की संयुक्त शक्ति भी स्वतन्त्रता की चेतना के बीज को सर्वथा नष्ट करने में नितान्त असफल रही थी।

सन् 1857 का मुक्ति संग्राम तात्कालिक परिणाम की दृष्टि से असफल अवश्य रहा था किन्तु उसके दूरगामी परिणाम महत्वपूर्ण सिद्ध हुए। व्यापारी कम्पनी के स्थान पर सन् 1858 में भारतीय शासन की बागडोर ब्रिटिश संसद के हाथों में चली गई और इसप्रकार अनायास ही भारत की जनता इंगलैण्ड की महारानी की प्रजा हो गई। गौरांग प्रभुसत्ता की ओर से सत्ता ग्रहण करते समय कहा गया था कि ---

> " धर्म तथा जाति का ख्याल न रखकर सब को शासन के अधिकार दिए जायेंगे। - - - - - - - - भारतवर्ष की कारीगरी उन्नति के लिए सबकुछ किया जाएगा और ऐसे काम बढ़ाए जाएँगे जिसमें आम जनता को फायदा हो। "[×]

महारानी की इस घोषणा के परिणाम स्वरूप होने वाले सुधारों के मध्य सन् 1858 के लगान कानून और लार्ड रिपन के सुधारों की चर्चा प्रें के सम्बन्ध में गत पृष्ठों में कहा जा चुका है। जहाँ तक शासन व्यवस्था में आम आदमी को सीधी भागीदारी का प्रश्न था उसमें भारतीयों को अपनी ही भूमि पर कोई महत्वपूर्ण भाग न मिल सका। सन् 1866 के " भारतीय नागरिक सेवा नियम [

[के द्वारा आई.सी. एस को परिक्षा के लिए प्रत्यार्थियों की आयु 22 वर्ष कर दी गई तथा उसके पश्चात् उसे 1879 के एक विधेयक द्वारा

× मन्मथनाथ गुप्त, राष्ट्रीय आन्दोलन का इतिहास, पृ. 94.

और भी कम करके 19 वर्ष कर दी गई जिससे अधिकांश भारतीय इस अवसर से वंचित रह कर गए । ×

गौरांग महाप्रभुओं को इस प्रपंचमयी नीति को स्पष्ट करने के लिए श्री मन्मथनाथ गुप्त अपने राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास में भारत के बड़े लार्ड लिटन के एक गुप्त पत्र का उल्लेख करते हुए लिखते हैं कि ---

> " भारतीयों की यह जो मांग है कि सिविल सर्विस में उन्हें नियुक्त किया जाय, कभी मानी नहीं जा सकती । इसलिए दो ही रास्ते हैं, एक तो यह कि उनसे साफ कह दिया जाय कि तुम लोगों को इस पद पर नहीं लिया जायेगा, और दूसरा यह कि उन्हें धोखा दिया जाय और सब्ज़ बाग दिखाया जाय । हम लोगों ने दूसरे मार्ग को ही चुना है । " 2

इसी सम्बन्ध में श्री ताराचंद लिखते हैं कि --

> " ब्रिटिश शासन को जड़ें मज़बूत करने के लिए यह भी आवश्यक समझा गया कि भारतीयों को बिल्कुल असहाय कर दिया जाय और महत्वाकांक्षा के बीज उनके मस्तिष्क से निकाल दिए जायँ । 3

वे ब्रिटिश इतिहासकार ई. थौर की पुस्तक " नोट्स ऑन इण्डियन अफेयर्स " खण्ड दो का उल्लेख करते हुए ब्रिटिश नीतियों के सम्बन्ध में आगे लिखते हैं कि ---

> "अंग्रेजों का बुनियादी सिद्धान्त रहा है कि पूरे के पूरे भारतीय राष्ट्र को, सभी सम्भव तरीकों से हमारे हितों तथा लाभों के आधीन ले आना । भारतीयों को इसलिए आदर प्रतिष्ठा तथा ओहदे के उन अवसरों से भी वंचित रखा गया है जिन्हें स्वीकार करने के लिए निकृष्टतम् अंग्रेज पर भी दबाव डालना

× Rao. of Singhbhalea, History of India, Page, 160.

2. मन्मथनाथ गुप्त, राष्ट्रीय आन्दोलन का इतिहास, पृ. 148.

3. ताराचंद, भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन का इतिहास, पृ. 278.

होगा "×

इतना ही नहीं सन् 1878 में शस्त्र कानून के द्वारा भारतीयों द्वारा बिना लाइसेन्स के हथियारों का रखना भी दण्डनीय अपराध माना गया जब कि अंग्रेजों को इस नियम से मुक्त रखा गया ।[2]

संक्षेप में, " कीर्ति, धन, या शक्ति के सभी मार्ग भारतीयों के लिए बंद थे उन्हें न तो जन सेवा के अवसर प्राप्त थे न नागरिक के कर्तव्य पूरे करने के, न देश रक्षा के और न ही सम्पन्नता वृद्धि के । "[3]

सन् 1885 के 28 दिसम्बर को 12 बजे दिन में बम्बई के गोकुल दास तेजपाल संस्कृत कालेज हाल में जिस कांग्रेस की स्थापना हुई थी वह भी सन् 1907 तक आते-आते दो दलों में विभक्त हो गई थी । इसी मध्य 30 दिसम्बर सन् 1906 को ढाके में नवाब बकारूलमुल्क के सभापतित्व में मुस्लिम लीग की स्थापना हो चुकी थी ।[4]

30 दिसम्बर सन् 1903 को सरकार ने घोषणा की कि शासनकार्य की सुविधा के लिए बंगाल को दो भागों में बाँट दिया जाएगा । बंगालियों ने उसका घोर विरोध किया किन्तु 20 जुलाई, सन् 1905 बंगभंग प्रस्ताव पर भारत सचिव का ठप्पा बैठ गया तथा 16 अक्टूबर, सन् 1906 को कर दिया गया ।[5]

इस बंग भंग के प्रतिकार स्वरूप उस दिन स्व. रवीन्द्रनाथ ठाकुर द्वारा एकता को अक्षुण्ण रखने के लिए राखी बंधन का कार्यक्रम तथा बंगाल के अन्यतम महारथी श्री ~~रमेशचंद्र माथुर~~ रमेश चुन्दर त्रिवेदी द्वारा अरन्धन -- यानी बंगाल भर में किसी के घर चूल्हा न जले और बच्चे तथा रोगियों के अतिरिक्त कोई खाना न खावे -- मनाया गया ।[6]

× ताराचंद, भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन का इतिहास, पृ.278-9.
2. देखिए ओ.पी. सिंह भाटिया, हिस्ट्री आफ इण्डिया, पृ. 160.
3. ताराचंद, भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन का इतिहास, पृ.313.
4. मन्मथनाथ गुप्त, राष्ट्रीय आन्दोलन का इतिहास, पृ.252.
5. आचार्य चंद्र शेखर शास्त्री, भारतीय आतंकवाद का इतिहास, पृ.124.
6. मन्मथनाथ गुप्त, राष्ट्रीय आन्दोलन का इतिहास, पृ. 238.

बंग भंग के अवसर पर उद्दीप्त चेतना से आतंकित होर सरकार ने । नवम्बर, सन् 1907 को सारे भारतवर्ष में सभाओं पर प्रतिबन्ध लगाने के लिए " सिडीशस मीटीन्गस एक्ट" के नाम से एक कानून लागू कर दिया सन् 1907 में ही सरकार ने लाला लाजपत राय तथा सरदार अजीत सिंह को सन् 1818 के रेगुलेशन तीन के अनुसार गिरफ्तार करके वर्मा में निर्वासित करदिया । ×

आतंकवादी कार्य :---

2.2.6.1

बंगाल में सन् 1906 से ही विप्लववादी संस्थाएँ बनने लगीं थीं बारीन्द्र कुमार घोष (अरविन्द घोष के छोटे भाई) भूपेन्द्र दत्त (विवेका नन्द के छोटे भाई) एक ओर बंगाल से "युगान्तर"का प्रकाशन कर रहे थे दूसरी ओर " कलकत्ता अनुशीलन समिति का संगठन कर रहे थे । ढाका में पुलिन बिहारी दास ढाका अनुशीलन समिति का संगठन कर रहे थे । सन् 1903 के अन्त तक, जिस वर्ष उर्वशीकार का जन्म हुआ था इस समिति की शाखाएँ सारे बंगाल में फैल गई थीं ।[2] 30 अप्रैल, सन् 1908 को मुज्जफरपुर में मिस्टर किंग्स फोर्ड के धोखे में खुदीराम बोस तथा प्रफुल्ल चाकी द्वारा श्री मती केनेडी तथा कुमारी केनेडी मारीं गईं जिसके सम्बन्ध में प्रफुल्ल कुमार चाकी ने आत्म हत्या कर ली तथा खुदीराम बोस को फाँसी हुई ।[3] इसी समय यानी 31 अगस्त, 1908 को अलीपुर षड़यंत्र केस के सरकारी गवाह नरेन्द्र गोस्वामी का कन्हाई लाल और सत्येन्द्र वसु ने जेल में वध कर दिया जिसके लिए बाद में 10 नवम्बर, सन् 1908 को कन्हाई लाल दत्त को फाँसी दे गई ।

महाराष्ट्र में उन दिनों " केसरी"की धूम थी। अपने क्रांतिकारी उत्तेजक विचारों के लिए उसके सम्पादक लोकमान्य तिलक देश के अग्रगामी नेताओं में थे । 24 जून, 1908 को उन्हें गिरफ्तार करके छोड़ दिया गया किन्तु शीघ्र ही 13 जुलाई, सन् 1908[4] को उन्हें छः साल देश निकाले की

× आचार्य चन्द्र शेखर शास्त्री, भारतीय आतंकवाद का इतिहास,पृ.125.
2. वही, पृ. 73.
3. आचार्य चन्द्र शेखर शास्त्री, भारतीय आतंकवाद का इतिहास,पृ.80.
4. वही, पृ. 126.

सजा दी गई ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जिस समय दिनकर का जन्म हुआ उस समय राजनैतिक दृष्टिकोण से समस्त भारतवर्ष में एक उबाल सा आ रहा था

7 सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवेश :--

आर्थिक एवं राजनैतिक परिवेश जहाँ सामाजिक तथा सांस्कृतिक परिवेशों को प्रभावित करते हैं वहाँ सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवेश आर्थिक तथा राजनैतिक परिवेशों को भीप्रभावित करतें हैं । इनके पारस्परिक संघातों से ही युग के विभिन्न स्वरूपों की संरचना होती है, तथा व्यक्तित्व की पुन--निर्मितियाँ विकसनशील परम्परा को आगे बढ़ातीं हैं । कृतिकार के व्यक्तित्व के अध्ययन के लिए जहाँ यह आवश्यक है कि उसके वर्तमान परिवेशों का सावधानी से विवेचन किया जाय वहाँ उस पृष्ठभूमि का परिचय भी आवश्यक है जिसकी माटी की गन्ध परम्परा बन परिवेश पर छा जाती है ।

माटी का औदार्य प्रभुत्व की कामना से मुक्त होता है । धरती के एक ही टुकड़े पर उगे बेला, गुलाब, जूही, और कुकुरमुत्ता की अपनी - अपनी विशेषताएँ होतीं हैं किन्तु उनके अन्दर प्रवाहित होने वाला रस एक ही होता है । धरती सबको सहेजती है किन्तु बाँधती किसी को नहीं जब कि मानव निर्मित धर्मों एवं परम्पराओं का निर्माण ही बन्धन के रूप में होता है । दूसरों के जीवन का सहभागी होना मनुष्य की नियति है और यह एक तथ्य है कि सहभागिता अंतत: एक सामाजिक बन्धन का रूप ले लेती है, किन्तु समूचे बन्धनों के साथ एक खूँटे पर बंध जाना व्यक्ति, जाति, समाज और राष्ट्र के पिछड़ेपन का ही सूचक हो सकता है । भारत की धरती ने धर्म, परम्परा और विभिन्न सिद्धान्तों को जन्म देकर जहाँ अपनी प्रगतिशीलता का इतिहास लिखा हैं वहाँ उसकी जड़ता और कट्टरता ने मानवता का पर्याप्त अहित भी किया है ।

1 धर्म :-

प्राचीन भारत में धर्म ही शिक्षा एवं संस्कृति का आधार माना जाता था । हमारी समस्त शिक्षा धर्म के माध्यम से होती थी । आचारों की संहिता तथा व्यवहारों का परिमार्जन कालान्तर में सभ्यता और संस्कृति का

रूप लेते गए । सभ्यताएँ हम अपनाते गए संस्कृति हममें बसती गई । इस दृष्टिकोण से हमें यह स्वीकार करने में कोई हिचक नहीं होनी चाहिए कि---
" भारत में सबसे पहले सभ्यता तथा विद्या का प्रचार बिहार में ही हुआ ।"[×]
भारतीय दर्शन के उच्चकोटि के चिन्तन का प्रारम्भ जनक की सभा में हुआ तथा अथर्ववेद की व्रात्य ऋचा की रचना मगध में हुई । दीर्घतमस, कक्षीवान और घोषा ने भी वैदिक साहित्य और संस्कृति के विकास में विशेष योग दान दिया । मिथिला के ब्रह्मपुरी नामक ग्राम में गौतम नामक दार्शनिक का जन्म हुआ था । [2]

" ईशापूर्व छठी शताब्दी में जब समस्त संसार में धार्मिक क्रान्ति की लहर उठ रही थी, उस समय भारत में उस लहर का मुख्य केन्द्र बिहार ही था । बिहार में वर्द्धमान महावीर और गौतम बुद्ध के समय लगभग बासठ विभिन्न संप्रदायों का जन्म हो चुका था और ये सभी उस समय प्रचलित थे । [3]

मध्यकालीन सामन्तवादी बिहार में दो समानान्तर धाराएँ बहीं एक कृष्ण भक्ति की और दूसरी राम भक्ति की ।

" तेग बहादुर (सिक्खों के नवें गुरू) जब असम के रास्ते पर थे, तभी पटना में सन् 1666 ई. में उनके पुत्र गुरू गोविन्द सिंह का जन्म हुआ था जो बाद में सिक्खों के दसवें तथा अंतिम गुरू बने ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बिहार की धरती धर्म के सम्बन्ध में पर्याप्त प्रगतिशील रही है वह एक ओर नूतन का सृजन करती रही है तो दूसरी ओर पुरातन के प्रति विद्रोह भी परन्तु समाज के प्रति धर्म का योगदान अत्यधिक सुखर न सिद्ध हुआ क्योंकि यह सामाजिक संगम और राष्ट्रीयता के उदय में साधक होने के स्थान पर बाधक ही अधिक रहा है । कालक्रम में धर्म का चक्र राज्याश्रित होने पर व्यक्ति का प्रभाव प्रमुख हो उठा और धर्म के मूल सिद्धान्त गौण । धर्म की कुक्षि से उठनेवाली नैतिकता और विधियाँ

× शिवपूजन सहाय, शिवपूजन रचनावली, (पहला खण्ड) पृ. 14.
2. राधाकृष्ण चौधरी, बिहार ऐतिहासिक और सांस्कृतिक परम्परा, पृ.26.
3. वही. पृ. 19-20.

व्यक्ति के धर्म विश्वास को सहवर्तिनी बन गई तथा यह सम्बद्ध व्यक्ति की स्थिति पर निर्भर रहने लगी प्रसंगाधीन विषय पर नहीं। काम और व्यवसाय इच्छा या योग्यता के बदले जन्म के आधार पर निर्धारित किये जाने लगे। कुछ भी हो बिहार की धरती और उसके अमर छाए धार्मिक परिवेश को लेकर इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि धर्म के मामले में भी यह क्रान्ति-प्रसू भूमि रही है।

2. शिक्षा :-

शिक्षा के क्षेत्र में भी हम बिहार को अत्यधिक समृद्ध पाते हैं। प्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनि और पतंजलि का भी बिहार से घनिष्ट सम्बन्ध था। कहा जाता है कि पाणिनि ने पाटलिपुत्र में रहकर ही विद्याध्ययन किया था।[×]

अन्तराष्ट्रीय ख्याति का सुप्रसिद्ध चिकित्सक जीवक मगध का रहने वाला था।[2]

गुप्तयुग का उद्भट विद्वान आर्यभट्ट जिसने सर्वप्रथम विश्व में गुरुत्वाकर्षण और सूर्य के चारो ओर पृथ्वी के घूमने के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था मगध में पैदा हुआ था।[3]

" नालन्दा, "विक्रमशिला और मिथिला जैसे विश्वविद्यालयों का अविर्भाव यदि कहीं पर था तो बिहार की धरती पर। यहीं पर नव्य न्याय के संस्थापक गंगेश तथा उसके सर्वाधिक प्रसिद्ध शिक्षक पक्षधर मिश्र हुए थे। अतीशदीपंकर को विक्रम शिला विश्वविद्यालय से तिब्बत आमंत्रित किया गया था।[4] किन्तु भारत की यह समृद्धता अधिक काल तक न रह सकी सब कुछ काल के गर्त में समा गया और उसके बाद " भारतीय विश्वविद्यालय

× राधाकृष्ण चौधरी, बिहार ऐतिहासिक और सांस्कृतिक परम्परा, पृ.26-7.

2- 3. वही, पृ. 27.

4. वही, पृ. 28-29.

केवल परिक्षा लेने वाले बोर्ड थे ------ और उनसे तोता रटन्त की पद्धति को प्रोत्साहन मिला, जिसका पूर्वक ने जनता पर मानसिक दासता और अनुकरण की प्रवृत्ति के रूप में शोचनीय प्रभाव पड़ा तथा विश्वविद्यालय को डिग्री नौकरी पाने का साधन मात्र समझी जाने लगी ।[x]

उर्वशीकार के जन्म के समय तक आते-आते वह समृद्धिशाली परम्परा शोचनीय हो चली थी । इम्पीरियल गजेटियर में बिहार में तत्कालीन शिक्षा के सम्बन्ध में उल्लेख मिलता है कि, " जन संख्या का अधिकांश भाग अशिक्षित है मात्र 2.9 प्रतिशत (5.8 % पुरुष और 0.2% स्त्रियाँ) 1901 में लिख और पढ़ सकते थे ।" [2]

" जन् 1903 से: -4 में 28752 लड़के तथा 2,841 लड़कियाँ जो स्कूल जानेवाली अवस्था के बालक - बालिकाओं का क्रमश: 18.9 प्रतिशत तथा 1.7 प्रतिशत है स्कूल में थे ।"

" सार्वजनिक एवं व्यक्तिगत संस्थानों की कुल शैक्षणिक संस्थाओं की संख्या उन दिनों 1.326 थी जिसमें एक आर्ट्स कालेज, 22 माध्यमिक, 1,025 प्राथमिक एवं 278 विशेष स्कूल थे । इनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण डायमन्ड जुबली कालेज, और मुंगेर का डिस्ट्रिक्ट स्कूल तथा बेगूसराय और जमुई के हाई स्कूल थे ।"[3]

---

8 पो.ई. राबर्टस, ब्रिटिशकालीन भारत का इतिहास, पृ. 396.
2. दि इम्पीरियल गजेटियर आफॅ इण्डिया, खण्ड, 17, पृ. 400.
3. वही, पृ. 400.

2427.3 साहित्यिक परिवेश :-

नालन्दा और विक्रमशिला के भिक्षुओं ने 400 वर्षों तक सिद्ध साहित्य तथा चर्यापदों की रचना की जो प्राचीन मागधी, मैथिली और हिन्दी का आदि रूप माना जाता है। सबसे प्राचीन कवि सरहपाद नालन्दा और उनका शिष्य शबरपाद विक्रमशिला में रहते थे। ज्योतिरीश्वर ठाकुर रचित वर्ण-रत्नाकर" प्रान्तीय भाषाओं में सर्व प्राचीन ग्रन्थ माना जाता है। विद्यापति और गोविन्ददास मैथिली के दो देदीप्यमान नक्षत्र हैं। इनके अतिरिक्त उमा-पति, नरनारायण, अमृतकर, सिंह भूपाल, हर्षनाथ, चन्दा झा, मनबोध कान्हा, रामदास करण जयानन्द, रतिपति भगत आदि मैथिली के कवि और साहित्यकार हुए हैं। प्रेमाख्यानों में मुल्ला दाउद का चन्दायन उल्लेखनीय है। दिनकर इस समृद्ध परम्परा की अगली कड़ी थे।

2427.4 बिहार का लोक मानस :-

मिथिला में वैष्णवीय धर्म मीमांसा की प्रधानता है। शिव शक्ति-विष्णु की पूजा मिथिला में विशेष रूप से प्रचलित है। विद्यापति और चन्दा झा ने शिव पर नाचारी और " महेशवाणी " लिखी। इसके अतिरिक्त मिथिला तन्त्र का भी प्रधान केन्द्र रहा है। चामुण्डा, जय मंगला, कात्यायनी और उग्रतारा पीठ स्थान माने गए हैं। हरिहर क्षेत्र एवं उर्वशीकार की जन्मस्थली सिमरिया घाट में कार्तिक पूर्णिमा के अवसर पर विराट मेला लगता है।×

लोक मानस के दर्शन करने के लिए आवश्यक है कि किसी जाति में प्रचलित परम्पराओं तथा विश्वासों का विवेचन किया जाय। वस्तुतः लोक मानस वह मानस होता है जिसमें व्यक्ति की सहजात प्रवृत्तियों को सहज रूप से विकसित होने के लिए प्रचुर अवकाश रहता है। व्यक्ति के आदिम विचारों और भावों को समस्त आवरणों से जहाँ मुक्ति मिलती है

× देखिए, राधाकृष्ण चौधरी, बिहार का ऐतिहासिक और सांस्कृतिक परम्परा पृ. 25-26.

जिसके अन्तर्गत वह सभ्यता के तनावों से मुक्त होकर उन विश्वासों को जीता है जिन्हें उसने सभ्यता के उषाकाल में या फिर उस समय अर्जित किया होगा जब उसके आचरणों पर सभ्यता और विधि-निषेधों का प्रतिबन्ध प्रारम्भ न हुआ होगा ।[×] आज के सभ्य और सुसंस्कृत कहे जाने वाले युग में व्यक्ति जब उस मानस के निकट होने का प्रयास करता है तो उसे पुन: एक कृत्रिमता का प्रश्रय ग्रहण करना पड़ता है । आदिम युग से आधुनिक युग तक की यात्रा मानव के विभिन्न विश्वासों और परम्पराओं की यात्रा कही जा सकती है । समय के गर्भ में जीते मानव के मन पर चाहे -अनचाहे अनेक घटनाएँ एक विश्वास को सृष्टि करती चलती हैं और उन विश्वासों को बार-बार जीते रहना परम्पराओं को निर्मिति है । कालान्तर में मनुष्य इन परम्पराओं में कुछ इस प्रकार आबद्ध हो जाता है कि चाहते हुए भी उनसे एक झटके के साथ मुक्त होना उसके लिए संभव नहीं होता । बिहार की धरती पर कुछ रीति - रिवाज और परम्पराएँ रही हैं और आज भी हैं । उर्वशीकार के व्यक्तिगत जीवन में प्रवेश करने से पूर्व उन परम्पराओं, रीति-रिवाजों, मनोवृत्तियों तथा विश्वासों से संक्षिप्त में परिचित होना आवश्यक है क्योंकि इनकी समग्रता उसके मानस के उन क्षेत्रों के उद्घाटन में सहायक होगी जहाँ उर्वशी के नूपरों की आवाज अगुरुधूम में लिपटी गूँजती रहती है ।

अपव्यता :-

अपव्यता बिहार के जन मानसकी एक विशेषता रही है । इस सम्बन्ध में श्री शिवपूजन सहाय लिखते हैं कि --

> " बिहारी लोग पुत्र और कन्या के विवाह में, माता-पिता के श्राद्ध में, और पण्डों के पाखण्ड-प्रपंच में, परिप्लावित तीर्थों में अपरिमित द्रव्य व्यय करते हैं । - - - - शादी व्याह में रण्डियों और भाँड़ों के नाच तमाशे के लिए धन को आतिशबाजी की तरह फूँक देते हैं । तिलक और दहेज की कुप्रथा से इनका सारा समाज कलुषित हो गया है ।"[2]

× " लोकमानस का मूल सृष्टि के मनुष्य में विद्यमान सबसे प्रथम अपने जन्म की सहज प्रतिक्रियाओं का प्रतिफल है ।" डॉ. सत्येन्द्र, मध्ययुगीन साहित्य का लोक तात्विक अध्ययन, विनोद पुस्तक मंदिर आगरा, 1960, पृ. 24.

ईर्ष्यायुत प्रकृति :-

ईर्ष्या मनुष्य का सहज गुण है । ऐसा व्यक्ति ढूँढने पर कठिनता से मिलेगा जिसके मन में किसी न किसी प्रकार की, किसी न किसी के प्रति ईर्ष्या न हो किन्तु इसका अतिरेक बिहारकी माटी की विशेषता जो अन्ततोगत्वा कलह और अव्यवस्था में पर्यवसित होती है, तथा जिसे सहज ही वहाँ के निवासियों में देखा जा सकता है। श्री शिवपूजन सहाय जी इस सम्बन्ध में लिखते हैं :--

" मुकदमेबाजी में भी काफी फिजूल खर्ची होती है । छोटी-छोटी बातों के लिए ईर्ष्या द्वेष वश धन को पानी की तरह बहा देना इनका एक प्रधान काम है ।"×

सीमित आवश्यकताएँ :-

बिहारी लोग जहाँ अन्य कारणों से प्रचुर मात्रा में धन का अपव्यय करते है वहीं उनके व्यक्तिगत जीवन में उनकी आवश्यकताएँ बहुत सीमित हैं " उनको खाने पहनने के लिए बहुत थोड़ा धन और अल्प सामग्री चाहिए ।"×

स्त्रियों का रहन-सहन :-

किसी भी समाज की स्त्रियों के रहन-सहन को देखकर उसकी अवस्था के सम्बन्ध में बहुत कुछ जाना जा सकता है क्योंकि परिवार और समाज का गुरुतम दायित्व उन्हीं के कन्धो पर रहता है । बिहार की स्त्रियाँ "गहने पहनने में और गन्दा रहने में बहुत बढ़ी-चढ़ी हैं ।"× स्त्रियाँ परदे में रहती हैं । नातेदारी में जो इनसे छोटे होते हैं वे चाहे देख लें तो देख लें नहीं तो उन्हें बहुओं की बात कौन कहे सूरज -चाँद भी नहीं देख पाते ।"×

वेशभूषा :-

स्त्रियों की वेश-भूषा अत्यंत भद्दी है । केश और वस्त्र तथा अवयवों की गन्दगी पर विचार करना तो वृथा है, पर आभूषणों का

× शिवपूजन सहाय, शिवपूजन रचनावली, 'पहला खण्ड' पृ. 61-62.

का भद्दापन तो निन्दा को सीमा भी फाँद जा सकता है।×

२. आलस्य और आभूषण प्रियता :-

जो स्त्री पानी का लोटा कुएँ से नहीं निकाल सकती वह भी पसेरी भर गहना पहन लेती है और यदि उन्हीं आभूषणों की गठरी उसके सर पर लाद दी जाय तो वह सौ कदम भी वेशी तेज नहीं जा सकती। ×

बाल विवाह और शिक्षा के प्रति उदासीनता :--

बिहारियों के बच्चे बहुत छोटी उम्र में ब्याहे जाते हैं, अतएव न तो स्वस्थ ही होने पाते हैं और न चिरायु ही। माता-पिता को बच्चों की शादी करने की जैसी गाढ़ी चिन्ता रहती है, वैसी पढ़ाने-लिखाने की नहीं रहती। बालकों की शिक्षा का प्रश्न उनके लिए महत्व नहीं रखता, तो बालिकाओं की गिनती न तीन में है न तेरह में।×

त्योहार :-

होली महोत्सव में यहाँ के लोग स्वत: उन्मादित हो जाते हैं। ऊँच-नीच और बड़े-छोटे का विचार छूट जाता है। लज्जा और शील को आँखें फोड़ दी जाती हैं। सभ्यता का गला घोंट दिया जाता है। अनुचित - उचित का विवेक छोड़कर सब लोग अपशब्दों और घृणास्पद वाक्यों का उच्चारण करने लग जाते हैं। - - - - - - शराब गाँजा और भाँग पीकर बम-भोला बने फिरते हैं। दीवाली में जुआ खेलते हैं।×

निष्कर्ष :--

गत पृष्ठों में हमने उर्वशीकार के जन्मस्थान और काल के आधार

× शिवपूजन सहाय, शिवपूजन रचनावली, पहला खण्ड, पृ. 61-62.

पर ग्राम प्रान्त और देश की परिधियों पर परिवेश की परम्परा को उनके जन्म के समय यानी सन् 1908 तक ही प्रस्तुत किया है । माटी और मनुष्य का सम्बन्ध सनातन है । ये एक दूसरे का परिष्करण करते रहते हैं । संबंधों की इस विशाल श्रृंखला को अत्यंत संक्षिप्त रूप से ही यहाँ प्रस्तुत किया गया है । कवि जिस परिवेश में जीता है वह उसकी अपनी पूर्व स्थिति की अगली कड़ी होता है । इसे वर्तमान (कवि का वर्तमान) भी कहा जा सकता है । इस कड़ी को समझने के लिए पूर्व की कड़ियों को भी जानना आवश्यक होता है । यद्यपि इस पूर्वापर क्रम को ठीक -ठीक प्रस्तुत करना लगभग असंभव है किन्तु मानवी मेधा की आकुलता और विवशता के साथ-साथ प्रबन्ध की सीमाएँ आगे बढ़ने की अनुमति नहीं देतीं । समस्या को समझने के लिए व्यक्तित्व और व्यक्तित्व को जानने के लिए परिवेश का ज्ञान अपेक्षित है । इसलिए इसके पूर्व कि हम उर्वशीकार के जीवन में प्रवेश करें उसकी पीठिका के सम्बन्ध में प्राप्त निष्कर्षों को प्रस्तुत करना अधिक समीचीन प्रतीत होता है :-

(1) उर्वशीकार के जन्मस्थान की भौगोलिक स्थिति जहाँ उस माटी की उर्वरता सिद्ध करती है वहीं उसे आर्थिक संकटों एवं प्राकृतिक विनाश को झेलनेवाली धात्री भी ।

(2) इतिहास के दृष्टिकोण से उर्वशीकार का जन्म जिस धरती पर हुआ था उस का इतिहास और भारत का इतिहास पर्यायवाची रहे हैं ।

(3) आर्थिकसंकट और बिहार की धरती का सम्बन्ध भी सनातन है । समय - समय पर जहाँ यह राजधानी के वैभव से अलंकृत रहा है वहीं उद्योग धंधों तथा कृषि की स्थिति अत्यंत शोचनीय रही है । अकाल भी आर्थिक रूप से इस प्रदेश के लोगों को उजाड़ने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता रहा है ।

§4§ राजनैतिक दृष्टि से यह प्रदेश विद्रोह का पर्याय रहा है। विद्रोह इस प्रदेश की परम्परा रही है। वैदिक कर्मकाण्ड के प्रति महावीर और गौतम का विद्रोह, वैशाली के गणराज्य के प्रति अजातशत्रु का विद्रोह आदि अनेक उदाहरण है जो आधुनिक युग में जय प्रकाश नारायण तक एक परम्परा के रूप में देखे जा सकते हैं।

§5§ बिहार शिक्षा के क्षेत्र में सर्वाधिक उन्नतिशील भी रहा है और सबसे पिछड़ा हुआ भी।

§6§ साहित्यकारों की एक लम्बी परम्परा बिहार में पाई जाती है। हिन्दी के आदि कवि सरहपाद से लेकर आधुनिक कवि दिनकर तक की रचना का श्रेय बिहार की धरती को ही है।

§7§ बिहार का जन मानस यानी वहाँ के लोग सामान्यत: ईर्ष्यालु तथा आडम्बरी होने के साथ-साथ सीमित आवश्यकता वाले हैं।

§8§ समूचा समाज रूढ़ियों एवं परम्पराओं से जकड़ा हुआ है।

§9§ स्त्रियाँ असूर्यम्पश्या, गन्दगी प्रिय तथा पर्दानशीन हैं।

§10§ समाज में बाल-विवाह का प्रचलन है। शिक्षा के प्रति जन साधरण उदासीन है।

§11§ त्योहारों का मनाने का ढंग अत्यंत फूहड़ और अशोभन है।

§12§ कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि उर्वशीकार का जन्म जिस धरती और समय में हुआ था उसकी अपनी विशेषताएँ रहीं हैं। राजनैतिक दासता, आर्थिक संघर्ष, शिक्षा का अभाव,

बाल-विवाह जैसी कुरीतियों के अतिरिक्त, भूत-प्रेतों में निहित विश्वासों से लेकर पूजा-पाठ के कर्म-काण्डों तक की विविधता इस काल और युग की अपनी विशेषता है। इस परिवेश में वस्तुतः इतनी विविधताएँ हैं कि किसी एक का प्रभाव व्यक्ति के व्यक्तित्व पर ढूँढना व्यर्थ है।

अनेक निष्कर्षों को और अधिक सीमित करते हुए हम कह सकते हैं कि जिजीविषा और विद्रोह बिहार की माटी की विशेषता रही है। जिसके कारण जिजीविषा के केन्द्र पर व्यक्ति जहाँ अनुराग से नहा उठता है, अमृत्व के उद्बोधन का अनहद नाद जहाँ उसे धमनियों और शिराओं में दौड़ते रक्त में सुनाई पड़ता है, उसकी मनोमय चेतना जहाँ विराट सौन्दर्य को बाहों में भरने को अकुलाने लगती है, उससे एकमेक हो जाने की अकुलाहट सृजन के आयामों का विस्तार करती करती है, वहीं वह समूचे परिवेश के प्रति और सबसे अधिक अपने प्रति विद्रोह से भर जाता है। विद्रोह और क्रान्ति की लहरें जिजीविषा को और उद्दाम बना देती हैं। कविता कवि का अपने प्रति विद्रोह है। कुछ पा लेने की लालसा और अधिक बलवती हो उठती है, किसी अज्ञात से संयुक्त-संपृक्त हो जाने की कामना स्वयं अपनी पहचान तलाशती हुई सृष्टि की आदि चेतना तक पहुँचने का मार्ग प्रशस्त करने लगती है। "मनोषी आदि चेतना = को केवल एक बिन्दु पर स्पर्श कर सकता है। कवि उसे चारों ओर से घेर लेता है। ज्ञानी भगवान के चरण छूता है भक्त भगवान को भुजपाश में बाँध लेता है। कविता इसी भक्त के साथ रहती है।"×

बिहार की भूमि का तत्कालीन परिवेश कविता के बहुत निकट रहा है। आगामी पृष्ठों में अब हम उर्वशीकार के जीवन तथ्यों एवं परिस्थितियों का विश्लेषण करते हुए उनके जीवन की केन्द्रीय एवं परिधीय समस्याओं को रेखांकित करने का प्रयास करेंगे।

× डॉ. हरिवंश राय बच्चन, "क्या भूलूँ क्या याद करूँ", राजपाल एण्ड सन्ज दिल्ली, 1977, पृ. 258.

2.4.3. उर्वशीकार : व्यक्तित्व और परिवेश : विश्लेषण

2.4.3. उर्वशीकार : व्यक्तित्व और परिवेश :विश्लेषण

* व्यक्तित्व का निर्माण परिस्थितियाँ करतीं हैं, मन में आने वाले भाव और विचार करते हैं, जीवन के अनुभव और समस्याओं के आघात करते हैं। यही व्यक्तित्व कवि की कृतियों में प्रतिफलित होता है।

---दिनकर

मनुष्य भीतर से जो होता है बाहर से उसके विपरीत अपने आपको दिखाने का प्रयत्न करता है, कायर अपने आपको बहादुर सिद्ध करना चाहता है, कामी अपने को विरागी।

--- "बच्चन"

2.4.3. उर्वशीकार : व्यक्तित्व और परिवेश : एक विश्लेषण

सत्व एक सम्भावना है जिसका परिवेशीय विकास अपनी विकसनशील परम्परा में व्यक्तित्व को संज्ञा ग्रहण करता है । इसी परम्परा में अनुभूतियों की चिन्तनशीला अभिव्यक्ति शब्दों में ढलकर साहित्य बन जाती है । अर्थात् साहित्य व्यक्ति और परिवेश की शब्दार्थमयी समग्रता का नाम है । कला-कार को कला की सही समझ जुटाने के लिए जरूरी है कि उसके व्यक्ति और परिवेश, जिसके अन्तर्गत उसका व्यक्तित्व पनपता है, का अध्ययन उसके रचना संदर्भों के साथ-साथ किया जाय ।

सृजन के क्षणों में कलाकार रचना के रूप में अपनी सर्जक प्रतिभा से उन अभावों की पूर्ति का प्रयास करता है जो उसके अन्तर्मन में कहीं गहरे समाए रहते हैं । उसका संस्कारी मन कदाचित् आदर्शों एवं युगीन नैतिक-ताओं के मध्य झटके खाता रहता है । व्यक्तित्व तथा परिवेश की परिवर्तन-शीला स्थिति इसके सृजन में विभिन्न स्थितियों तथा मन:स्थितियों को रूपायित करती है जिसके कारण कलाकार का वास्तविक रूप प्रत्यक्ष होते हुए भी परोक्ष में ही रह जाता है तथा रचना की वह भूमि जो रचनाकार की विधायक विवशता बनती है अव्याख्यायित रह जाती है । इसलिए कृति-कार के व्यक्तित्व के अध्ययन के लिए प्रमुख रूप से निम्नलिखित तीन स्रोतों का प्रश्रय लिया जाना चाहिए :-

(1) कृतिकार का आत्म-कथ्य
(2) कृतिकार के सम्बन्ध में दूसरों का मत तथा
(3) कृतिकार की कृतियों में अभिव्यक्त भावों तथा विचारों की मुख्य धारा ।

वस्तुत: इन तीन स्रोतों से प्राप्त सामग्री के विवेचन के आधार पर ही व्यक्तित्व तथा उसकी रचनात्मक अभिव्यक्ति की मुख्य धारा को सम्यक्-रूपेण समझा जा सकता है ।

उर्वशीकार के सम्बन्ध में हम इन्हीं तीन स्रोतो से प्राप्त सामग्री का अध्ययन - विवेचन प्रस्तुत कर उनके काव्य की केन्द्रीय समस्या को रेखांकित करने का प्रयास करेंगे ।

सामान्य अनुभव की बात है कि हममे से प्रत्येक के पास एक नाम है यह नाम हमारी पहली पहचान है । सामान्य से विशिष्ट की ओर होने वाली यात्रा का इसे प्रथम चरण कहा जा सकता है । इस नाम को हम इतना अपना मानते हैं कि उसके अभाव में हमे अपना अस्तित्व ही संदिग्ध प्रतीत होने लगता है जब कि तथ्य यह है कि इस नाम से पूर्व हमारा अस्तित्व था और चूँ कि नाम से पूर्व अस्तित्व था इसलिए इस नाम के अभाव में भी अस्तित्व रहना चाहिए, रहेगा और रहता भी है । किन्तु नाम हटते हमें अपने पैरों तले की जमीन खिसकती जान पड़ती है । एक नाम को छोड़ कर हम दूसरे नाम की शरण चले जाते हैं । स्यात् नाम के अभाव में हमें जीना भी संदिग्ध प्रतीत होता है । निष्कर्ष यह कि हमारा नाम हमारी विशिष्टता है जिसके हम आदी हो गए हैं । इस नाम के सम्बन्ध में ही एक महत्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि सारे के सारे नाम दूसरों के दिए हुए हैं । नाम के माध्यम से वैशिष्ट्य की स्थापना के समक्ष समस्त प्रयास दूसरों के द्वारा सम्पन्न हुए हैं , यानी हमें हमारे होने का बोध

भी दूसरे ही कराते हैं । व्यक्ति को उसके अपने होने का बोध जब होगा तब होगा किन्तु जब तक नहीं होता तब तक वह दूसरों के कन्धों पर चढ़-कर अपने संसार को देखता रहता है । व्यक्ति के अपने व्यक्तित्व से परिचित होने की पहली स्थिति उसके सम्बन्ध में दूसरों का मत है । अस्तु ।

बहिरंग व्यक्तित्व एवं पारिवारिक परिवेश :-
2.4.3-1.

" गोरा-चिट्टा रंग लम्बाई पाँच फुट ग्यारह इंच भारी भरकम शरीर बड़ी-बड़ी आँखें ललकार भरी बुलन्द आवाज तेज चाल और छिपु बुद्धि ।"× के स्वामी स्व. रामधारी सिंह दिनकर का जन्म " उत्तर बिहार के बेगूसराय जिले के अन्तर्गत् सिमरिया नामक ग्राम में "[2] 1316 साल [बंगाल और बिहार में प्रचलित फसली संवत्] के अश्वनि मास में नवरात्र के भीतर बुधवार की रात्रि में हुआ था [3] ।" जिस आधार पर गणकों ने उनकी जन्म तिथि 30 सितम्बर, 1908 निर्धारित की थी और बहुत दिनों तक वह तिथि मान्य भी रही । लेकिन दस साल पहले पटने के प्रसिद्ध ज्योतिषी पं. राम लोचन पाण्डेय ने दिनकर जी की पूज्यनीय माता जी से साक्षात्कार करके दिनकर जी की जन्म तिथि 23सितम्बर, 1908 निर्धारित की और अब अंतिम तौर पर यही तिथि मान्य हो चुकी है । [4]

× -3 मन्मथनाथ गुप्त: रामधारी सिंह दिनकर, राजपालएण्ड सन्ज, कश्मीरी गेट दिल्ली, 1978 पृष्ठ 3

2. "दिनकर जी बचपन से ही देह दशा में काफी तन्दुरुस्त थे । वे नियमित रुप से मुग्दरों दंड-बैठक करते और कुश्ती भी लड़ते थे ।" राजेश्वर प्रसाद सिंह, रामधारी सिंह दिनकर पालने से चिता तक, राष्ट्र - कवि दिनकर, सं. डा. गोपाल राय तथा डा. सकल देव शर्मा, ग्रन्थनिकेतन, पटना, 1975 पृष्ठ 1 तथा 4

4. वही पृष्ठ 1 तथा दिनकर की डायरी, पृष्ठ 234

दिनकर जो श्रीमती मनरूप देवी तथा स्व. रवी सिंह की मंझली सन्तान थे। उनके अग्रज श्री बसन्त सिंह तथा अनुज श्री सत्य नारायण सिंह हैं। दिनकर जी का विवाह सन् 1920 -21 में ही कभी जब वे 13 साल के थे श्यामा से हो गया था[2] जिनसे उन्हें दो पुत्र - स्व. राम सेवक सिंह तथा श्री केदार नाथ सिंह, तथा दो पुत्रियाँ हुयीं।

मृत्यु से 15-20 वर्ष पूर्व से ही दिनकर जी मधुमेह एवं तेज रक्त चाप से ग्रसित थे। इच्छा शक्ति उनकी दृढ़ थी इसीलिए खान-पान सम्बन्धी "जो आदत एक बार छोड़ देते थे फिर उसे कभी नहीं पकड़ते थे। बहुत पहले ही डाक्टरों के कहने पर उन्होंने पान-जर्दा खाना छोड़ दिया था फिर उन्होंने कभी यह आदत नहीं पकड़ी। पाँच-छह साल पहले डाक्टर की सलाह पर उन्होंने सिगरेट पीना जो छोड़ा, फिर उसे कभी नहीं छुआ। डाक्टरों के परामर्श पर मार्च, 1973 में उन्होंने खैनी का सेवन भी छोड़ दिया था..... खैनी उन पर सबसे ज्यादा हावी थी। खैनी खाकर ही वे कलम पकड़ते थे तथा पद्य अथवा गद्य रच पाते थे।"[3]

23 अप्रैल 1974 को वे तिरुपति वेंकटेश्वर मंदिर में बाला जी के दर्शन करने गए थे। वहाँ से मद्रास आगए थे वहीं पर बुधवार 24 अप्रैल, 1974 कोई ग्यारह साढ़े ग्यारह बजे रात में उन्हें दिल का दौरा पड़ा और घड़ी आध घड़ी में ही वहाँ के एक नर्सिंग होम में भर्ती होते-होते उन्होंने अपना शरीर रामराम कहते छोड़ दिया।[4] ऐसा प्रतीत होता है कि उन्हें

× डा. सावित्री सिन्हा युग चारण दिनकर राधाकृष्ण प्रकाशन दिल्ली, पृ.2
2. राष्ट्रकवि दिनकर, सं. डा. गोपाल राय तथा डा. सकल देव शर्मा, पृ.1
3. वही पृष्ठ 17
4. वही पृष्ठ 17.

अपनी मृत्यु का पूर्वाभास हो गया था । " श्री शिव सागर मिश्र (दिनकर जी के दामाद) की कन्या उषा ने बताया कि जब दिनकर जी तिरुपति जा रहे थे, उसने पूछा --"नाना जी आप वहाँ क्यों जा रहे हैं ? उत्तर मिला "मौत माँगने । × यह भी अद्भुत् संयोग है कि दिनकर जी का जन्म बुधवार को रात्रि में हुआ था और मृत्यु भी बुधवार को रात में हुई । 65 वर्ष और सात महीने की आयु भोगने के पश्चात् जिस समय उन्होंने प्राण छोड़े तब "अक्षय तृतीया आरम्भ हो गई थी --- यश अक्षय -- शरीर क्षय ।--- उसी दिन परशुराम जयंती भी थी । तब क्या "परशुराम की प्रतीक्षा" लिखनेवाले को भगवान परशुराम कहीं प्रतीक्षा कर रहे थे । "[2]

25 अप्रैल, 1974 को पटना के गाँधी घाट पर पूरे राष्ट्रीय सम्मान के साथ दिनकर का अंतिम संस्कार सम्पन्न कर दिया गया उनके कनिष्ठ पुत्र श्री केदार नाथ सिंह ने मुखाग्नि दी । अन्तर्धानोगत्वा दिनकर की वह भविष्य वाणी जो उन्होंने 39 वर्ष पूर्व की थी ----

मैं स्वयं चिता रथ पर चढ़
निज देश चला जाऊँगा । [3]

--- पूर्ण हुई किन्तु

दिनकर जैसे व्यक्तित्व मरा नहीं करते उनके नश्वर कलेवर का मृत्यु जैसी घटना के संस्पर्श से कुछ और विस्तार हो जाता है --

---- जिसका दिवस ललाट, उसी का निशा चिकुर है ।
रम उसमें जो है दिगन्त में रमा । [4]

× डा. श्याम नंदन किशोर "दिनकर अस्त नहीं होंगे", दिनकर व्यक्तित्व एवं कृतित्व, सं. जगदीशप्रसाद चतुर्वेदी, प्रबोध प्रकाशन, दिल्ली, 1977, पृ.104 तथा पृ 123.

2. वही पृ. 88

3. रामधारी सिंह दिनकर, वैभव की समाधि पर, रेणुका, चतुर्थ संस्करण पृ. 119.

4. रामधारी सिंह दिनकर, "हारे को हरि नाम" उदयाचल, पटना पृ.160.

प्राकृतिक परिवेश :-
2.4.3.3.1.

सिमरिया ग्राम के प्राकृतिक परिवेश के सम्बन्ध में गत अध्याय में विस्तार से विचार किया जा चुका है किन्तु उर्वशीकार की अभिरुचि के सम्बन्ध में यहाँ उसकी प्रासांगिक चर्चा अनुपयुक्त न होगी । दिनकर जो अपने प्राकृतिक परिवेश से पर्याप्त प्रभावित रहे इसी कारण उनके काव्य में सर्वत्र प्रकृति का उन्मुक्त चित्रण मिलता है । चाहे प्रणभंग जैसी प्राथमिक रचना हो, जिसका प्रारम्भ और अन्त दोनों ही प्रकृति के उपादानों से है :-

विश्व-विभा की अमर बेलि पर
फूलों-सा खिलना तेरा
शक्तियान पर चढ़कर वह
उन्नति रवि से मिलना तेरा ।

तथा

हुआ अंत उस महा समर का तम तोम का,
उषा-सदृश आ मिली जय को पार्थ को
× × ×
पर, केशव का कृपापूर्ण प्रणभंग हो
इस छोटे -से पद्म -पुष्पका अंत है । ×

-----"कुरुक्षेत्र" जैसा वीर रस एवं समस्या परक काव्य है ----

यह धरती फल-फूल अन्न धन-
रतन उगलने वाली
यह पालिका मृगव्य जीव की
अटवी सघन निराली । 2

× रामधारी सिंह दिनकर, "प्रणभंग तथा अन्य कविताएँ" राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली 1976 पृष्ठ 17 तथा 50.

2. कुरुक्षेत्र. पृष्ठ 96

तुंग श्रृंग ये शैल कि जिनमे
हीरक रत्न भरे हैं
ये समुद्र, जिनमें मुक्ता
विद्रुम प्रवाह भरे हैं । [1]

---- "रश्मिरथी" के समान उपेक्षितों की पहचान की तलाश [illegible] हो ---

आस-पास कुछ कटे हुए पीले धान खेत सुहाते है,
शशक, मूसक, गिलहरी, कबूतर घूम-घूम कण खाते हैं ।
कुछ प्रशान्त अलसित बैठे हैं कुछ करते शिशु का लेहन
कुछ खाते साकल्य दीखते बड़े तुष्ट सारे गोधन ।
× × ×
दिनमणि पश्चिम की ओर क्षितिज के ऊपर
थे घट उडेलते खड़े कनक के भू पर । [2]

----- "परशुराम की प्रतीक्षा" सा परिस्थित जन्य काव्य है। ---

विद्युत बनकर जो चमक रहा चिंतन में,
गुंजित जिसका निर्घोष लोक गर्जन में । [3]
× × ×
झंझा-झकोर पर चढ़ो मस्त झूलो रे ।
वृन्तों पर बन पावक प्रसून फूलो रे । [4]

---- अथवा फिर "उर्वशी कवि प्रकृति के निकट होने का अवसर निकाल

× रामधारी सिंह दिनकर, "कुरुक्षेत्र, राजपाल एण्ड सन्ज दिल्ली, 1975 पृष्ठ 96.

2. रामधारी सिंह दिनकर, "रश्मिरथी", श्री अजन्ता प्रेस लिमिटेड, नयाटोला पटना 1952, पृष्ठ 10 तथा 77

3-4. रामधारी सिंह, दिनकर, "परशुराम की प्रतीक्षा", उदयाचल, पटना, 1966 पृष्ठ 15 तथा 31 .

हो लेता है । कवि की इस वृत्ति के मूल में सिमरिया ग्राम तथा उसके प्रारम्भिक प्रकृति सानिध्य की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण है । इस सम्बन्ध में श्री राजेश्वर प्रसाद सिंह लिखते हैं कि :-

> " बचपन से ही पशु-पालन से अनुराग था । अपने हाथ से मवेशियों को घास-भूसा खिलाने, बैल का पत्ता डूँगने, खेत बथार में घूमने और खड़ी फसलों को निहारने का शौक उनको था ..... दिनकर जी बचपन में कभी-कभार शौक से किसान परिवार के बच्चों तथा चरवाहों के साथ उस चरागाह में भैंस चराने को निकल जाते थे । " ×

243-12 आर्थिक परिवेश :-

मानवीय बोध के दो पक्ष होते हैं --- आत्म बोध तथा अस्तित्व बोध । आत्म बोध प्रारम्भिक रूप में अचेतन स्थिति में रहता है जिसके कारण इसका आभास तो मिलता है किन्तु स्वरूप स्पष्ट नहीं होता । अचेतन के दोनों रूप व्यक्तिगत अचेतन तथा सामूहिक अचेतन व्यक्तित्व निर्माण की प्रक्रिया में व्यक्ति और परिवेश के मध्य अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहण करते हैं फिर भी इसप्रकार अदा की गई भूमिका का अधिकांश भाग पृष्ठभूमि में ही रहता है । व्यक्ति बोध के अस्तित्व पक्ष की आधार शिला के दोनों छोरों की अलग-अलग संज्ञाएं हैं एक का नाम है अर्थ तथा दूसरे का नाम पुनर्रचना ।

व्यापक अर्थों में वे समस्त उपादान जो जीवन को अर्थवत्ता प्रदान करते हैं, अर्थ की संज्ञा के अधिकारी है यद्यपि अर्थ तथा अर्थवत्ता जैसे शब्दों की खोज पूर्णत: मानवी मेधा संभूत है, इसलिए जीवन के आर्थिक परिवेश का

× राजेश्वर प्रसाद सिंह, रामधारी सिंह दिनकर: पालने से चिता तक राष्ट्रकवि दिनकर, सं. डा.गोपालराय तथा सकलदेव शर्मा, पृष्ठ 4.

का महत्व व्यक्तित्व अध्ययन में अत्यंत महत्वपूर्ण होता है ।

पितृसत्तात्मक समाज में आर्थिक सुरक्षा का दायित्व परिवार में मुख्यरूप से पिता का होता है । दिनकर जी के पिता श्री रवी सिंह का स्वर्गवास उस समय होगया था जब वे दो वर्ष के थे ।[×] आर्थिक दृष्टिकोण से बाबू रविसिंह के परिवार को मन्मथनाथ गुप्त यदि " अत्यंत साधरण स्थिति "[2] का किसान परिवार मानते हैं तो राजेश्वर प्रसाद सिंह उसे " निम्नमध्यवर्गीय भूमिहर"[3] किसान परिवार को संज्ञा देते हैं --- इन दोनों ही स्थितयों में, न तो अत्यंत साधरण स्थिति से क्या तात्पर्य है यह स्पष्ट होता है और न ही निम्न मध्यवर्गीय भूमिहर किसान कहकर आर्थिक स्थिति का सही अनुमान होता है । यह दोनो ही शब्द सापेक्ष्य शब्द हैं इसलिए कुछ अधिक विस्तार में जाने की आवश्यक्ता है ।

दियारे में स्थित दस बीघा भूमि लगातार गंगा के कटाव को झेलती रहती थी, इसके साथ ही साल दर साल पड़नेवाले अकाल उस जमींदारी युग में किसानों को पनपने का अवसर प्रदान ही न करते थे । परिवार की आर्थिक स्थिति का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि " उस " परिवार में कमानेवाला कोई नहीं था जिस कारण उन्हें बहुत अधिक

× – 3. राजेश्वर प्रसाद सिंह, " रामधारी सिंह पालने से चिता तक", राष्ट्रकवि दिनकर सं. डॉ. गोपाल राय तथा डॉ. सत्यदेव शर्मा, पृ.4 तथा ।

दृष्टव्य : मन्मथनाथ गुप्त, रामधारी सिंह दिनकर पृ. 13.

2. मन्मथनाथ गुप्त, रामधारी सिंह दिनकर. पृ 13.

आर्थिक कठिनाई झेलनी पड़ रही थी ।[×] " विधवा माँ की देख-रेख में कुछ दिनों तक परिवार की गाड़ी किसी प्रकार चलती रही । खेत बटाई पर उठे रहे किन्तु सन् 1920 - 21 में रामधारी सिंह की शादी हो जाने पर आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिए बड़े भाई बाबू वसन्त सिंह ने, जो उन दिनों मैट्रिक के छात्र थे, यह कहते हुए पढ़ाई छोड़ दी कि " पढ़नेवाले तो रामधारी हैं ही । सब पढ़ेंगे तो कमाएगा कौन ?" दो जोड़े बैल और हल खरीदे गए, और वसन्त बाबू खेती गृहस्थी में लग गए ।[2]

इस प्रकार आर्थिक संघर्षों से जूझते हुए उन्होंने बी.ए. पास कर लिया किन्तु तब तक " घर की सारी पूँजी उनकी शिक्षा पर समाप्त हो चुकी थी और समस्त परिवार के समक्ष एक विराट आर्थिक संकट था ।[3] ऐसी स्थिति में उन्हें परिवार चलाने के लिए आगे की पढ़ाई बन्द करनी पड़ी और किसी अच्छी नौकरी की खोज में काफी भटकना पड़ा ।[4] दिनकर जी

× राजेश्वर प्रसाद सिंह, " रामधारी सिंह पालने से चिता तक", राष्ट्रकवि दिनकर, सं. डॉ. गोपाल राय तथा डॉ. सकलदेव शर्मा, पृ. 4.

2. वही पृ. 5

3. डॉ. टीकाराम शर्मा तथा डॉ. सुशीला शर्मा, उर्वशी संवेदना और शिल्प, पृष्ठ 10.

4. राजेश्वर प्रसाद सिंह, " रामधारी सिंह पालने से चिता तक" राष्ट्रकवि दिनकर, सं. डॉ. गोपालराय तथा डॉ. सकलदेव शर्मा, पृ. 11.

को बेकारी के कई मास बिताने पड़े और इन दिनों परिवार की हालत बहुत खराब हो गई ।[×] नौकरी के क्षेत्र में भी उनको अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा । यद्यपि उन दिनों भूमिहारों का सरकारी क्षेत्र में काफी प्रभाव था, तेजस्वी भूमिहर युवकों के सामने रुकावटें अपेक्षाकृत कम थीं लेकिन दिनकर के सामने कठिनाई यह थी कि वे कृषक परिवार के थे । जाति के धनी-मानी व्यक्तियों में उन्हें कोई नहीं जानता था, दो -एक से वह मिले भी लेकिन उनके व्यवहार और वर्ताव से उन्हें निराशा ही हुई । यह वर्ग केवल जमींदार भूमिहरों को ही सहायता करता था और दिनकर के पास जमींदारी नाम को भी नहीं थी । विवश हो कर उन्हें एक हाईस्कूल में हेडमास्टरी का पद स्वीकार करलेना पड़ा ।[2]

प्रारम्भिक दिनों की आर्थिक संघर्षों की तीव्रता के सम्बन्ध में वे स्वयं कहते हैं कि :-

" मैं न तो सुख में जन्मा था, न सुख में पल कर बड़ा हूँ । "[3]

दिनकर का समस्त जीवन ही आर्थिक संघर्षों की कथा है । एक बार अर्थोपार्जन में लगने के पश्चात् उन्हें जीवन भर उससे मुक्त होने

×. डॉ. टीकाराम शर्मा तथा डॉ. सुशीला शर्मा, उर्वशी संवेदना और शिल्प, पृ. 10.

2. डॉ. सावित्री सिन्हा, युग चारण दिनकर, पृ. 9.
देखिए - मन्मथनाथ गुप्त, रामधारी सिंह दिनकर पृ. 14.
तथा डॉ. राजेश्वर प्रसादसिंह, "रामधारी सिंह पालने से चिता तक" राष्ट्रकवि दिनकर, सं. डॉ. गोपाल राय तथा डॉ. सकलदेव शर्मा, पृ. 11.

3. दिनकर, सं. डॉ. सावित्री सिन्हा, पृ.24.

का अवकाश हो न मिल सका । " पूरे परिवार को गाड़ी का जुआ जो उन्होंने एक बार अपने कन्धे पर रखा उसे आजीवन फिर कभी नहीं उतारा"× कारण उन्हें परिवार के सदस्यों का भरण- पोषण करने के साथ ही उसमें जन्मी दो पुत्रियों, छः भतीजियों तथा दो पौत्रियों के विवाह का भार भी वहन करना पड़ा जिसके कारण उन्हें धनाभाव को झेलना पड़ा और अपमान दोनों को खूब सहना पड़ा उन्हीं के शब्दों में :-

> " धनाभाव को पीड़ा, दफ्तरों से मिलनेवाला प्रच्छन्न अपमान, बेटियों के विवाह की चिन्ताएँ और पारिवारिक कष्ट मैंने बहुत सहे हैं । [2]

आर्थिक स्थिति को लेकर कहा जा सकता है कि दिनकर उत्तरोत्तर आगे बढ़ते गए और उन्होंने कभी पीछे मुड़कर नहीं देखा क्योंकि जिस प्रधानाध्यापक पद को उन्होंने सन् 1933 में स्वीकार किया था परिस्थितिवश उससे शीघ्र ही मुक्त होकर उन्हें 1934 में ही बिहार सरकार के आधीन सब रजिस्ट्रार का पद स्वीकार करना पड़ा जिस पर वे सन् 1943 तक रहे किन्तु इस काल में भी उन्हें आर्थिक चिन्ताओं ने बराबर ग्रस्त रखा। सन् 1938 में " हुंकार" के प्रकाशन के समय जब सरकार ने मुंगेर के जिला मजिस्ट्रेट राय बहादुर विष्णुदेव नारायण सिंह से उन्हें चेतावनी दिलाई तो उन्होंने कहा :-

---

×. राजेश्वर प्रसाद सिंह, "रामधारी सिंह पालने से चिता तक", राष्ट्रकवि दिनकर सं. डॉ. गोपाल राय तथा डॉ. सत्यदेव शर्मा पृ. 12.

2. दिनकर, सं. डॉ. सावित्री सिन्हा, पृ 25.

" मेरे सिर पर गरीब परिवार का बोझ है मैं नौकरी छोडने को स्थिति में नहीं हूँ । " ×

वस्तुत: ये दिन उनके लिए बहुत ही कष्टकर दिन थे उनका साहित्य सृजन उन्हें सरकारी तंत्र के अनुकूल न होने देता था और सरकारी तंत्र उन्हें न तो उन्हें अपनी ओर से सेवामुक्त ही कर रहा था और न ही उन्हें चैन से जीने दे रहा था । इन तनावों को अपने संस्मरणों में स्थान देते हुए उन्होंने लिखा है कि :-

" घबराहट में आकर कईबार मैंने सोचा कि नौकरी छोड़ दूँ । किन्तु तीन बातें थीं जिनके कारण मैं नौकरी नहीं छोड़ सका । पहली तो यह कि नौकरी छूट गई तो परिवार खायगा क्या ?"[2]

" कलम से बड़ा मुखबिर नहीं "।[3] इस तथ्य को स्वीकार करते हुए हम दिनकर के सम्बन्ध में उनके आर्थिक परिवेश को उजागर करनेवाले कतिपय उद्धरण और प्रस्तुत करेंगे । दिनकर की आर्थिक चिन्ताएँ उनकी पद और वैभव के साथ समाप्त होने के स्थान पर बढ़तीं ही गईं । इस का एक संकेत हमें श्री गोपालकृष्ण कौल द्वारा लिये गए साक्षात्कार में मिलता है -----

" नौकरी में जब मेरा वेतन पाँच सौ रुपए होगया तब भी अपने- आप को मैं वैसा ही निर्धन या धनी समझता रहा

×. मन्मथनाथ गुप्त, रामधारी सिंह दिनकर, पृ. 17.

2. राजेश्वर प्रसाद सिंह," रामधारी सिंह पालने से चिता तक", राष्ट्रकवि दिनकर, सं. डॉ. गोपाल राय तथा डॉ. सत्यदेव शर्मा, पृ. 15. तथा रामधारी सिंह दिनकर, " वट पीपल", उदयाचल,पटना,1961,पृ.3-4.

3. डॉ. हरिवंश राय"बच्चन", नीड़ का निर्माण फिर, राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली, 1973, पृ. 99.

जितना धनी मैं उस समय था जब मैं स्कूल का शिक्षक था और मेरा वेतन केवल पचास - पचपन रुपए था । " ×

वे वस्तुत: अपने आपको निर्धन ही समझते रहे इसके प्रमाण में यहाँ प्रस्तुत है श्री यशपाल जैन का एक संस्मरण ----

" सरकार की हिन्दी विरोधी नीति से क्षुब्ध होकर कुछ व्यक्तियों ने अपनी " पद्म श्री ","पद्म भूषण " आदि उपाधियाँ लौटा दीं उनकी सूची पत्रों में प्रकाशित हुई । उस सूची में दिनकर जी का नाम न देख कर मैंने उन्हें फोन किया । वह उन दिनों भारत सरकार के हिन्दी परामर्शदाता के पद पर काम कर रहे थे । मैंने कहा " " दिनकर जी कितने लोग बाजी मार ले गए, आप कैसे पिछड़ गए ? " दिनकर जी ने उत्तर दिया ------ " यशपाल जी अपनी उपाधि को छोड़ने के बाद मुझे अपनी दो हजार की नौकरी भी छोड़ देना होगा । है कोई ऐसा जो मुझे इतना पैसा और कोठी आदि की सुविधा दे दे । मेरे घर का बोझ उठा ले । " 2

अपने निष्कर्ष में श्री जैन लिखते हैं कि --- " वह गरीब घर में जन्में थे और बड़े से बड़े पद पर पहुँच कर भी आर्थिक बोझ से दबे रहे ।"3

× दिनकर, सं. डॉ. सावित्री सिन्हा, पृ. 25.

2. यशपाल जैन, -"नमस्कार उस बन्धु को, जिसने विष पिया अमृत दिया" दिनकर व्यक्तित्व और कृतित्व, सं. जगदीश चतुर्वेदी, पृ. 118.

3. वही, पृ. 117-8.

एक अन्य उदाहरण डॉ. राज बुद्धि रजा द्वारा प्रस्तुत संस्मरण " यात्री एक मेले का " से देना चाहूँगा ---

" वे प्राय: कहा करते थे " यदि भगवान मेरी भक्ति से प्रसन्न होकर मुझ से कहे कि " दिनकर वर माँग " तो -- मैं कहूँगा मुझे इतना रुपया दे दो जिससे मैं अपनी दोनों बेटियों की शादी कर सकूँ । " ×

उर्वशी पर भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार की घोषणा हो चुकी थी किन्तु वह अभी उन्हें मिला न था । पुरस्कार को लेकर उनका आर्थिक चिन्ताग्रस्त मन आयकर आदि के हिसाब में उलझा हुआ था । इससे वस्तुत: उनकी आर्थिक चिन्ता ही उजागर होती है । इस सम्बन्ध में श्री नरेशचंद चतुर्वेदी से कानपुर में हुई बात-चीत का एक अंश उद्धृत किया जा सकता है जिसे उन्होंने " राष्ट्रकवि दिनकर " शीर्षक संस्मरण के रूप में लिपिबद्ध भी किया है -----

" मुझे यह पुरस्कार पहले ही मिलना चाहिए था । ----- चलो ठीक है देर आयद दुरुस्त आयद । परन्तु एक परेशानी अब यह है कि पुरस्कार की राशि पर इनकम टैक्स भी कटेगा। टैक्स कटने पर तो रकम आधी से कुछ ही ज्यादा बचेगी । यद्यपि मैं दिल्ली जाकर इस सम्बन्ध में सरकारी स्तर पर बात करूँगा । टैक्स न लगा तो ठीक है । नहीं तो जो बचेगा सो सही । इस समय पौत्री के विवाह में एक मुश्त रकम आ जाना मेरे लिए अच्छा हो गया है । " 2

अन्त में हम आर्थिक समस्या को लेकर उनकी मृत्यु से दो माह

× यशपाल जैन, " नमस्कार उस बन्धु को, जिसने विष पिया अमृत दिया" , दिनकर व्यक्तित्व और कृतित्व, सं. जगदीश चतुर्वेदी, पृ. 124.

2. नरेशचंद चतुर्वेदी, " राष्ट्रकवि दिनकर, " दिनकर व्यक्तित्व एवं कृतित्व, सं. जगदीश चतुर्वेदी, पृ. 134.

पूर्व हुई उस चर्चा का उल्लेख करेंगे जो डा. सत्येन्द्र तथा क्लानाथ शास्त्री से 27.2.1974 को हुई तथा जिसे क्लानाथ शास्त्री ने अपने संस्मरणों के रूप में संकलित किया है ----

> " डॉ. सत्येन्द्र कुशल पूछी तो बोले -- आजकल बहुत खिन्न हूँ । परिवार में लोग आपस में लड़ रहें हैं । उस सम्पत्ति के लिए जो इस शरीर से जन्मी । अब उन्हें कैसे समझाऊँ ? युग नहीं देख रहे हैं ? आत्मीयों को आज यह स्थिति है कि नौकरी करके जिन्हें मैंने आजन्म पाला उन्हें बिना नौकरी के मैं दो महिने भी सहन नहीं हुआ । आजकल अपनी छोटी-छोटी कृतियाँ संकलित कर छपवा रहा हूँ । " [×]

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर हम कह सकते हैं कि उर्वशीकार का आर्थिक परिवेश प्रारम्भसे अन्त तक अभावपूर्ण हो रहा और इस आर्थिक अभाव ने ही उनकी पारिवारिक शान्ति को भी नष्ट कर दिया था ; यद्यपि उसका वे कभी ठीक से अनुभव कर सके इसमें सन्देह है । ऊपर से सम्पन्न और सन्तुष्ट दिखाई पड़नेवाला व्यक्ति अन्दर से बिल्कुल ही खाली तथा असन्तुष्ट था ।

राजनैतिक परिवेश :-

राजनीति अपने आप में एक महान विरोधाभास है । राज शब्द का धात्वर्थ होता है चमकना, सुन्दर दीख पड़ना, तथा शब्दार्थ होता है राजा, नरेन्द्र, नरपति [2] और नीति का अर्थ है -- मार्गदर्शन करना, ले जाना, पहुँचाना, शासन करना । [3] स्वभावत: सारा समाज

× क्लानाथ शास्त्री, " दिनकर से तीन मुलाकातें अविस्मरणीय बातें ", दिनकर व्यक्तित्व और कृतित्व, सं. चगदीशप्रसाद चतुर्वेदी, पृ. 148.

2. संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ, पृ. 973.
3. वही, पृ. 627.

में प्रत्येक व्यक्ति को उन्नति का अधिकार है । चमकना या नरपति जैसा प्रत्येक अर्थ व्यक्ति पर व्यक्ति को सत्ता या अधिकार को घोषणा है जो स्वाभाविकरूप से व्यक्ति स्वतंत्रता को विरोधो है । विरोधो इसलिए क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति दूसरे पर अधिकार को आकांक्षा से भरा हुआ है जिसके मूल में उसको अपनो पहचान को तलाश होतो है । इस तलाश को दूसरों के संदर्भों में खोजने का अभ्यासो मन गतिक सिद्धान्त को स्थापित करने के लिए उसे नोति को संज्ञा से भो मंडित करना चाहता है । एक ओर विकास तथा अस्तित्व बोध को स्वाभाविक प्रक्रिया तथा दूसरो ओर दूसरों को अपने आधोन करने को अहमन्यतापूर्ण अस्वाभाविकता मूलत: विरोधो वस्तुएँ हैं । किन्तु कालान्तर में विकास को इस समूचो प्रक्रिया का स्वो-कार राजनोति में फलित हुआ । यह अस्तित्व के अर्थ पक्ष का सत्तापूर्ण नियोजन है ।

दिनकर के मन मे भो कुछ इसो प्रकार को प्राक्कल्पना स्पष्ट परिलक्षित होतो है । उनके राजनोतिक परिवेश को स्पष्ट करने से पूर्व उनके एतत् सम्बन्धो विचारों को प्रस्तुत करना अधिक समोचोन होगा । राजनोति को कृत्रिमता पर विचार करते हुए वे लिखते हैं -----

" राजा-प्रजा नहीं कुछ होता
होते मात्र मनुज हो । ×

राजा और प्रजा को सृष्टि मनुष्य को भ्रमपूर्ण रचना है + ---

कौन यहाँ राजा किसका है ?
किसको कौन प्रजा है ?
नर ने हाकर भ्रमित स्वयं हो
यह बन्धन सिरजा है । 2

× रामधारो सिंह दिनकर, " कुरुक्षेत्र ", सप्तम सर्ग, पृ. 100.

2. वहो, पृ. 101 .

दिनकर को कल्पना है कि एक समय ऐसा भी था जब जल एवं वायु के समान ही भूमि भी सभी को मुक्त रूप से सुलभ थी । उस समय किसी में संग्रह वृत्ति न थी ----

चिन्ता न थी किसी को कुछ
निजहित संचय करने की।
चुरा ग्रास मानव-समाज का
अपना घर भरने की । [×]

उस समय समाज जिस नियम से आगे बढ़ता था उसे उन्होंने धर्म-नीति कहा है । शासन दूसरों पर होता है । दूसरों पर एक को विशिष्टता की कामना शासन - भावना को जन्म देती है किन्तु जब तक यह विशिष्टता का बोध न हो तब तक सब-कुछ एक सहज प्रक्रिया से चलता रहता है । उसकाल का मनुष्य अपनी विशिष्टता स्थापन की प्रक्रिया से दूर था ऐसी दिनकर की मान्यता है ----

" जो भर करते काम, जरूरत भर
सब जन थे खाते,
नहीं कभी निज को औरोंसे
थे विशिष्ट बतलाते । [2]

किन्तु यह स्थिति अधिक समय तक न रह सकी क्योंकि अकाल के कारण होने वाली मृत्यु की विभीषिका को देखकर मनुष्य का मन डोल उठा और इसी आन्दोलित मन से उसमें लोभ का उदय हुआ जिसके कारण वह दूसरों का भाग भी अपने लिए संचित करने लगा इस प्रवृत्ति को ही आत्मरक्षा का नाम दिया गया । आत्म रक्षा की इस प्रवृत्ति में ने स्वाभाविक नियमों को छिन्न-भिन्न कर डाला जिसके कारण ----

तब आयी तलवार शमित
करने को जगद्दहन को

× रामधारी सिंह दिनकर, कुरुक्षेत्र, सप्तम सर्ग, पृ. 101.

2. वही, पृ. 101.

सीमा में बाँधने मनुज को
नयी लोभ नागिन को । [×]

शक्ति के बल पर राजतंत्र की स्थापना हुयी जो मनुष्य के विकास या उन्नति का प्रतीक न होकर उसके चरम पतन का उद्घोष है :---

राजतंत्र द्योतक है नर की
मलिन, निहीन प्रकृति का,
मानवता की ग्लानि और
कुत्सित कलंक संस्कृति का । [2]

× × ×

इससे बढ़कर मनुज वंश का
और पतन क्या होगा ?
मानवीय गौरव का बोलो
और हवन क्या होगा ? [3]

तात्पर्य यह कि अकाल से मृत्यु, मृत्यु से भय, और भय से आत्म-रक्षार्थ जुटाए जानेवाले साधनों के संचय की अनियमितता ही कालान्तर में राजतंत्र की जन्मदात्री सिद्ध हुयी । आत्मरक्षा के नाम पर मनुष्य का लोभ कहीं रुकना नहीं जानता । इसकी अबाध गति ही युद्ध का कारण बनती है [4]

× रामधारी सिंह दिनकर, "कुरुक्षेत्र," सप्तमसर्ग, पृ. 103.

2. वही. पृ. 106.

3. वही, पृ. 105.

4. " धन ही परिणाम है युद्ध का अंतिम "
× × × × ×
" धन-लोभ उभारता था मुझको
वह केवल क्रोध का घात न था ;"
× × × × ×
निज लोलुपता को सदा नर चाहता
दर्प को ज्योति के बीच छिपाना
लड़ता वह लोभसे, किन्तु, किया
करता प्रतिशोध का झूठा बहाना । " कुरुक्षेत्र, पंचमसर्ग, पृ. 76-77.

इसे सिद्ध होता है कि आर्थिक साधनों की न्यूनता संघर्ष को जन्म देती है जिसके नियंत्रण के लिए राजनीति का अभ्युदय होता है फिर कालान्तर में अर्थ परिचालित इस राजनीति का प्रतिफलन युद्ध में होता है । निष्कर्ष यह कि आर्थिक परिवेश राजनैतिक परिवेश के जन्म का कारण होता है तथा राजनैतिक परिवेश आर्थिक परिवेश का नियामक । दोनों ही एक दूसरे को लगातार प्रभावित किया करते हैं ।

व्यक्तित्व के विकास में व्यक्ति की व्यक्तिगत एवं सामाजिक दोनों ही परिस्थितियों का प्रमुख हाथ रहता है । दिनकर की आर्थिक स्थिति अत्यंत विषम थी । इसके साथ ही तत्कालीन राजनैतिक संघर्ष भी आर्थिक कारणों से परिचालित था । उस समय के आर्थिक रूप से समाज के पिछड़ेपन के लिए एक स्वर से ब्रिटिश साम्राज्यवाद को दोषी ठहराया जा सकता है । राष्ट्रीय नेताओं के समक्ष आर्थिक समृद्धि के लिए राजनैतिक स्वतन्त्रता की महत्ता अत्यन्त स्पष्ट थी । वस्तुत: हमारे राजनैतिक संघर्ष के मूल में जो सबसे अधिक महत्वपूर्ण लक्ष्य था वह था आर्थिक स्वतन्त्रता या आर्थिक रूप से समृद्धिशाली होना । सामूहिक हितों को दृष्टि में रखते हुए संघर्ष करने की भावना ही कालान्तर में राष्ट्रीयता में प्रतिफलित होती है । युवा उर्वशीकार के के आर्थिक संघर्षों की व्यक्तिगत भूमि उसे निरन्तर विद्रोह की प्रेरणा दे रही थी ; और देती भी क्यों न बिहार की धरती की सबसे बड़ी विशेषता विद्रोह ही तो है, विद्रोह वहाँ की माटी की पहचान है जिसमें वे पूर्णतया बद्धमूल थे ; जिसके परिणाम स्वरूप वह अत्यंत स्वाभाविक रूप से राष्ट्रीय आन्दोलन से सम्बद्ध होगया ----

> " मेरा पूरा बचपन राष्ट्रीय आन्दोलन के वातावरण में गुजरा था । बाद को भी यह संस्कार बढ़ता ही गया । " ×

माटी की बद्धमूलता तथा उसके नीचे कुलबुलाते अस्तित्व की आर्थिक पक्षधरता उन्हें सामाजिकता एवं राष्ट्रीयता के निकट अवश्य ले

× दिनकर, सं. डॉ. श्री सावित्री सिन्हा, पृ. 25.

आई थी किन्तु उसका दूसरा पक्ष ; यानी पुनर्रचनाधर्मिता एवं उसके चतुर्दिक व्याप्त सौन्दर्य बोध की कोमलता ; कहीं गहरे में मानवीय बोध के आत्म पक्ष से अनुप्राणित था । संस्कार स्वाभाविक प्रतीत होते हैं किन्तु परिग्रह के क्षणों में उनकी वाह्य एकान्तिकता असंदिग्ध होती है । इस-लिए राष्ट्रीयता का संस्कार उर्वशीकार के मानस में पूर्ण ग्राह्य न बन सका---

> " संस्कारों से मैं कला के सामाजिक पक्ष का प्रेमी अवश्य बन गया था किन्तु मेरा मन तब भी चाहता था कि गर्जन-तर्जन से दूर रहूँ और केवल ऐसी ही कविताएँ लिखूँ जिनमें कोमलता और कल्पना का उभार हो । यही कारण था कि जिन दिनों " हुंकार " की कविताएँ लिखी जा रहीं थीं उन्हीं दिनों मैं "रसवंती" और "द्वन्द्व गीत" की भी रचना कर रहा था और अजब संयोग की बात थी कि सन् 1939 - 40 ई. में ही तीनों पुस्तकें एक वर्ष के भीतर-भीतर प्रकाशित हुयीं और सुयश तो मुझे"हुंकार" से ही मिला किन्तु आत्मा मेरी " रसवन्ती " में ही बसती है । " ×

एक अन्य स्थल पर वे लिखते हैं कि -----

> " नन्हीं - कोमल मृदुल मधुर गीत लिखने की तड़प जवानी में मुझे भी थी, लेकिन काल ने मेरे हाथ में जो शंख थमा दिया था, उसे नीचे रख कर वीणा बजाने का अवकाश मुझे बहुत कम मिला । सारी आयु कट गई रण के लिए आग सुलगाने में ।" 2

कोमलता की आकांक्षा लिए शब्दों के अंगारे धधकाते रहने की विवशता के मध्य उनके जीवन का राजनैतिक परिवेश स्थित है । अन्त: एवं वाह्य विरोधाभासों की राजनीति उनके व्यक्तित्व का सृजन करती

× रामधारी सिंह दिनकर, " चक्रवाल" की भूमिका, पृष्ठ 33.

2. रामधारी सिंह दिनकर, "दिनकर के गीत", पंजाबी पुस्तक भण्डार, दरीबां कला, दिल्ली, 1973, " दो शब्द " पृ. 5.

रहो । उनके जोवन में पेट और विद्रोह को दोनो अग्नियाँ एक साथ प्रज्ज्वलित थों । एक उनसे लगातार सरकारो नौकरो करवातो रहो और दूसरो उनसे राष्ट्रोय कविताओं का सृजन । किन्तु इन दोनों के मध्य यदि कुछ अनुपस्थित रहा तो वह था उर्वशीकार का केन्द्रोयव्यक्तित्व । प्रत्येक रचना में रचनाकार का हो व्यक्तित्व होता है यह तथ्य है किन्तु यह व्यक्ति को परिवेशोय उपस्थिति होतो है जब कि मूल या केन्द्रोय सत्ता परिवेश का दमन हो सहन करतो रहो है । दमन व्यक्तित्व को केन्द्रोय ऊर्जा के मूल रूप को परिधि पर आने से रोक सकता है, रोकता है किन्तु उसको स्फोट - ध्वनियाँ अन्य स्थलों पर साफ़ सुनो जा सकतों हैं । यही कारण है कि " हुँकार " जैसो राष्ट्रोय रचनाओं से सुयश प्राप्त कर " कुरुक्षेत्र", " रश्मि-रथो ","परशुराम को प्रतोक्षा" जैसो गर्जन-तर्जन भरो रचनाओं का प्रणेता उन्हें अपनो सर्वोत्कृष्ट रचना नहों मानता । " उर्वशो" को चर्चा बहुत रहो उसे आलोचकों ने बहुविधि सराहा किन्तु उर्वशोकार उसे सर्वोत्कृष्ट काव्य नहों स्वोकार करता । सर्वोत्कृष्ट काव्य रचना वह मानता है " हारे को हरिनाम " को । ×

सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवेश :-

" जिस समाज में उन्होंने होश सम्हाला वह समाज साधरण किसानों और खेतिहर मजदूरों का समाज था । तब का वह समाज घोर अशिक्षा तथा अन्धविश्वासों के दौर से गुजर रहा था, जहाँ एकाध कायस्थ परिवार और दो-चार पुरोहित परिवारों को छोड़कर इक्के-दुक्के लोग हो साक्षर थे । ------- आज भो जितनो अन्धविश्वासपूर्ण कहानियाँ सिमरिया में सुनने को मिलतों हैं उतनो बहुत कम जगहों में मिलतों होंगो । इसो परिवेश में दिनकर जो ने जोवन के

× दिनकर व्यक्तित्व एवं कृतित्व सं. जगदोश चतुर्वेदो, पृ. 148.

मूल्य स्थिर किए थे। "[×]

किन्तु इसके बावजूद दिनकर जी के पिता बाबू रवीसिंह जहाँ साधरण हैसियत के ठेठ किसान थे वहीं साक्षर थे और थोड़ा-बहुत पढ़ना-लिखना जानते थे। रामचरित मानस का पाठ करना उनकी नित्य की दिनचर्या थी। इस वैयक्तिक दिनचर्या के अतिरिक्त गाँव का वातावरण पूर्णत: आस्थामय एवं सांस्कृतिक था जिसका प्रभाव बालक दिनकर पर सीधा और गहरा पड़ा था। गाँव के सांस्कृतिक वातावरण की चर्चा करते हुए श्री राजेश्वर प्रसाद सिंह लिखते हैं कि ----

> " वह भी एक जमाना था जब सिमरिया गाँव के घर-घर में नित्य " रामचरित मानस " का पाठ होता था। कई घरों में तो मानस की हस्तलिखित प्रतियाँ (जो सम्भवत: गाँव के पुरोहितों द्वारा लिखी गई होंगी) भी मौजूद थीं। शाम ढलते ही कई लोग ढोलक झाल बजा-बजा कर रामायण की चौपाइयाँ गाते थे। और स्वयं दिनकर जी भी, जब वे गाँव की पाठशाला के छात्र थे, प्राय: हर रोज रात्रि में डेढ - दो घंटे तक रामायण का पाठ करते थे। उनके एक चचेरे भाई चौपाइयों का अर्थ लगाते थे और पास-पड़ोस के दो-चार संगी-साथी दिनकर जी का रामायण पाठ सुनने के लिए आते थे। दिनकर जी जब हाईस्कूल के विद्यार्थी थे, तब तो वे संस्कृत में गीता- महाभारत का पाठ भी धड़ा-धड़ करने लग गए थे।"[2]
>
> इसप्रकार 1923 में जब वे 15 वर्ष के थे उन्होंने मिडिल की परीक्षा पास की। हिन्दी में सर्वाधिक अंक प्राप्त करने के कारण उन्हें " रामचरित मानस " और सूर सागर ग्रन्थ इनाम में मिले थे।

× राजेश्वर प्रसाद सिंह, " रामधारी सिंह दिनकर पालने से चिता तक", राष्ट्रकवि दिनकर, सं. डॉ. गोपाल राय तथा डॉ. सत्यदेव शर्मा, पृ. 3.

2. वही, पृ. 3.

इस सब का प्रभाव अगले जीवन पर अत्यंत स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है । एक ओर तो उनका रूझान इतिहास के अध्ययन की ओर बढ़ चला × तथा दूसरी ओर उनमें अक्खड़ देहाती संस्कार भी प्रबल होते चले गए । इस सम्बन्ध में मन्मथनाथ गुप्त का कथन उल्लेखनीय है -----

" शादी - व्याह और यज्ञ प्रयोजन में वे देहाती परम्परा के कायल थे और इन मौकों पर क्रान्तिकारी कदम उठाना उनके लिए बिल्कुल दुश्वार था । परिवार और गृहस्थी के लिए उनमें अत्यंत मोह था, जिसे ग्रामीण किसान का गुण ही कहा जा सकता है । " [2]

2.4.3.1.4.1 पूजा-पाठ और भूत-प्रेतों में विश्वास :-

" उनका विश्वास केवल तीर्थ-व्रत और पूजा-पाठ में ही नहीं बल्कि भूत-प्रेत, ओझा-गुणी और साधू-सन्त में भी था । जवानी के दिनों में उन्होंने बहुत से साधुओं का कम्बल ढोया था और ऐसे कई व्यक्तियों की संगति की थी जो योगी और चमत्कारी समझे जाते थे । " [3] इसी धारा का अगला विकास उन्हें आध्यात्मिकता के पथ पर अग्रसर करता रहा जिसके परिणामस्वरूप उन्होंने

× आगेचल कर इस रूझान ने उनके समस्त कृतित्व को प्रभावित किया प्रमाणस्वरूप उनके काव्यों के शीर्षक देखे जा सकते हैं --यथा "प्रणभंग", "कुरूक्षेत्र", "रोशमरथी", उर्वशी", और"परशुराम की प्रतीक्षा" । इसके अतिरिक्त उनकी अनेक कविताएँ भी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि मे ही आधुनिकता की कथा कहती हैं । ----- लेखक ।

2. मन्मथनाथ गुप्त, रामधारी सिंह दिनकर, पृ. 6-7.

3. वही, पृ. 7.

अपने युग को अनेक जाग्रत आध्यात्मिक विभूतियों का सानिध्य प्राप्त किया था जिसमें उनकी आस्था का क्रम था --- पहले महाऋषि रमण, फिर महात्मा अरविन्द और उसके बाद स्वामी मुक्तानन्द । × वे घोर आस्तिक तो थे लेकिन धर्म-भीरू कदापि नहीं थे । [2]

शिक्षा एवं साहित्य सृजन :-
2.4.3.1.4.2.

अत्यंत प्रतिकूल परिस्थितियों में दिनकर ने अपनी सरस्वती साधना को बरकरार रखा [3] तथा 1928 में मोकामा घाट से मैट्रिक पास किया । पूरे सूबे में हिन्दी में सर्वाधिक अंक प्राप्त करने के कारण उनको " भूदेव स्वर्ण पदक " दिया गया था । अध्ययन की अगली कड़ी के रूप में सन् 1932 में पटना कॉलेज से इतिहास में बी.ए. ऑनर्स की परीक्षा पास की । [4] विद्यालयी शिक्षा के अतिरिक्त वे दस-बारह साल की आयु से ही जबलपुर से प्रकाशित " छात्र-सहोदर" के पाठक हो चले थे । स्वाध्याय का यह क्रम जो एक बार प्रारम्भ हुआ तो अन्त तक चलता रहा उन्हीं के शब्दों में ---

> " छात्र-सहोदर " में राष्ट्रीय कविताएँ छपा करतीं थीं और मैं उन्हें बड़े चाव से पढ़ता था । ----- स्वर्गीय पं रामनरेश त्रिपाठी का " पथिक" भी मुझे बहुत याद था । " भारत-भारती " मैंने उसके बाद पढ़ी और उसका भी मुझ पर प्रभाव पड़ा । ----- छायावादी युग में भी मेरे परमप्रिय कवि हो थे जो राष्ट्रीय कविताएँ लिखा करते थे, जैसे सुभद्राकुमारी

× देखिए दिनकर "व्यक्तित्व एवं कृतित्व, सं. जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी, पृ. 62 तथा 149.

2. देखिए - राष्ट्रकवि दिनकर, सं. डॉ. गोपाल राय तथा डॉ. सकलदेव शर्मा, पृ. 16.

3. वही, पृ. 6.

4. वही, पृ. 7.

चौहान, बालकृष्ण शर्मा "नवीन", माखनलाला चतुर्वेदी, रामनरेश त्रिपाठी और गया प्रसाद शुक्ल "सनेही" । ×

एक अन्य स्थल पर वे लिखते हैं ----

" कालिदास और भवभूति को मैंने कईबार पढ़ा । उन दिनों बंगला में रवीन्द्रनाथ की चयनिका और संचयिता, काजी नजरुल इस्लाम की संचिता और सत्येन्द्र नाथ दत्त का काव्य संचयन, ये ग्रन्थ बराबर मेरे साथ रहते थे । सबरजिस्ट्रारी के दिनों में एक अच्छा काम मैंने यह किया कि मौलवी रख कर सर इकबाल की " बागेदरां, बाले जिब्राइल, और जरबे कलीम, ये तीन पुस्तकें नोट लेकर मैंने बड़े ध्यान से पढ़ डालीं । किन्तु सन् 1943 ई. में जब सरकार ने तबादला करके मुझे पटना भेज दिया, मैं धीरे-धीरे विश्व-साहित्य की धारा से परिचित होने लगा ।

पटना आने पर यूरोपीय भाषाओं के उपन्यास और कहानियाँ मैंने इस उत्साह से पढ़ीं मानो जनम का भूखा आहार पा गया हो । इस दौर मैंने कविताएँ और दर्शन भी चाव से पढ़ा । इस समय सबसे बड़ा प्रभाव मुझपर इलियट, नीत्से और बरट्रेण्ड रसेल का पड़ा । परम्पराधर्म से प्राप्त अनेक आस्थाओं को मैं हृदय से लगाए हुए था, नीत्से और रसेल ने उनके बारे में मुझे शंकालु बना दिया ।

अब मेरी चेतना की दशा विचित्र हो गई । जन्म और संस्कार से मैं ग्रामीण था । शिक्षा- दीक्षा से मैं तुलसी, कबीर, रवीन्द्र, इकबाल, कालिदास, भवभूति, शेली और कीट्स का भक्त था । ----- इलियट, बादलेयर, रेम्बू, मेलार्मे, नीत्से और रिल्के का इतना प्रभाव अवश्य पड़ा कि मेरे ऑर्केस्ट्रा का गर्जनवाला यंत्र शिथिल होगया, समुद्र का फेन लुप्त

× दिनकर सं. डॉ. सावित्री सिन्हा, पृ. 88. 25.

हो गया, आग की लपट खतम हो गई, केवल अंगारे बच गए, जो क्षार-हीन और निर्धूम थे । " ×

साहित्य सृजन :-
2.4.3.1.4.2.1

साहित्य की रचनाधर्मिता न तो परिस्थितियों की प्रतिक्रिया मात्र होती है और न ही अनुकरण । यह नितान्त प्रासंगिक होता है कि परिस्थितियाँ और घटनाएँ अन्तर की सृजनशीलता को उभार कर ऊपर ले आएँ । रचनाधर्मिता या काव्य प्रतिभा कलाकार का जन्म-जात गुण होती है । जन्मजात से भी आगे, विचार किया जाए तो, यह एक ऐसी सन्निहित संभावना होती है जो कलाकार को वंशानुक्रम से प्राप्त होती है । आगे चल कर तो उसका विकास मात्र होता है चलता है । यही कारण है कि एक ही युग और काल में समान परिस्थितियों में जो रहे सभी व्यक्ति न तो सृजनशील साहित्यकार बन पाते है न रचनाधर्मी कलाकार ही । दिनकर की साहित्यिक रचनाधर्मिता ×× वंशानुक्रम से प्राप्त हुई थी । इसका स्पष्ट उल्लेख श्री राजेश्वर प्रसाद जी ने अपने लेख " रामधारी सिंह पालने से चिता तक " में किया है ----

> " दिनकर जी के वंश में कई पुश्त पहले भी एक कवि हो चुके थे जिनका नाम था " भैरव राय " । अपने गाँव घर एवं पास पडोस के लोगों के बीच में वे बहुत लोकप्रिय थे । उनकी रची हुई कविताएँ एक मोटी हस्त लिखित पुस्तक के रूप में दिनकर जी के पिता जी के जमाने तक सुरक्षित थी, जिसका नाम था " नगर विलाप " । लेकिन कभी एक व्यक्ति के घर में जहाँ वह पुस्तक रखी हुई थी आग लग गई और वह पोथी जल कर राख हो गई । दिनकर जी के पिता जी को सारी कविता याद थी । भैरव राय रचित एक पद्य दिनकर जी के अग्रज सुनाते हैं

× रामधारी सिंह दिनकर, रश्मि लोक, मेरी काव्य यात्रा, स्टार पब्लिकेशन्ज, आसफअली रोड, नईदिल्ली, 1974, पृ."अ" और "क".

जो इस प्रकार है :-

"भैरव कवि मन भये उदासा,
अइ नगरी के नहि विश्वासा ।"×

वंशानुक्रम से से प्राप्त होने वाली इस सम्भावना का विकास आगे चलकर दिनकर में हुआ । इस विकास के लिए उस तत्कालीन परिवेश ने भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई जिसके अन्तर्गत दिनकर को नित्य रामचरित मानस का पाठ करने का अवसर अपने बाल्यकाल में मिला । प्रतिभा के विकास का द्वितीय चरण " छात्र सहोदर " में छपनेवाली कविताएँ थीं । इस सब के परिणामस्वरूप दिनकर की मानस भूमि सृजन प्रक्रिया की हलचलों से अनुप्राणित हो उठी और रामधारी का कवि पन्द्रह-सालह वर्ष की अवस्था में घर पर घूमते-फिरते घर के पिछवाड़े स्थित सघन वेणु-कुंजों के छाँह में बैठा जिन गतियों को कड़ियाँ जोड़ रहा था उनके ही स्वर " रेणुका " में कुछ इस प्रकार सुनाई पड़े ---

" फूलों को क्या बात?
बाँस की हरियाली पर मरता हूँ ।"[2]

कलाकार के सृजन को प्रोत्साहन उसकी कृति के प्रकाशन से मिलता है । दिनकर जी को यह सुयोग भी खुब मिला सन् 1924 से ही उनकी रचनाएँ "छात्रसहोदर" (जबलपुर) " देश " (पटना)"प्रतिभा" (कन्नौज) तथा " प्रकाश " (बेगूसराय) में प्रमुखता से स्थान पाने लगीं थीं । सन् 1928 में " बारदोली विजय " (अप्राप्य) सन् 1929 में " प्रणभंग " 1935 में " रेणुका " से जो सृजन का क्रम प्रारम्भ हुआ वह तो " हारे को हरिनाम " (1970) तक बराबर चलता रहा । इसप्रकार

× राष्ट्रकवि दिनकर, सं. डॉ. गोपाल राय तथा डॉ. सत्यदेव शर्मा, पृ. 2.

2. रामधारी सिंह दिनकर, " रेणुका" चतुर्थ संस्करण, पृ. 63.

46 वर्षों को साहित्य साधना में ‖ सन् 1928 से लेकर सन् 1974 तक यानो " बारदोलो विजय से लेकर रश्मिलोक तक ‖ उन्होंने हिन्दो - साहित्य जगत को 32 काव्य कृतियाँ तथा 25 गद्य रचनाएँ दों, जिनमे से " संस्कृत के चार अध्याय " पर उन्हें सन् 1959 में साहित्य अकादमो पुरस्कार तथा " उर्वशो " पर सन् 1973 में भारतोय ज्ञानपोठ पुरस्कार प्राप्त हुआ ।

43-43 जोविका और सम्मान :-

दिनकर जो ने अपने जोवन का आरम्भ सन् 1933 में बरबोघा हाईस्कूल के प्रधानाध्यापक के रूप में किया था, जिससे वह बहुत संतुष्ट नहों थे किन्तु उन्हें जोवन में कभो पोछे मुड़ कर देखने का अवसर नहों मिला । सन् 1934 से 1943 तक वे सब रजिस्ट्रार के पद पर रहे । सन् 1943 में उनका स्थानान्तरण युद्ध प्रचार विभाग में कर दिया गया जिसके बाद सन् 1947 में बिहार सरकार में हो प्रचार विभाग के उपनिर्देशक बनाए गए । सन् 1950 में मुज्जफ्फरपुर के कालेज में हिन्दो विभागाध्यक्ष के पद पर इनको नियुक्ति हुई जिससे 10 मार्च, सन् 1952 को स्तोफा देकर राज्य सभा के काँग्रेसो सदस्य बनकर दिल्लो आ गए । इसो बोच 25 नवम्बर, सन् 1955 को उनको नियुक्ति राजभाषा आयोग के सदस्य के रूप में हुई । × सन् 1964 में राज्य सभा को सदस्यता से त्यागपत्र देकर भागलपुर विश्वविद्यालय के उपकुलपति नियुक्त हुए जिसका अधिक दिनो तक न हो सका । अस्तु सन् 1965 में उन्हें केन्द्रोय सरकार के हिन्दो सलाहकार पद पर नियुक्त कर दिया गया, और 1971 तक वे इस पद पर बने रहे । 11जून, 1971 को

× जगदोश प्रसाद चतुर्वेदो, " मेरे प्रिय कवि दिनकर जो", दिनकर व्यक्तित्व एवं कृतित्व , सं. जगदोश चतुर्वेदो, पृ 28.

इस पद से मुक्त होकर ×14 जुलाई, 1971 को पटना आ गए, तब से मृत्यु पर्यन्त वे किसी प्रकार के कार्य- भार से मुक्त रहे ।

साहित्य के क्षेत्र में सुयश उन्हें प्रारम्भ से ही मिलता आया था, 1959 में राष्ट्रीय स्तर पर " पद्मभूषण " की उपाधि से सम्मानित किया गया, सन् 1962 में भागलपुर विश्वविद्यालय ने " डॉक्टर आफ लिटरेचर" की मानद उपाधि दी, तथा । दिसम्बर सन् 1973 को उन्हें " उर्वशी " पर भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार प्राप्त हुआ ।

3.2. अन्तरंग व्यक्तित्व :-

अन्तरंग व्यक्तित्व व्यक्ति की मानसिक संरचना का दूसरा नाम है । जहाँ जीवन का बहिरंग पक्ष या क्रम उसके अन्तरंग पक्ष की रचना करता चलता है वहीं उसकी मानसिक संरचना या अन्तरंग व्यक्तित्व उसके जीवन क्रम का दिशानिर्देश किया करता है । अस्तु जीवन की बहिरंग एवं अन्तरंग धाराओं के सम्मिलित रूप या जीवनक्रम तथा मानसिक संरचना की विकसनशील समग्रता का नाम व्यक्तित्व है । अन्तरंग व्यक्तित्व के रेखांकन के लिए आवश्यक है कि व्यक्ति के उन मनोभावों का विवेचन प्रस्तुत किया जाय जिनसे वह जीवन में परिचालित रहता है । इस सम्बन्ध में यद्यपि बहुत अधिक निश्चिन्तता से कुछ नहीं कहा जा सकता, क्योंकि व्यक्ति के मनोभाव परिवर्तनशील होते हैं, किन्तु स्वभाव की सरलता या प्रखरता, व्यवहार की उदासीनता या जीवन्तता के आधार पर तथा रचनाओं की मुख्य धारा के आधार पर एक रूप-रेखा का निर्माण अवश्य किया जा सकता है ।

बिहार की माटी की बद्धमूलता तथा परिस्थितियों की सतत्

× रामधारी सिंह दिनकर, दिनकर की डायरी, उदयाचल, पटना, 1973, पृ. 208 तथा 215.

प्रतिकूलता किसी भी व्यक्ति को जहाँ संघर्ष के लिए प्रेरित कर सकती है वहीं भयाक्रान्त भी । भय की भावना ही व्यक्ति की संघर्षशीलता को जननी होती है । भय और संघर्ष, जिसकी धार साहस में दिखाई पड़ती है न तो परस्पर बहुत भिन्न हैं न विरोधी । वस्तुत: इनके मध्य जीवन को एक तीसरी धार भी फूट निकलती है और वह है क्रोध की । क्रोध स्वार्थों के हनन पर आता है । क्रोध प्रतिरोधक शक्ति की अभिव्यक्ति है तथा क्षोभ उसके अभाव का सूचक ।

दिनकर जी के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में जो सबसे अधिक प्रसिद्ध है वह है उनका क्रोधी स्वभाव । इस सम्बन्ध में मन्मथनाथ गुप्त द्वारा वर्णित कुछ घटनाएँ उल्लेखनीय हैं ---

> " जब वे सब रजिस्ट्रार थे, तो एक बार बार उन्होंने अफसरी की शान में एक गरीब आदमी पर छड़ी चला दी। लेकिन अपने इस दुष्कृत्य पर वे रात भर रोते रहे। जब भोर हुआ, उन्होंने उस गरीब को बुलाकर उससे माफी माँगी, उसे रुपए दिए और जब तक वे उस गाँव में रहे, बराबर उसकी सहायता करते रहे ।"×

उन्हीं दिनों की एक अन्य घटना का उल्लेख करते हुए श्री शिव सागर मिश्र (दिनकर जी के दामाद) लिखते हैं कि ----

> " गर्मी के दिन थे । मकान के पीछे एक तालाब - सा था । उसका जल बहुत साफ नहीं था । एक दिन राम सेवक जी और मैं उस गंदे तालाब में बहुत देर तक से ऊभ-चूभ कर रहे थे । राम सेवक जी यह सोचकर निश्चिंत थे कि उनके पिता जी कार्यालय में है । दुर्भाग्य से उस दिन मेरे चलते दिनकर जी दोपहर में डेरे पर चले आए -- यह देखने को मेरे भोजन आदि की व्यवस्था

× मन्मथनाथ गुप्त, रामधारी सिंह दिनकर, पृ. 5 .

ठीक है या नहीं ।

हम लोग मजे से पानी में उछल-कूद मचा रहे थे कि डेरे की ओर से बिनवा नौकर भागता हुआ आया किनारे पर आ पहुँचा और वहीं से उसने घबराए हुए स्वर में रामसेवक को सूचना दी कि मालिक आ गए हैं और गुस्से में हैं । इतना सुनते ही रामसेवक जो तालाब के दूसरे किनारे की ओर लपके । मैं कुछ समझूँ - समझूँ तब तक वे रफूचक्कर हो चुके थे ।

मैं वहाँ से सीधे डेरे पर पहुँचा । दिनकर जी वहाँ मौजूद थे और बहुत ही तेज तथा क्रुद्ध स्वर में वे सब पर बरस रहे थे । "

एक अन्य घटना का उल्लेख करते हुए शिव सागर मिश्र आगे लिखते हैं -------

" दिनकर जी ने अपनी बड़ी भतीजी श्रीमती चन्द्रकला देवी का व्याह बड़ें शौक से किया था । बहुत घर-वर देख कर बड़ी शान और ठाठ-बाट से भतीजी का पाणिग्रहण संस्कार सम्पन्न करवाया था । मेरे बड़े साढ़ू मैट्रिक में पढ़ते थे । बुरी संगत में पड़ कर बहुत पीने भी लगे थे और पढ़ना-लिखना ताक पर रख दिया । एक दिन उनकी बुरी हालत देखकर दिनकर जी को इतना क्रोध आया कि उन्होंने मेरे साढ़ू को खूब पीटा, और बाद में कमरे में बन्द होकर घण्टों रोते रहे । दरअसल दिनकर जी का क्रोध हमेशा ही तीव्रतम प्यार से उपजता था । " ×

सन् 1949 में एक बार वे अपने परिवार सहित वैद्यनाथ धाम (देवघर) गए । वहाँ देखा कि मिथिला की ग्रामीण स्त्रियाँ जल चढ़ाने

× शिव सागर मिश्र, " दिनकर मेरी नजर में" दिनकर व्यक्तित्व एवं कृतित्व, सं. जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी, पृ. 41 - 43.

को प्रतीक्षा में खड़ी जाड़े से थर-थर काँप रहीं थीं और पंडा उन्हें जल चढ़ाने से रोके हुए था क्योंकि वह अपने किसी सेठ यजमान की पूजा करवा रहा था और कहता था, जब तक वह यजमान पूजा समाप्त नहीं कर लेता मैं किसी को भी जल चढ़ाने नहीं दूँगा ।

फौरन दिनकर जी से उसकी कहा-सुनी होगई । फिर भी जब वह किसी भी तरह राजी न हुआ, दिनकर बोले --- हे महादेव । लोग मुझे क्रान्तिकारी कवि कहते हैं और आप पंडा के गुलाम हो गए । इसलिए अगर मैं जल चढ़ाऊँ तो इसमें मेरे प्रशंसकों का अपमान है ।

इतना कहकर गंगा जल की भरी सुराही उन्होंने शंकर के माथे पर दे मारी और क्रोध में मन्दिर के बाहर निकल-कर मार पीट की तैयारी करने लगे । "×

क्रोध के सम्बन्ध में उनका अपना मत है कि ---

" क्रोध को मैं साहित्यकार का आवश्यक गुण मानता हूँ । जिसमें क्रोध को पी जाने की शक्ति है वह या तो संत है या डिप्लोमेट ; जो व्यवहार में वैष्णवी विनम्रता लाकर सबको खुश करना चाहता है । जिसमें क्रोध नहीं है वह कवि कन्फर्मिस्ट हो जाएगा और कनफर्मिस्ट होना कवि के जीवन का नहीं उसकी मृत्यु का लक्षण है । क्रोध, शायद बहुत अच्छा शब्द नहीं है । इसके बदले मुझे मन्यु शब्द का प्रयोग करना चाहिए । " मन्यु क्रोध का वह स्वरूप होता है जो ---- अनौचित्य और कदाचार के विरुद्ध आता है । [2]

मन्यु क्रोध का वह स्वरूप होता है जिसमें विरोध के साथ ही अहं का प्रकाश भी होता है । उनका यह क्रोध तथा अहं उनकी रचनाओं

× मन्मथनाथ गुप्त, रामधारी सिंह दिनकर, पृ. 3-4.

2. दिनकर, सं. डॉ. सावित्री सिन्हा, पृ. 30.

अभिव्यक्ति पाता रहा है । कवि की प्रारम्भिक रचनाओं में हम पाते हैं कि उसका क्रोध जहाँ समाज में व्याप्त अनाचार के प्रति उपजता है× वहीं उसका अहं सहस्र धाराओं में फूटता है ।[2]

कवि का ज्वलनशील व्यक्तित्व " रेणुका", "हुँकार", "कुरुक्षेत्र", "सामधेनी", "रश्मिरथी" और " परशुराम की प्रतीक्षा" में तो आग-अंगारों के मध्य प्रज्ज्वलित होता ही है ; वह "रसवंती"के प्रणय प्रसंगों के मध्य भी ज्योति और जलन का अवसर उपस्थित कर ही देते हैं । [3]

× पराधीनता की आकुलता की
है यह कैसी पीड़ा ?
जरा बता दोकैसी है
यह आत्म प्रलय की क्रीड़ा ।
× × × × ×
आहुति चढ़ा दे होमकुण्डों में खलों को खूब
ऐ री विभीषिके तू डाक डाकिनी-सी डाँय डाँय ।
पुनः बुलादे घोर ज्वाला जगा के जोभ,
होलिके मचादे नृत्य धू-धू धक-धाँय धाँय ।

रामधारी सिंह दिनकर
" प्रणभंग" तथा अन्य कविताएँ, राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली, 1976, पृ.66.

2. मेरी पूँजी है आग, जिसे
जलना हो, बढ़े निकट आए ।
× × × × ×
विजय पानी है तुझको चाँद-सूरज पर सितारों पर ।
× × × × × × × × ×
जगों को एक तेरी आग का आधार है साथी । -- दिनकर,
" सामधेनी" उदयाचल, पटना, 1975, पृ. 77-79.
धधकी अभंग, पल-विपल अरुद्ध जली रे --- "परशुराम की प्रतीक्षा" उदयाचल, पटना, 1966. पृ. 29.

3. हम दोनों की प्रथम रात यह, आज करो मत मान प्रिये ।
मिट न सकेगी कसक कभी, यदि यों ही हुआ विहान प्रिये ।
× × × × × × × × × ×
कलियाँ हृदय चीर रजनी का खिलने को अकुलाती हैं,
सह सकतीं न जलन बाहर आते-आते जल जाती हैं । --- दिनकर,
"रसवंती", उदयाचल, पटना, 1966, पृ. 45-47.

"उर्वशी"में कवि के व्यक्तित्व की आग बहुविधि फूटी है । उर्वशी को रक्तिम कांति के लिए उपमान के रूप में उन्हें पावक ही उपलब्ध होता है ----

" तन की रक्तिम कांति शुद्ध, ज्यों धुली हुई पावक से । "×

प्रेम की धारा उर्वशी के अन्तस्थल से आग के रूप में फूटने के लिए आकुल है ----

" निराकार मन को उमंग को रूप कहाँ दे पाऊँ
फूटे तन की आग और मैं उसमें तैर नहाऊँ । " 2

पुरूरवा उर्वशी के सानिध्य में भी जिस आकुलता का अनुभव करता है उसके मूल में भी आग है ----

" आग है कोई नहीं जो शान्त होती । " 3

तथा उर्वशी के निकट व्यक्ति के व्यक्तित्व की महत्ता का मूल भी यह आग ही है ----

" तू पुरुष तभी तक, गरज रहा जब तक भीतर यह वैश्वानर " । 4

उदाहरण और भी दिए जा सकते हैं किन्तु विस्तार भय से हम सबका उल्लेख नहीं कर रहे हैं । प्रत्यक्षत: हमें डॉ. सावित्री सिन्हा के इस कथन से कि " दिनकर मुख्यत: ओज और पौरुष के कवि हैं 5 तथा राज देव सिंह के इस मत से कि " दिनकर मूलत: क्रांति के कवि हैं 6 सहमत होना पड़ता है किन्तु दिनकर के व्यक्तित्व का यह मूल्यांकन यथार्थ होते हुए भी एकांगी है तथा इसके द्वारा उनके वास्तविक व्यक्तित्व का बोध नहीं होता ।

× रामधारी सिंह दिनकर, "उर्वशी", उदयाचल, पटना 1978, पृ. 16.
2. वही, पृ. 14.
3. वही, पृ. 36.
4. वही, पृ. 42.
5. डॉ. सावित्री सिन्हा, " युगचारण दिनकर ", पृ. 175.
5. राजदेव सिंह, रामधारी सिंह दिनकर, आलोचना, वर्ष 7 अंक । जनवरी, 1959, पृ. 203.

****

9433 व्यक्तित्व विश्लेषण :-

" रश्मि लोक " की भूमिका में दिनकर ने लिखा है :-

> :" "हिमालय," "ताण्डव","नयी दिल्ली","विपथगा" और "दिगम्बरी" आदि कविताओं को पढ़कर लोगों ने मुझे क्रान्ति-कवि मान लिया था । " ×

इस कथन से स्पष्ट होता है कि कवि वस्तुत: इस बात पर बल देना चाहता है कि कविताओं के कारण लोगों द्वारा उसे क्रान्तिकारी कवि माना गया, जबकि वह स्वयं अपने आप को क्रांतिकारी कवि नहीं मानता । दूसरों की मान्यताएँ आवश्यक नहीं कि उसकी अपनी मान्यताएँ भी हों जिसके सम्बन्ध में दूसरों ने मान्यताएँ स्थापित की हैं । दिनकर का अन्तर्मन इस मान्यता को स्वीकार नहीं करता इसीलिए उसका मानस क्रांतिकारी कविताओं का सृजन करके भी संतुष्ट न था ---

> " किन्तु क्रांति की कविताएँ लिख कर मुझे पूरा संतोष नहीं था " 2

-------- पूरा संतोष न था का सीधा अर्थ यह है कि वे आंशिक रूप से सन्तुष्ट थे । प्रश्न उठता है कि आंशिक रूप से संतुष्ट होनेवाली स्थिति क्या थी ? क्या कोई ऐसी स्थिति होती भी है ? क्या इस आंशिक संतुष्टि का कोई आधार भी है ? यदि है तो क्या ?

संतोष की ऐसी स्थिति जब कोई प्रश्न शेष न रह जाय, कोई कामना अवशिष्ट न रहे स्यात बहुत कम होती है, स्यात् नहीं होती है । ! अभी तक लेखक का अपना इस सम्बन्ध कोई अनुभव नहीं है ! इस स्थिति को वस्तुत: कल्पना की जा सकती है क्योंकि व्यवहार में इसका रूप प्राय: दृष्टिगत नहीं होता। मान लीजिए कि यदि मात्र यह कामना भी

****

×-2 रामधारी सिंह दिनकर, " मेरी काव्य यात्रा", रश्मि लोक, स्टार पब्लिकेसन्ज़, आसफ अली रोड, नई दिल्ली, 1974, पृ. "ऊ".

शेष रहे कि कोई कामना न उठने पाए तो असंतोष के यात्रा -पथ की अनन्तता अक्षुण्ण रहती है :-

" बाकी है जब तलक तर्के तमन्ना की आरजू
कैसे कहूँ मैं कि तमन्ना निकल गई । " तात्पर्य यह कि संतुष्टि के लिए पूर्णताव का विन्दु हमारे लिए काल्पनिक हो हो सक्ता है क्योंकि जिसे इसकी उपलब्धि हो जाती है वह कुछ भी कहना या करना इस सम्बन्ध में अनावश्यक मानेगा । जब तक विचार चलता है, भाव उगते हैं तथा कर्मों का सम्पादन होता है तब तक अधूरापन और असंतोष रहेगा ही ।

संतुष्टि की पूर्णता का अभाव उसकी आंशिकता को सिद्ध करता है । आंशिक संतुष्टि का आधार यह होता है कि उससे हमारा खालीपन कुछ देरे के लिए भर जाता है, एक स्तर पर हम तृप्ति की झलक पा लेते हैं किन्तु तृप्ति के विन्दु पर रुक नहीं जाते । दिनकर अपने चारे ओर जो देख रहे थे, जिस अभाव को उन्होंने जिया था, भोगा था तथा समाज को जिस व्यवस्था ने उन्हें उनके न्यास से वंचित रखा था, उसके प्रति जो आक्रोश उनके मन में था उसकी शाब्दिक अभिव्यक्ति ने उन्हें आंशिक संतोष से भर रखा था । इसके साथ ही व्यक्ति के अस्तित्व-बोधी स्तर पर जीवित रहने के साथ ही विशिष्ट होकर जीने की आकांक्षा तथा उसके व्याज से व्यक्ति-गत अचेतन की धुंधली पहचान की ~~xxxxx~~ स्तरीय उपलब्धि, जो प्रशंसा के रूप में व्यक्ति को मिलती है, भी उसे आंशिक संतुष्टि से भर देती है । निस्पृह से निस्पृह व्यक्ति भी प्रशंसा पाकर अपने अहं को कुछ और उन्नत अनुभव करता है । दिनकर जी ने इस प्रशंसा की प्राप्ति को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है ------

" संभव है जनता का प्रेम मुझे इस कारण कुछ और अधिक प्राप्त हुआ कि मैं अंग्रेजों की नौकरी में रहकर भी देश भक्ति और क्रान्ति की कविताएँ लिख रहा था । " ×

इसलिए यह प्रशंसा ही थी जो उनसे क्रान्तिकारी काव्य का

× रामधारी सिंह दिनकर, मेरी काव्य यात्रा रश्मि लोक, पृ."ऊ".

सृजन करवाती रही । यश की आँच का लोभ और प्रशंसा का आकर्षण कम नहीं होता प्रशंसा के कारण " उर्वशी " की सुकन्या गलित यौवन च्यवन की ओर आकृष्ट होती है तथा जिसका समर्थन चित्रलेखा के रूप में स्वयं उर्वशीकार यह कह कर करता है ----

" धन्य वही जो विभव नहीं यश को अर्पित होती है । "[2]

इसमें सन्देह नहीं कि उर्वशीकार के जीवन का आर्थिक अभाव तथा देश का वातावरण उन्हें सरलता से राष्ट्रीयता की उस धारा के निकट ले आता है जिसमें गर्जन-तर्जन करतीं प्रचण्ड पौरुष की लहरें उठ रहीं थीं । व्यक्तिगत रूप से माटी की बद्धमूलता तथा देशव्यापी स्तर पर आन्दोलन की दोनों धाराएँ --- एक जिसका नेतृत्व महात्मा गान्धी कर रहे थे तथा दूसरी जिसका संचालन उन लोगों के हाथ में था जो"बम के दर्शन " में विश्वास करते थे --- उन्हें प्रभावित कर रहीं थीं । सम्मान वे गाँधी को देते थे और सहानुभूति क्रान्तिकारियों को । उनकी आर्थिक स्थिति उन्हें सरकारी नौकरी करते रहने के लिए बाध्य किए हुए थी तथा यश - परिचालित प्रदेश के निकटतर प्रदेश का सृजनशील व्यक्ति उनसे ताण्डवी कविताएँ लिखवा रहा था ।

> " अहिंसा अगर परम धर्म है तो हिंसा को आपद्धर्म मानना ही पड़ेगा । और इस मान्यता से भी निस्तार नहीं कि जिसका आपद्धर्म नष्ट होगया उसका परम धर्म भी बचेगा ।"[3]

अहिंसा-हिंसा की इस वैचारिक भूमि पर "कुरुक्षेत्र" की रचना हुई, किन्तु उसके मूल में समस्या युद्ध के औचित्य की न होकर मनुष्य के उस अस्तित्व बोध की है जिसके ऊपर विनाश के बादल मंडराया करते हैं तथा जो आत्म रक्षा को आवश्यक तथा पुनर्रचना को अमरत्व के रूप में

× "हरि प्रसन्न यदि नहीं, सिद्धि बनकर तुम क्यों आयी हो " - दिनकर,"उर्वशी", पृष्ठ 89.

2. वही, पृ. 87.

3. रामधारी सिंह दिनकर,"मेरी काव्य यात्रा", रश्मि लोक, पृ. "औ ".

स्वीकार करता है :-----

" जानता हूँ किन्तु, जीने के लिए,
चाहिए अंगार जैसी औरता । ×
× × × × ×

" किन्तु, मृति मनुज को
भूख लगा करती है,
त्वच से मन तक विविध भाँति
की तृषा जगा करती है ।
यह तृष्णा, यह भूख न देती
सोने कभी मनुज को,
मन की चिन्तन और कर्म की
ओर भगती भुज को ।
मन का स्वर्ग मृषा वह जिसको
देह न पा सकती है
इससे तो अच्छा वह, जो कुछ
भुजा बना सकती है । [2]

अस्तित्व बोध के क्षणों में भी आत्म बोध का अस्तित्व विद्यमान रहता है इसलिए जहाँ एक ओर अस्तित्व की रक्षा के लिए आपद्धर्म एक आवश्यकता है, वहीं समस्त संघर्ष को " आत्मस्थित" होकर ग्रहण करने की भी आवश्यकता है । विचार की इस भूमि पर हम उर्वशीकार को गीता के पथ पर पाते हैं । [3] गीता के तट पर वह इसलिए नहीं जाता क्योंकि " कुरुक्षेत्र" के संदर्भ में वह आवश्यक है प्रत्युत वह वहाँ पर इसलिए है क्योंकि " गीता" अस्तित्व - बोध से आत्म बोध की महायात्रा का राजमार्ग है । कुरुक्षेत्र के अस्तित्व-बोध के मध्य आत्म -बोध की स्थिति साफ दिखाई पड़ती है -----

" वल्कल - मुकुट पर दोनों के,
छिपा एक जो नर है ,
अन्तर्वासी एक पुरुष जो
पिण्डों से ऊपर है ।

× दिनकर, " कुरुक्षेत्र", पृ. 22.
2. वही, पृ. 122 - 123.
3. "बुला रहा निष्काम कर्म वह, बुला रही है गीता - वही, पृ. 126.

" जिस दिन देख उसे पाएगा
मनुज ज्ञान के बल से,
रह न जायगी उलझ दृष्टि जब
मुकुट और बल्कल से ।

उस दिन होगा सुप्रभात
नर के सौभाग्य -उदय का
उस दि न होगा शंख ध्वनित
मानव की महा विजय का । " ×

अस्तित्व बोध को दो स्तरों पर हमने -- आत्म रक्षा तथा पुनर्रचना-- स्वीकार किया है । " कुरुक्षेत्र" आत्म रक्षा की भूमि पर स्थित अस्तित्व बोध का वह काव्य है जिसमें आत्म बोध की झलक भी दिखाई पड़ती है । वस्तुत: कलाकार द्वारा अपने अन्तर्मन को अभिव्यंजना प्रदान करने के उपादानों के चुनाव के मूल में भी उसका बोध सक्रिय होता है । यह बोध अस्तित्व यानी भौतिक क्षेत्र के निकट भी हो सकता है, और आध्यात्मिक क्षेत्र के भी । क्षेत्रों के संक्रमण के मध्य एक तीसरे तल को भी सैद्धान्तिक रूप से हमें स्वीकार करना चाहिए । यह तीसरा तल व्यवहारिक रूप में व्यक्ति द्वारा की जाने वाली अपनी खोज है । अपनी खोज अर्थात् पहचान की तलाश, विशिष्ट होकर जीने की लालसा जिसका प्रारम्भ सामाजिकता के तल पर नामकरण से होता है । आत्मबोध की धुंधली छाया व्यक्ति को इस " नाम" करण के स्तर पर जीने नहीं देती [2] अस्तु वह निरन्तर नए-नए क्षितिजों और आयामों की खोज किया करता है । जहाँ तक जिस दिशा में वह पहुँचता है उससे आगे उसे अन्य गन्तव्य दृष्टिगत होने लगते हैं । मनोवैज्ञानिक

×. रामधारी सिंह दिनकर, " कुरुक्षेत्र", पृ. 128-29.

2. और मनुज की नयी-नयी
प्रेरक वे जिज्ञासाएं ।
× × × ×
अन्वेषिणी बुद्धि वह
तम में भी टटोलने वाली,
नव रहस्य नव रूप प्रकृति का
नित्य खोलनेवाली । दिनकर "कुरुक्षेत्र" पृ. 96.

शब्दावली इसे " आटोमोटोवेशन" (आत्म परिचालन) कह कर संतोष कर लेती है किन्तु दर्शन और भक्ति में इसके आगे का मार्ग परमात्मा और ईश्वर उपलब्धि या शरणागति में प्रतिफलित होता है । अनीश्वरवादी दर्शन भी मोक्ष या निर्वाण को स्वीकार करते है । मोक्ष या निर्वाण वस्तुत: इस अस्तित्व बोध से मुक्त होना है । आत्मबोध से परिचालित व्यक्ति का प्रयास अस्तित्व से परे " कुछ " खोजना होता है । स्वरूप की अस्पष्टता रहस्य को सृष्टि करती है, किन्तु इस स्तर पर भी व्यक्ति उस आत्म को अपने अस्तित्व द्वारा प्राप्त करना चाहता है । प्रयास के इस क्रम में बहुत संभव है कि वह साधक बन उस स्थिति का आकांक्षी बन जाय जहाँ अस्तित्व की कारा अस्तित्वहीन हो जाती है आत्म को उसे अनायास ही उपलब्ध हो जाता है । इस स्तर पर भी समस्त प्रयासों का महत्व उनकी निष्क्रियता में ही होता है । कलाकार की रचना धर्मिता उसे इन दोनों के मध्यवाली भूमि पर रखती है ; आत्मबोध उसे आगे ठेलता रहता है तथा अस्तित्वबोध उसका प्रतिबल बनकर उसे माटी से संपृक्त रखता है । वस्तुत: द्वन्द्व की इसी भूमि पर सृजन एक आवश्यकता बन जाता है । इस भूमि पर कलाकार स्वयं अपने विरुद्ध एक संघर्ष को जीता है । इस सारे संघर्ष में अस्तित्व बोध से आत्मबोध तक के समस्त सोपानों को सरलता से देखा जा सकता है । " कुरुक्षेत्र" के पश्चात् " रश्मि रथी " दिनकर जी की काव्य यात्रा की दूसरी महत्वपूर्ण कड़ी है जिसके सम्बन्ध में उन्होंने रश्मि लोक में लिखा है ---

> " कुरुक्षेत्र के बाद मैंने जो दूसरा खण्ड काव्य (रश्मि रथी) लिखा, उसका नायक कर्ण है । युधिष्ठिर और भीम के बाद कर्ण पर मेरी दृष्टि क्यों गई, इसके कुछ न कुछ मनोवैज्ञानिक कारण रहे होंगे । जब यह काव्य प्रकाशित हुआ, डाक्टर धर्मवीर भारती ने किसी लेख में संकेत किया था कि कदाचित दिनकर जी ने अपने जीवन में उपेक्षा के दंश का अनुभव किया है । इसी

का प्रतिबिम्ब हम कर्ण के चरित्र में देखते हैं । संभव है कि यह अनुमान सत्य हो । किन्तु अधिक सत्य प्रेरणा इस जिज्ञासा से आई थी कि कुमारी माता के गर्भ से उत्पन्न सन्तान को समाज में गुणोपयुक्त स्थान मिलना चाहिए या नहीं । " ×

कुमारी माता से जन्म लेने वाला बालक भारतीय समाज में उपेक्षा का चरम पात्र होता है । कुमारी माता की सन्तान को समाज में गुणोपयुक्त स्थान न मिलने की पीड़ा वस्तुत: दिनकर जी को अपनी इस पीड़ा का ही विकसित रूप है जिसे वह अपने जीवन के प्रारम्भिक दिनों में सह रहे थे । यदि उनकी और उनके गुणों की तत्कालीन समाज में उपेक्षा न की गई होती तो उन्हें उनकी योग्यता के अनुरूप कोई न कोई प्रतिष्ठित स्थान अवश्य प्राप्त होगया होता, किन्तु ऐसा न हो सका । सन् 1934 से 1945-46 तक कोई 13-14 वर्षों तक, वे ब्रिटिश सरकार की मातहती में छोटी-मोटी नौकरियों में सड़ते रहे और वह भी परिवार का पेट पालने के लिए । [2]

" रश्मि रथी " के प्रथम सर्ग मे ही बीज रूप से जो भाव निहित है वह है कि व्यक्ति का अपने गुणों के अनुसार मूल्यांकन होना चाहिए । गुणों की तेजस्विता जिसकी पूँजी है वह इतिहास में अपना स्थान बना ही लेता है ---

" तेजस्वी सम्मान खोजते नहीं गोत्र बतलाके,
पाते हैं जग से प्रशस्ति अपना करतब दिखलाके ।
हीन मूल की ओर देख जग गलत कहे या ठीक,
वीर खींचकर रहते हैं इतिहासों में लीक । " [3]

सम्मान की खोज वस्तुत: अपनी पहचान की तलाश है, विशिष्ट होकर जीने की कामना है जिससे आत्म बोध द्वारा प्रेरित अस्तित्वबोध को

× रामधारी सिंह दिनकर, "मेरी काव्य यात्रा", रश्मि लोक, पृ. "अं".

2. राजेश्वर प्रसाद सिंह, "रामधारी सिंह दिनकर पालने से चिता तक ", राष्ट्रकवि दिनकर, सं. डॉ. गोपाल राय तथा डॉ. सकलदेव शर्मा, पृ. 13.

3. रामधारी सिंह दिनकर, "रश्मि रथी", श्री अजन्ता प्रेस लि० जमालरोड, पटना, 1952. पृ. 2.

को उद्दाम जिजीविषा है । कर्ण इससे भरा हुआ है । उपेक्षा के दंश को वह वीरता और दानशीलता के दर्प से झुठलाने का प्रयास करता है और अंतत: इसमें सफल भी होता है । कर्ण की स्थिति के दो उदाहरण इस सम्बन्ध में रश्मि रथी से प्रस्तुत हैं ----

" मैं नाम -गोत्र से हीन, दीन खोटा हूँ,
सारथी पुत्र हूँ, मनुज बड़ा छोटा हूँ ।
× × × ×
जन्म लेकर अभिशाप, हुआ वरदानी,
आया बनका कंगाल, कहाया दानी । "×

कर्ण का उपेक्षाबोध या अस्तित्वबोध की वैयक्तिक जिजीविषा ही उदात्तीकृत रूप में इस प्रकार फलित होती है ---

" मैं उनका आदर्श, जिन्हें कुल का गौरव तोड़ेगा,
नीचवंश जन्मा कहकर जिनको जग धिक्कारेगा ।
जो समाज की विषम वहनि में चारों ओर जलेंगे,
पग-पग पर झेलते हुए बाधा निस्सीम चलेंगे ।
× × × × × ×
मैं उनका आदर्श, किन्तु जो तनिक न घबरायेंगे,
निज चरित्र बल से समाज में पद विशिष्ट पायेंगे
सिंहासन हो नहीं, स्वर्ग भी जिन्हें देख नत होगा,
धर्म हेतु धन, धाम लुटा देना जिनका व्रत होगा ।
× × × × × ×
जग में जो भी निर्दलित, प्रताड़ित जन हैं,
जो भी निहीन है, निन्दित है, निर्धन हैं ।
यह कर्ण उन्हीं का सखा, बन्धु सहचर है ;
विधि के विरुद्ध ही उसका रहा समर है । "2

×. रामधारी सिंह दिनकर, "रश्मि रथी", अजन्ता प्रेस, पटना, 1952, पृ. 83 तथा 86.

2. वही, पृ. 96-97 तथा 100.

व्यक्ति का समष्टि में प्रसार काव्य को उद्दात्तीकृत करता है । कर्ण की व्यक्तिगत पीड़ा उसे विश्व के पीड़ित जनों से एकाकार कर देती है । वह अनायास ही उनका आदर्श बन कर बोलने लगता है किन्तु उसका समस्त उद्दात्तीकरण अस्तित्व बोध की सीमा से आगे नहीं बढ़ पाता । उसका दाता का दर्प जहाँ उसे ऐसी प्रशंसा से मंडित करता है कि उसके समक्ष स्वर्ग भी हेच सिद्ध होता है × वहीं उसका अस्तित्व-बोध उसे व्यक्तिगत मानापमान से ऊपर नहीं उठने देता । सतत उपेक्षा के दंशों से समुद्भूत उसकी दानशीलता जनों को उपकृत करने का साहस भी करती है [2] तथा अपनी विशिष्टता का औदार्य प्रदर्शन भी।[3] ये समस्त स्थितियाँ वस्तुत: अस्तित्वबोध की ही स्थितियाँ हैं जिनमें आत्मबोध परिचालक शक्ति के रूप में प्रच्छन्न रहता है । प्रत्यक्षत: आत्मबोध को एक झलक के रूप में भी कतिपय उदाहरण " रश्मि रथी " में मिलते हैं । कर्ण के आत्म चिन्तन

× " देखलिया जो कुछ देखा था कभी न अब तक भू पर,
आज तुला पर भी नीचे है मही, स्वर्ग है ऊपर ।
× × × × × × ×
दे पावन पद धूलि कर्ण । दूसरे न मेरे गति है,
× × × × × × × ×
तू पहुँचा है जहाँ कर्ण , देवत्व न जा सकता है,
इस महान पद को कोई मानव ही पा सकता है । "

रामधारी सिंह दिनकर, "रश्मि रथी " पृ. 69 तथा 71.

2. " पर तुम्हें रिक्त जाने भी दे न सकूँगा । " --- रामधारी सिंह दिनकर, "रश्मि रथी ", पृ. 93.

3. " यश, मान, प्रतिष्ठा, मुकुट नहीं लेने को,
आऊँगा कुल को अभय दान देने को ।
परिभव प्रदाह, भ्रम भय हरने आऊँगा,
दुख में अनुजों को भुज भरने आऊँगा । ----

रामधारी सिंह दिनकर, " रश्मि रथी ", पृ. 101.

काव्य के रूप में यह अनायास ही प्रकट हो जाती है ----

" निस्सार द्रोह की क्रिया, व्यर्थ यह रण है,
खोखला हमारा और पार्थ का प्रण है ।
फिर भी जाने किस लिए न हम रुकते हैं,
चाहता जिधर को काल, उधर झुकते हैं । "×

अस्तित्वबोध की सारहीनता का बोध भी तो वस्तुत: इस अस्तित्व में ही उत्पन्न हो-ता है । बोध की यह स्थिति जहाँ व्यक्ति के ऊपर " काल " " ईश्वर " या " नियति" को प्रतिष्ठित करती है [2], वहीं उसकी अस्तित्व के प्रति जागरूकता एक ऐसी सीमा का निर्माण करती है जिसके घेरे में सब कुछ क्षम्य प्रतीत होता है जिसके कारण बुद्धि अनौचित्य का औचित्य प्रमाणित करने लगती है -----

" लेकिन धीरता किसे ? अपने
अपने सच्चे स्वरूप का ध्यान करे ;
जब जहर वायु में उड़ता हो
पीयूष बिन्दु का पान करे । [3]

सच्चे स्वरूप को उपलब्ध करने की आकांक्षा तथा उसके लिए धैर्य का अभाव आत्मबोध की धुँधली स्वीकृति है, किन्तु वायु में जहर की उप-स्थिति उस परिवेश की प्रधानता है जिससे व्यक्ति सतत प्रभावित होता रहता है ; जिनके घातों-प्रतिघातों से व्यक्ति का निर्माण होता चलता है । समस्त सृजन में व्यक्तित्व " समायोजन" चाहता है । व्यक्ति या कलाकार

× रामधारी सिंह दिनकर, " रश्मि रथी, पृ. 103.

2.3 " जीवन सरिता की बड़ी अनोखी गति है,
कुछ समझ नहीं पाती मानव की मति है ।
बहु प्रचंडता से सबको अपना कर,
सहसा खो जाती है महा सिन्धु को पाकर ।
फिर लहर, धार बुद-बुद की नहीं निशानी
सबकी रह जाती केवल एक कहानी ।
सब मिल ही जाते विलय एक ही जल में
मूर्तियाँ पिघल मिल जातीं धातु तरल में । -- वही, पृ. 103.107

को सबसे बड़ी समस्या उसके अपने व्यक्तित्व के समायोजन या संश्लेषण की ही होती है जो परिवेश के विभिन्न फलकों पर अनेक छद्म रूपों में प्रकट होती है । इस सूत्र को ही प्रकारान्तर से आगे बढ़ाते हुए दिनकर जी लिखते हैं -----

> " भिन्न-भिन्न कवियों के हाथों में कलमें थमाकर प्रत्येक युग एक ही कविता की रचना करता है । ----- इसी प्रकार प्रत्येक कवि जीवन भर में एक ही कविता लिखता है । " ×

3.4 अस्तित्वबोध के तल पर असंतुष्ट व्यक्तित्व : " दिनकर " :-

आत्मबोध द्वारा प्रच्छन्न रूप से परिचालित होने के कारण अस्तित्वबोध के तल पर व्यक्तित्व की प्रत्येक अभिव्यक्ति असंतोष की ही हो सकती है । आत्म-बोध ही संतुष्टि का दूसरा नाम है जिसकी प्रत्यक्ष अनुभूति समस्त असंतोष एवं कामनाओं की समाप्ति में होती है । बोध की यह अवस्था काम्य होने पर भी उपलब्धि की सीमा से परे ही रहती है । समस्त कामनाओं की संतुष्टि, जो कि प्रत्यक्षत: संभव नहीं है, होने पर भी यदि मात्र संतोष की कामना या अन्य कोई कामना शेष रह जाती है तो वह कामना मुक्ति की अवस्था नहीं हो सकती । आत्मबोध के प्रत्यक्ष अनुभूति से परे रहने का यह कारण भी है कि इस बोध के पश्चात् तो कुछ कहने की भी आवश्यकता नहीं रहती है अस्तु यदि यह अवस्था अनुभवगम्य हो तो भी उसका कोई प्रत्यक्ष प्रमाण प्रस्तुत किया जा सकता । यद्यपि इस तथ्य को भली भाँति स्वीकार किया जा सकता है कि जो कुछ प्रमाणों द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता है वह सब अस्तित्वहीनता नहीं होता है किन्तु यहाँ पर हम अपनी सीमा स्वीकारते हुए निवेदन करना चाहते हैं कि जब तक कामना

× रामधारी सिंह दिनकर, "मेरी काव्य यात्रा", रश्मि लोक, पृ, "ऊ", "ए".

का कोई भी रूप शेष रहता है वह आत्मबोध को प्रत्यक्ष स्थिति नहीं हो सकती । प्रच्छन्न आत्मबोध छद्म रूपों से व्यक्ति को सदा परिचालित किया करता है । दिनकर जी भी इस प्रच्छन्न आत्मबोध से परिचालित होते हुए भी जीवन को सम्पूर्ण अवधि भर अस्तित्वबोध के तल पर ही जीवित रहे ।

व्यक्तिगत परिवेश के साथ जुड़ी माटी की बद्धमूलता या सामूहिक अचेतन में संयोजित संस्कारों ने उन्हें राष्ट्रीयता से ज जोड़ा किन्तु उनकी अस्तित्वबोधिता का दूसरा सिरा रचनाधर्मिता की उर्वरता से जीवन प्राप्त करता रहा जहाँ एक ओर मृत्यु का प्रत्यक्ष भय उसके समूचे अस्तित्व को चुनौती दे रहा था तथा दूसरी ओर इस भय से मुक्त होने के लिए उसकी कुक्षि से अमृत का अविर्भाव हो रहा था । सागर मन्थन में उसके गर्भ से ही कालकूट विष और अमृत दोनों का आविर्भाव हुआ था । यद्यपि प्रच्छन्न आत्मबोध उन्हें पूरी जागरूकता से आगे ठेलता रहा किन्तु उनका अस्तित्व-बोध इतना प्रबल रहा कि वे जीवन के किसी स्तर पर संतोष का अनुभव न कर सके । राष्ट्रीयता उनकी परिस्थितियों एवं संस्कारों से उपजी थी किन्तु उनके जीवन की मूल धारा अस्तित्व के स्तर पर अर्थ और काम से निरन्तर जुड़ी रही । अर्थ की कमी का अनुभव वे प्रत्येक स्तर पर करते रहे । इस सम्बन्ध में उनकी डायरी से कुछ अंश उद्धृत करना अनुपयुक्त न होगा --

" 30 मार्च सन् 1971 । दिल्ली । ---

नौकरी में खट-पट शुरू हो गई है । चूहे मेरी शक्ति कुतरने लगे हैं । छह साल निभ गए यही बहुत है । "

× × × × × ×

" 17 अप्रैल, 1971 । दिल्ली ।

डाक्टर नगेन्द्र ने फोन पर खबर दी कि अमुक सज्जन कह रहे थे कि तुम्हारे स्थान के लिए प्रधान मंत्री का

सचिवालय आदमी खोज रहा है । सुनते ही मैं चौंक गया । अचानक यह क्या सुन रहा हूँ ? धोर तो मुझ से कहते थे, मेरे तीसरे टर्म के लिए प्रस्ताव बड़े जोर का गया है और मिनिस्टर मिर्धा ने उसका समर्थन किया है । ------ सहसा कुछ सोच नहीं सका । मगर भगवान से एक प्रार्थना कर बैठा, " माथे पर तीन पीतियों का भार है । यहाँ से हटाने पर भी कुछ करना होगा ।" मगर घर आकर चिंता बहुत हुई । इन्दरा जी के सभी भावों तोला, पिछली मुलाकात को याद की । मन ने यही गवाही दी कि वे रूठ नहीं होंगी । मगर वे मुझे हटाकर कोई दूसरा प्रबन्ध कर सकती हैं । ------ सारी जवानी संघर्ष में गई, बुढ़ापे में यह एक और विपद आ रही है ।

× × × × × ×

13 मई, 1971 (दिल्ली)

- ------- मेरी चिंता देखकर शाँति प्रसाद बोले, " अगर सरकार आपको घर दे दे, तो बाकी प्रबंध मैं कर दूँगा । "

× × × × ×

18 मई, 1971 (दिल्ली)

------- बच्चन जी आए । ----- आज उनसे कह दिया कि दिल्ली शायद छूटेगी । उन्होंने प्रधानमंत्री से खुद मिलने को कहा है ।

11 जून, 1971 (दिल्ली)

तीन बजे दिन में गृह सचिव का फोन आया कि आपका एक्सटेंसन नहीं हुआ । " ×

इस प्रकार के अनेक उदाहरण हैं जिनका गत पृष्ठों में भी उल्लेख किया जा चुका है यहाँ पर हम उनके असंतोष का एक उदाहरण और देना

× रामधारी सिंह दिनकर, " दिनकर की डायरी", पृ.165 से

चाहेंगे । श्री गोपाल प्रसाद व्यास और दिनकर जी की बात-चीत जिसका प्रकाशन " साप्ताहिक हिन्दुस्तान " के 12 मई, 1974 के अंक में हुआ था --

" न दिल्ली में रहने को जगह है न फोन है, न गाड़ी है । दुनियाँ भाग रही है । मुझे भी तुमसे फोन करने के लिए किसी दूसरे घर भागना पड़ता है । रहता कहीं हूँ । खाता कहीं हूँ । जिन्दगी का मजा नहीं रहा ।

मैं अन्दर ही अन्दर घुट मरा हूँ । अब विस्फोट होने - वाला है । ×

कविता का जन्म अभाव की कुक्षि से होता है । दिनकर आर्थिक रूप से तो असंतुष्ट थे ही काम के क्षेत्र में भी स्थिति वही थी । कामानुभूति का दृश्य पक्ष सौन्दर्यानुभूति है । नारी का सौन्दर्य उन्हें बराबर आकृष्ट करता रहा है । उदाहरण के लिए"उर्वशी " की यह पंक्ति दृष्टव्य है :-

" फूलों से यह मही पूर्ण है और चपल मधुकर है । " 2

इसे नारी सौन्दय और पुरुष की अदम्य लालसा दोनों का ही अत्यंत प्रभावशाली चित्रण कहा जा सकता है, किन्तु क्या यह उनके अपने मन की भूख न थी ? निश्चित रूप से यह उनकी अपनी स्थिति का ही यथार्थ चित्रण है,प्रमाणस्वरूप देखिए उनकी डायरी के ये अंश :-

10 नवम्बर, 1971 (पटना)

" ----- स्त्री के प्रति मैं थोड़ा विमुख था भी । असल में कुसंस्कारों के कारण मुझे उस समय भी भूख महसूस नहीं हुयी, जब मैं भूखा था । फिर यह भी था कि मेरा सारा ध्यान पूरे परिवार पर केन्द्रित था । अतएव अपनी पत्नी को

× सप्ताहिक हिन्दुस्तान, 12 मई, 1974.

2. रामधारी सिंह दिनकर, " उर्वशी", उदयाचल, 1978, पृ. 27.

ओर मैं ध्यान नहीं देसका । अब उसका फल भोग रहा हूँ ।"×

प्रत्यक्षत: दिनकर जी ने उपर्युक्त वक्तव्य में अपनी स्वाभाविक भूख से यह कहते हुए इन्कार किया है कि उनका ध्यान पूरे परिवार पर केन्द्रित था किन्तु इसके पूर्व के उनके डायरी के इस अंश पर हम ध्यान दें तो स्थिति दूसरी ही नजर आती है ----

12 सितम्बर, 1963 (दिल्ली)

" मेरे भीतर एक आग है जो बुझती नहीं है । तो फिर वह मुझे जला क्यों नहीं डालती ।

इस आग के रंगीन धुएँ में खुशबू है । उस धुएँ में पुष्प-मुखी आकृतियाँ चमकती हैं ।

सौन्दर्य के तूफान में बुद्धि को राह नहीं मिलती । वह खो जाती है । यह पुरुष की चिरन्तर वेदना है । "2

दिनकर जी ने अपनी डायरी में जहाँ अनेक महिलाओं की चर्चा उनके नामों के साथ की है वहीं एक स्थल पर संकेताक्षर में में "ग" का प्रयोग करते हुए, अपने मनके अन्तरद्वन्द्व को छिपाने के लिए निष्काम काम तथा भागवत के गोपी प्रेम की चर्चा करनक लगते हैं -----

8 सितम्बर, 1971 (पटना)

" "ग" की चिट्ठी आई, प्यार की रेखांकित है और अंत में स्नेहाकांक्षिणी लिखा है । संकेत है कि मैं आप का प्यार चाहती हूँ । " रास आरम्भ होने से पूर्व ही गोपियाँ सभी मनोरथों से ऊपर उठ गयीं थीं । रास के समय प्रवाहित मौन का वातावरण था । वह निष्काम आनन्द अथवा अकाम सुख का प्रतीक है । "उर्वशी " में मैंने निष्काम काम को क्लिष्ट

× रामधारी सिंह दिनकर, "दिनकर की डायरी. पृ. 250.

2. वही पृ. 92-93.

कल्पना की है । किन्तु वह भागवत की इस कल्पना से मेल खाती है । ×

प्रश्न उठता है कि संकेताक्षर " ग" द्वारा नाम को गोपन रखते हुए प्रेमाकांक्षिणों के पत्र का उल्लेख तथा उसके तुरन्त बाद उर्वशी को प्रेम चर्चा में निष्काम " काम" की चर्चा वस्तुत: अनेक अन्तर के असन्तोष को झाँकी है जो संतुष्टि एवं उदात्ता का अभिनय करती है ।

तथ्य तो यह है कि रसवंती में शिराओं में तपनेवाली अर्द्धपरिचित "आग"[2] ही "उर्वशी " में आकर फूट पड़ी है जिसकी आत्मस्वीकृति "हारे - को हरिनाम " में बहुविधि देखी जा सकती है । [3] अन्त में हम श्रीमती कमला रत्नम् के शब्दों में कहना चाहेंगे कि ---

" सारा जीवन वे प्रेम का सन्धान करते रहे, उसके मायाजाल में भटकते रहे उसके शब्द उसकी भूमिका खोजते रहे परन्तु प्रेम नहीं कर सके ।

दिनकर नारी के नानारव से आक्रान्त मानव थे । इन्द्रिय के सुखों से उठी नाना ध्वनियों को वे शरीर की शिराओं से पीते भी थे और उससे आगे किसी अव्यक्त आनन्द लोक में जीते भी थे । "[4]

अब तक हमने दिनकर के दस व्यक्तित्व को रेखांकित करने का प्रयास किया है जो अस्तित्वबोध के तलपर असंतोष से भरापुरा दृष्टिगत होता है किन्तु उनके व्यक्तित्व का एक दूसरातल जो अस्तित्वबोध से आत्मबोध की ओर यात्रा का प्रथम और अंतिम चरण कहा जा सकता है, भी दिखाई

× रामधारी सिंह दिनकर, "दिनकर की डायरी, पृ. 229.

2. " याद है वह पहला मधुमास
कोरकों में जब भरा पराग
शिराओं में जब तपने लगी
अर्द्ध परिचित -सी कोई आग ।"दिनकर,"रसवंती", उदयाचल, पटना, 1966, पृ. 10.

3. देखिए, दिनकर, "हारे की हरिनाम", पृ.9,15,36,39,40,42, 45 तथा 46. [4]. धर्मयुग, 20 सितम्बर, 1974.

पड़ता है । यह प्रथम और अंतिम चरण है -- समपर्ण का । "हारे को "हरिनाम " दिनकर का समपर्ण है । यह उस अस्तित्व का विसर्जन है जो कृतत्व के गर्भ से दीप्त रहता है आया था ।

आस्था को किरण का जन्म यदि नैरश्य एवं पीड़ा के क्षणों में फैलनेवाले गहन अन्धकार को कोख से भी हो तो शुभ है । जन्म और संभावना दो पृथक चीजें हैं । आस्था के जन्म को उसको संभावना को संज्ञा नहीं दी जा सकती । किसी भी कविता में बहुत संभव है आस्था को संभावना हो किन्तु वह आस्थावान कभी न हो पाए । आस्था का अर्थ किसी भी शक्ति में अपने को पूर्णरूप से स्थिर या समर्पित कर देना है । वस्तुत: विश्वास आस्था का पूर्वगामी होता है । विश्वास के अभाव में आस्था का उदय हो हो नहीं सकता । इसके साथ ही यह भी स्पष्ट होना चाहिए कि किसी शक्ति में विश्वास या ईश्वर ~~xxx~~ के प्रति अटूट श्रद्धा हो आस्था नहीं है आस्था उस भावना को भी माना जाना चाहिए जो शक्ति या ईश्वर के अस्तित्व का पूरे जोर से विरोध करती हों क्योंकि यह विरोध भी अन्तरमन को उस आस्था का ही द्योतक है जो स्वीकार से भरी हुई है नकारात्मक ध्वनि विरोधी भले ही प्रतीत हो किन्तु होता वह प्रकारान्तर से स्वीकार ही है । बोध के जिन क्षणों में हमं अपने अस्तित्व का बोध होता है उन्हीं क्षणों में मृत्यु का बोध भी होता है । जिजीविषा एवं मृत्यु-भय एक ही रस्सी के दो छोर हैं । एक को स्वीकारने पर दूसरे से बचा ही नहीं जा सकता । मृत्यु का भय जितना गहराता जाता है जिजीविषा उतनी ही धधकती जाती है । मृत्यु का पूर्ण स्वीकार भय-हीनता की सच्ची स्थिति है । दिनकर इस तथ्य से परिचित होने के पश्चात् भयमुक्ति के लिए शरणागति का मार्ग अपनाते हैं । शरणागति कायरता नहीं है । समपर्ण प्रत्येक स्थिति में पराजय का स्वीकार नहीं होता । समर्पण यदि मात्र विवशता के

कारण किया जाता है तो वह पराजय का स्वीकार है किन्तु आत्मबोध के क्षणों में किया गया समर्पण अहं अहंकार का विलय है । अहं ही अस्तित्वबोध है । या फिर अस्तित्वबोध का ही दूसरा नाम अहं है । अहं ब्रह्मास्मि तथा " तत्वमसि " दोनो ही इस अहं से मुक्ति के मार्ग हैं । अहंब्रह्मास्मि यदि अहं का अद्वैत विस्तार है तो " तत्वमसि " समर्पण की चरम सीमा । यही अस्तित्वबोध का विसर्जन है, आत्मबोध के प्रत्यक्ष अनुभव की अभिव्यक्ति है तथा परम की ओर (towards absolute) यात्रा का प्रस्थान विन्दु । प्रस्थान विन्दु इसलिए कि मार्ग इससे आगे भी होगा किन्तु उसे हम नहीं जानते । इसके आगे का कोई अनुभव इन्द्रियगम्य तो कदाचित हो भी किन्तु वाणी साध्य कदापि नहीं होता । स्यात् इस यात्रा क्रम में बोध भी छूट जाता है और फिर जो शेष रहता है वह है आत्म, "शुद्ध आत्म" (obsolute self) । यह शुद्ध विशेषण भी अतिरिक्त प्रतीत होता है इसलिए मात्र आत्म ।

उर्वशीकार के जीवन में, उसके व्यक्तित्व-विकास क्रम में आत्मबोध की यात्रा के विभिन्न सोपान इस प्रकार देखे जा सकते हैं :-

(1) प्रयासों की व्यर्थता का स्वीकार ---

" लेकिन मैं अपने अहंकार में
उड़ता ही गया ।
और जैसे ही सूर्य के पास पहुँचा,
मेरे पंख जल गए ।"×

× × × ×

" मुजरिम होकर
मुजरिमों को सुधारने का काम,
यह भी एक स्वाँग है
और यह स्वाँग हम सभी लोग
भरते हैं"। 2

× रामधारी सिंह दिनकर, " हारे को हरिनाम". पृ. 4

2. वही, पृ. 49.

" भूमिका तो मैने बहुत लम्बो लिखो,
मगर असलो किताब
खालो को खालो है ।"×

(2) मृत्यु का स्वोकार :-

" देख तुम्हारे मृत्यु दूत को डरूँ नहों
न्योछावर होने में दुविधा करूँ नहों । " 2

× × × ×

" अपनो चिता आप बनाकर सोने को बात । " 3

× × × ×

" सूरज पश्चिम को ओर ढुल रहा है ।
गरचे चिता अभो जलो नहों है,
मगर जिन्दगो से धुआँ निक्ल रहा है । " 4

× × × × ×

" आदमो भो मरता नहों,
लौटकर अपने घर जाता है ।
कौन कहता है कि वह
अनस्तित्व में खो जाता है । " 5

× × × × ×

" जिन्दगो न जन्म के साथ पैदा होतो है,
न मृत्यु के साथ मरतो है । " 6

× रामधारो सिंह दिनकर, "हारे को हरिनाम", पृ. 61.
2. वहो, पृ. 3.
3. 4. वहो, पृ. 6 तथा 8.
5. वहो, पृ. 33.
6. वहो, पृ. 54.

" जीवन से हम उतना प्यार नहीं करते,
जितना मृत्यु से डरते हैं ।
जीनेवालों का मूल्य थोड़ा होता है ।
कीमती वे बन जाते है,
जो मरते हैं"।×

§3§ अहं का विसर्जन :-

अस्तित्वबोध से आत्मबोध की यात्रा का महत्वपूर्ण विन्दु है - समर्पण । समर्पण यानी अपने अहं का विसर्जन । अहं का विसर्जन इसलिए क्योंकि अहं के जन्म के साथ ही आत्मा [2] से व्यक्ति का सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है ।

" जब अहम् जन्मा
स्वर्ग के साथ हमारा सम्बन्ध टूट गया ।
जिस ईश्वर के सानिध्य में
हम आनन्द मनाते थे
उसका संग छूट गया । " [3]

अस्तु आवश्यकता इस बात की है कि यह अहंकार नष्ट हो जाय ताकि पुनर्संयोजन सम्भव हो सके :-----

" चारो ओर से हारा हुआ
मैं पराजय का गीत गाता हूँ ।
अपना टूटा हुआ अहंकार
तुम्हारे चरणों पर चढ़ाता हूँ । " [4]

§4§ समर्पण :- अहंकार विसर्जन का परम सूत्र है समर्पण :-

× रामधारी सिंह दिनकर, "हारे को हरिनाम", पृ. 99.

2. आत्मा शब्द यहाँ परमात्मा के अर्थ में है । आत्मा यानी ऊर्जा का वह मूल रूप जिसकी व्याप्ति यह संसार है । -- लेखक ।

3.4. रामधारी सिंह दिनकर, " हारे को हरिनाम", पृ. 151 तथा 22.

" देवता, तुमने देह धरकर
मुझे लूटा है ।
फिर भी सन्तोष है
कि मेरा अहंकार
तुम्हारे चरणों पर टूटा है । "×

× × ×

" अब तो सब छोड़कर
तुम्हारे चरणों पर पड़ा हूँ
मन्दिर के बाहर पड़े पौधे के समान
तुम्हारे आँगन में धरा हूँ । "[2]

× × × ×

" रात-रात भर केवल
इस उन्मोद में जागता हूँ
कि तू आए और तेरे गोतों का कोष
तेरे चरणों पर धर दूँ ।"[3]

§5§ समर्पण के क्षणों का बोध :-

" द्वैताद्वैत से परे
मेरा यह विनम्र टेक है
प्रभो मैं और तुम,
दोनों एक हैं । " [4]

§6§ आत्मबोध की स्थिति :-

जिस दिन खोज शान्त होगी,
तुम आप से आप यह जानोगे
कि खोज पाने को नहीं
खोने को थी ।

× रामधारी सिंह दिनकर, "हारे को हरिनाम", पृ. 67.
2.3. वही, पृ. 5 तथा 78.
4. वही, पृ. 145.

" यानी तुम सचमुच जो हो
वही होने को थी । "×

इस प्रकार हम देखते हैं कि अस्तित्वबोध के तल पर हो रही समस्त खोज वस्तुत: आत्मबोध की है । आत्मबोध यानी अपने आप को पाने की है । अपने आप को पाने का अर्थ है अपने आपसे दूरी। दूरी के अभाव में पाने का प्रश्न ही नहीं उठता । यह दूरी अस्तित्व और परिवेश की है जिसके कारण स्थिति के विभिन्न रूप दृष्टिगत होते हैं । मार्गों की विभिन्नता गन्तव्य के स्वरूप को नहीं बदल सकती । उर्वशीकार के व्यक्तित्व और परिवेश के अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अस्तित्व का समस्त प्रयास आत्मोपलब्धि है । ऐसी स्थिति में दिनकर के समस्त काव्य की केन्द्रीयसमस्या व्यक्तित्व के समायोजन की है क्योंकि व्यक्तित्व के समायोजित होजाने का अर्थ है आत्मोपलब्धि ।

उर्वशीकार के व्यक्तित्व और परिवेश के अध्ययन के परिणाम स्वरूप हम जिन निष्कर्षों पर पहुँचते है वे इस प्रकार है :-

ऊर्जा के सतत् प्रवाह का नाम संसार है । वस्तुत: ऊर्जा का विस्तार ही विश्व है । अस्तित्व ऊर्जा की परिवेशीय अभिव्यक्ति है । संसार में मूल सत्ता से पृथक होने की पीड़ा, उसकी धूमिल स्मृति जो सामूहिक अचेतन के रूप में अभिव्यक्ति को परिवेष्ठित रखती है आत्मबोध है । परिवेश के प्रति जागरूकता तथा दूसरों (the others) के सम्बन्ध में अपना ज्ञान अस्तित्वबोध है । यह अस्तित्वबोध आत्मबोध द्वारा प्रच्छन्न रूप से परिचालित होने के कारण सदा एक विशिष्टता यानी पहचान की खोज में आकुल रहता है । पहचान की तलाश परिवेश के सामूहिक एवं व्यक्तिगत रूपों से प्रभावित होने के कारण विभिन्न रूपों में होती है । अस्तित्व अपने बोध के क्षण में ही पृथक्ता की पीड़ा और

× रामधारी सिंह दिनकर, "हारे को हरिनाम", पृ. 90.

संयुक्तावस्था के आनन्द की परिकल्पना के कारण एक ओर मृत्युबोध से भर जाता है । जिसका अनिवार्य परिणाम भय के रूप में देखा जा सकता है तथा दूसरी ओर संयुक्तता की स्थिति अपने सातत्य के रूप में प्रस्फुटित होती है जिसके परिणाम स्वरूप वह अर्थ और काम के क्षेत्र में प्रवेश करता है । पुनर्रचना की प्रक्रिया सातत्यता का प्रयास है जिससे होने वाली आनन्दोपब्धि उसे एक ओर देश और काल का अतिक्रमण करनेवाली समय शून्यता (timelessness) की स्थिति के आनन्द का आभास देती है तथा दूसरी ओर यही सातत्यता अमृत तत्व का सन्धान बनती है । पुनर्रचना की यह आकूल आकांक्षा प्राथमिक स्तर पर सौन्दर्यबोध की दृष्टि से युक्त होती है ।

जीवन रक्षा यानी अस्तित्व रक्षा के साधनों का व्यक्तिगत संकलन शक्ति के द्वारा संभव है । अर्थ और शक्ति का समुचित रूप सत्ता कहलाता है जिससे राजनीति की साथ-साथ अन्य नीतियों का जन्म होता है । प्रत्येक नीति की रचना समाज में कुछ इस चतुरता से होती रही है कि वह दूसरों के लाभ के लिए है जब कि स्थिति इसके विपरीत होती है । इस प्रकार अस्तित्व के चारों ओर विभिन्न परिवेशों का निर्माण होता चलता है । इन बहुआयामी परिवेशों के मध्य यात्रा करता हुआ व्यक्ति जिन-जिन बिन्दुओं पर दूसरों द्वारा देखा जाता है वे उसके व्यक्तित्व के स्तर कहलाते हैं जबकि व्यक्तित्व अपने द्वारा की जानेवाली अपने आप की (पूर्णत्व की) खोज है जिसका वाह्यविधान या प्राक्कल्पना दर्शन में ब्रह्म, आत्म तथा भक्ति में ईश्वर का रूप ग्रहण करती है ।

रामधारी सिंह दिनकर का जन्म जिस माटी पर हुआ था वह संस्कारों से विद्रोह की माटी है । यद्यपि व्यक्तिगत एवं देशगत परिस्थितियों ने --- राजनैतिक वातावरण ने --- उनके स्वर में आक्रोशमय गर्जन-तर्जन भर

कर उन्हें अनायास ही राष्ट्रीयता की धार के निकट ला खड़ा किया था जिससे मिलनेवाले सम्मान के सुखद स्पर्शों का परित्याग उनके लिए संभव न था फिर भी उनका सर्जक पुनर्रचना के तट पर रक्तिम उर्मियों का संगीत सुनने को आकुल था । यह सारी सृष्टि सारी प्रक्रिया अस्तित्वबोध के तल पर उभरती जा रही थी जब कि आत्मबोध उन्हें एक किनारे पर टिकने न देता था । उसका प्रच्छन्न अस्तित्व स्पष्ट स्वरों में यदि कहीं उभरा है तो " हारे को हरिनाम " में ।

हमने गत पृष्ठों में दिनकर के व्यक्तित्व परिवेश और काव्य - यात्रा के आधार पर स्थापित किया है कि उनकी समस्त काव्य यात्रा अस्तित्वबोध से आत्मबोध की रही है जिसकी मुख्य समस्या है व्यक्तित्व का समायोजन क्योंकि कृत्यों एवं कृतियों के माध्यम से जो झलकता रहता है वही व्यक्तित्व है । जब समस्त काव्य-यात्रा की केन्द्रीय समस्या व्यक्तित्व का समायोजन है तो " उर्वशी" उसका अपवाद कैसे हो सकती है ? अगले खण्ड में हम " उर्वशी " में उठनेवाली अन्य समस्याओं के मध्य उसकी केन्द्रीय समस्या पर विस्तार से विचार करेंगे ।

==========

×××××××

=

****

खण्ड : तीन

3. समस्या

3.1 तथ्य

3.1.1 तथ्य : एक

3.1.2 तथ्य : दो

3.1.3 तथ्य : तीन

3.1.4 तथ्य : चार

3.1.5 तथ्य : पाँच

3.2 अनुशीलन

3.2.1 अमरत्व की समस्या

3.2.2 व्यक्तित्व के विकास की समस्या

3.2.3 सौन्दर्यबोध की समस्या

3.2.4 काम की समस्या

3.2.5 नारी स्वत्व की समस्या

3.3 विश्लेषण

3.4 संश्लेषण

3.4.1 समस्या / समस्यायें

3.4.2 व्यक्तित्व संश्लेषण की समस्या का काव्य उर्वशी

3.4.3 आत्मसाक्षात्कार की समस्या का काव्य उर्वशी

0000
00

३. स - म - स्या

*

*

*

*

*

तथ्य

*

।

*

2

*

3

*

4

*

5

*

३.१ निमित्त कारण स्वरूप कलाकार की कृति उसका "कार्य" तथा समस्या "अमूर्त उपादन" कारण है । अमूर्तउपादान कारण कार्य में अविच्छिन्न भाव से सदा उसी प्रकार निहित रहता है जैसे घट निर्माण में उसकी आवश्यकता । अस्तु "कार्यानुशीलन" अमूर्त उपादान के सम्यक् ज्ञान के लिए आवश्यक है । "उर्वशी" कलाकार का कार्य है तथा समस्या उसका अमूर्त उपादान कारण इसलिए समस्या-बोध के लिए"उर्वशी" के कथ्य का यथावत् परिशीलन अपरिहार्य है । -० - ० - ० - ० - ० - ० - ० -

३.१.१. तथ्य : एक

पाँच अंकों में विभाजित " उर्वशी " को कथावस्तु का आरम्भ सूत्रधार द्वारा प्रकृति वर्णन से होता है । प्रकृति वर्णन प्रेम कथा को पृष्ठभूमि को उत्तेजना को तीव्रता तथा मनोदर्शन को गहनता के आयाम प्रदान करता है । मधुऋतु को ज्योत्सना में पुष्पों का संस्पर्श कर विचरण करतो मंद-मंद वायु मानव के प्रसुप्त प्रेम को सटीक उत्प्रेक्षा है । × समाधि को स्थिरता में मादकता का अचेतन प्रवाह [2] चेतना के नैरन्तर्य को व्यंजित करता हुआ उस मनोदर्शन का संकेत है जिसको अभिव्यक्ति मनुष्य का जोवन और उसके समस्त प्रयास होते हैं ।

प्रकृति के मोहक वातावरण को संगोतमय करतो हुई अप्सराएँ पृथ्वो के प्रतिष्ठानपुर स्थित पुष्पकानन में उतरतों हैं । ये अप्सराएँ अभुक्त प्रेम को ऐसो प्रतिमाएँ हैं देवताओं को रणक्लान्ति मात्र अपने कटाक्षों से हर लेतों हैं तथा स्वयं कामदेव के लिए भो काम्य हैं किन्तु अपनो काम-नाओं को पूर्ति स्वर्ग में न पाकर इस पृथ्वो पर आयों हैं । मनुष्य को यह मान्यता कि स्वर्ग लोक पूर्ण है वस्तुत: ठोक नहों है क्योंकि दोनो हो अभावपूरित हैं । उदाहरण के लिए याद पृथ्वो का मानव प्रेम को - स्पर्श से परे -- उसको अमूर्तता में भोगना चाहता है तो स्वर्ग को अप्सराएँ इस अमूर्तता से ऊब कर उसे स्पर्शों में जोना चाहतों हैं ।[3]

पृथ्वो को प्राकृतिक सुषमा परियों के आकर्षण का केन्द्र है । यह आकर्षण इतना प्रबल है कि उन्हें इस पृथ्वो को तुलना में स्वर्ग भो हेच प्रतोत होता है । पृथ्वो स्वर्ग के लिए ईर्ष्या का कारण बन जातो है । पृथ्वो

× " मन्द मन्द चलतो है नोचे वायु श्रान्त उपवन को ;
मद-विह्वल कामना प्रेम को, मानो अलसायो-सो
कुसुम-कुसुम पर विरम मन्द मधुगति में घूम रहो हो । "

2. " सुख को सुगम्भोर बेला, मादकता को धारा में
समाधिस्त संसार अचेतन बहता-सा लगताहै " उर्वशो, पृ. ।

3. देखिए फुट नोट ३

के प्रति अप्सराओं का यह आकर्षण दोनों लोकों के अन्तर का आकलन करना चाहता है । प्रत्यक्षत: पृथ्वी का सौन्दर्य मरणधर्मा है जबकि स्वर्ग का सौन्दर्य चिरन्तनता का पर्याय, परन्तु पृथ्वी की नश्वरता श्रेष्ठ है क्योंकि इसमें संस्पर्शमय संयोग सुलभ है । देवत्व की अमूर्तता ही उसकी विवशता है । इतना ही नहीं स्वर्ग में रूप का भोग भी सतृष्ण नयनों से ही संभव है । इस तृष्णाजनित पीड़ा का उपचार स्वर्ग की अमूर्तता में उपलब्ध नहीं जबकि धरती की नश्वरता ऐसी किसी विवशता में आबद्ध नहीं है । यह तो पूर्णत: मानव के वश में है कि वह स्वेच्छा से अमूर्तता का अनुभव कर सकता है तथा स्पर्शों का सुख भी भोग सेता है । शाश्वत्ता यदि अभुक्त मानस की ही सृष्टि करती है तो वह नश्वरता की तुलना में काम्य नहीं हो सकती । उन्माद की क्षणिक तरंग भी चिरकालीन शान्ति के स्थान पर वर्णेय है ।

अप्सरा मेनका द्वारा इस प्रकार पृथ्वी की महिमा को श्रेष्ठ सिद्ध करने पर अप्सरा सहजन्या को सहज ही उस उर्वशी की याद आती है जो स्वर्गलोक की अप्सरा होते हुए भी मिट्टी के मोहन के प्रणय-पाश में अबद्ध होने के कारण मर्त्यों की महिमा गाया करती थी । इस प्रसंग के साथ ही रंभा उर्वशी की अनुपस्थिति का अनुभव करती है तथा उसके साथ न आने का कारण पूछती है । सहजन्या उर्वशी और पुरुरवा के प्रणय प्रसंग की कथा इस प्रकार सुनाती है :-

एक दिन जब उर्वशी अपनी सखियों के साथ कुबेर के घर से वापस आ रही थी तभी उस पर एक दैत्य की दृष्टि पड़ी जो उसके रूप पर रीझ कर उसे बलात् अपहृत कर ले चला । इस घटना से संत्रस्त अप्सराओं ने रक्षा के लिए पुकार की । इस पुकार को एक राजा ने सुना और वे सदय राजा अविलम्ब उर्वशी की रक्षा के लिए दौड़ पड़े । उनके पराक्रम से दैत्य पराजित हुआ तथा उर्वशी मुक्त ।

ये राजा ‡ पुरुरवा ‡ बड़े ही वीर, सुन्दर तथा देवताओं से भी अधिक मनोमुग्धकारी हैं इसीलिए उर्वशी --- जो विश्व नर की तृषा है तथा जिसे प्राप्त करने के लिए प्रत्येक जन व्याकुल है -- स्वयं उस पर आकृष्ट हो गई है और अब स्वर्ग को छोड़ कर पृथ्वी पर अपने प्रियतम के अंक में समाने के लिए आकुल है ।

स्वर्ग के अभिजात्य से अभिभूत रंभा को उर्वशी की पृथ्वीवास की आकुलता कुछ विचित्र सी प्रतीत होती है । वह प्रश्न करती है कि क्या अब उर्वशी सदा भू पर रहेगी तथा मानवों के समान ही धरती की पीड़ाओं को भोगेगी ?

सहजन्या उत्तर देती है कि उर्वशी के प्राणों में जिस प्रेम का उदय हुआ है उससे उसकी समस्त शिराओं में एक ऐसी मधुज्वाल धधक उठी है जो उसे स्वर्ग लोक में रहने ही न देगी । वह निश्चित रूप से प्रिय के अंक में उसे खींच लाएगी ।

प्रेम से अपरिचित रंभा पुन: प्रश्न करती है कि क्या प्रेम ऐसा कठिन होता है ?

सहजन्या का उत्तर है कि -- इसमें विस्मय ही क्या है ? कहा जाता है कि पृथ्वी पर होने वाले समस्त रोगों में प्रेम अत्यंत कठिन होता है । इससे ग्रस्त व्यक्ति की आँखों से नींद उड़ जाती है । उसके दिन रोने में तथा रातें आहें भरने में कट जातीं हैं । मन उसका खोया-खोया रहता है, आँखें आँसुओं से भरी-भरी रहती हैं और सिक्त पुत्तलिकाओं के पट पर प्रिय का चित्र निरन्तर अंकित रहता है । उर्वशी की भी कुछ दिनों से यही स्थिति है । वह खोई-खोई सी लगती है । शरीर से यद्यपि वह जाग्रत प्रतीत होती है किन्तु उसका मन स्वप्निल कुंजों में ही सोया रहता है । वह अन्यमनस्क सी देर तक खड़ी-खड़ी पुष्पों की पंखुड़ियाँ

तोडा करतो है और ऐसो स्थिति में उसे नेत्रों से ढुलकते आँसुओं का भो बोध नहीं रहता । उसका कमल रूपो मुख मुस्कान के अभाव में अभाहोन प्रतोत होता है । समस्त संसार को मोहित करनेवालो उस लक्ष्मो का मुख जो चन्द्रमा के समान आभामय था अब निष्प्रभ प्रतोत होता है । उसके वे नूपुर जिनको झंकारों से स्वर्ग में चहल-पहल मच जातो थो, योगियों को साधना तथा सिद्धों को समाधि भंग हो जातो थो -- आज मौन हैं जिसके कारण न तो देव-सभा में लास्य को लहर है न स्वर्गलोक में आनन्द । जिस समय उर्वशो हमें छोड़कर चलो जाएगो उस समय क्या होगा ?

सहजन्या के इस प्रश्न का सोधा उत्तर रंभा यह कह कर देतो है कि तब आज जो आनन्दहोन -सो पृथ्वो को स्थिति है वहो स्वर्ग को होगो तथा उर्वशो के स्वर्गलोक में रहने से जो आनन्द को धारा वहाँ सदा प्रवाहित रहतो थो अब पृथ्वो पर बहने लगेगो । इसो समय रंभा को अपने अप्सरत्व का स्मरण होता है और वह कहतो है कि अप्सराओं के लिए एक पुरुष के प्रति इतनो आकुलता का औचित्य चिन्त्य है । क्या हम मानुषो हैं कि प्रणय के अंकुरित होते हो हमें एक पुरुष के लिए समर्पित हो जाना चाहिए, उससे संबद्ध हो जाना चाहए ? प्रेम जो मानवो के लिए एक संपत्ति हो सकतो है अप्सराओं के निकट उसका महत्व खेल से अधिक नहीं होता । हमारा जन्म हो एक के स्थान पर सभो को प्रसन्न करने के लिए हुआ है । कदचित कभो हमारे मन में यदि मिलन को आकांक्षा हुई भो, जो प्राय: शरोर के स्तर पर हो होतो है मन के स्तर पर नहीं, तो उसे क्रोड़ा से अधिक महत्व नहीं दिया जा सकता । अनेक जनों को अपने संसर्ग सुख से सन्तुष्ट करनेवालो अप्सराओं का किसो एक व्यक्ति विशेष के अंक में स्थाई रूप से समा जाना उचित नहीं प्रतोत होता । और फिर जिस धरतो पर उर्वशो आना चाहतो है उसको व्यथा का उसे ज्ञान नहीं है ।

सहजन्या सहज हो यह समझ नहीं पाती कि उर्वशी को पृथ्वी पर कोई व्यथा भी हो सकती है । इसके विपरीत उसकी मान्यता है कि पृथ्वी पर अपने प्रियतम के अंक में उर्वशी को सुख ही होगा ।

रंभा का अभिजात्य पृथ्वी के जीवन को सुखमय स्वीकार करने के लिए कदापि प्रस्तुत नहीं यद्यपि प्रिय की सान्निध्यसुख को वह अस्वीकार नहीं करती । इसीलिए वह कहती है कि यहाँ - यानी पृथ्वी के प्रेम की मादकता में भी यातना है क्योंकि इस प्रेम की अनिवार्य परिणति स्त्री के मातृत्व में है जिसके कारण स्त्री का यौवन समाप्त हो जाता है, उसके नेत्रों में उगने-वाले नए-नए स्वप्नों की सुकोमल इन्द्रधनुता चुक जाती है, तथा रोग-शोक एवं सन्ताप के साथ ही उसे जराग्रस्त भी होना पड़ता है । अल्प लोभ के लिए इतनी विपदाओं को ढोना क्या बुद्धिमत्ता हो सकती है ? सहजन्या रंभा द्वारा उठाए प्रश्नों में उलझ जाती है तथा उसकी इस सहमति पर रंभा मानवी मातृत्व को लेकर नारी की विश्यता का और तीव्र एवं बेधक चित्र प्रस्तुत करती है हुई अप्सरा द्वारा मनुष्य से किए जाने वाले प्रेम की भर्त्सना करती है । किन्तु तभी एक अन्य अप्सरा मेनका मातृत्व को नारी जीवन की सार्थकता बताती हुई कहती है कि नारी का मातृत्व ही उसे नश्वर शरीर में असीमता प्रदान करता है । सृजन का सौन्दर्य ही उसकी दृष्टि में सच्चा सौन्दर्य है ।

इसी समय उनकी अन्य सखी चित्रलेखा इनके निकट आती हुई उन्हें मिट्टी के आकर्षण का बोध कराती है । चित्रलेखा के प्रति उसकी सखियों में जिज्ञासा है, वे जानना चाहती हैं कि इस समय इतनी क्लांत चित्रलेखा कहाँ से आ रही है ? इस पर चित्रलेखा उन्हें कारण बताती हुई कहती है ----

उर्वशी को अपने प्रियतम को प्राप्त करने की विकलता ही उसके विलम्ब से आने का xx कारण है । आज सांयकाल से ही उर्वशी अपने

प्रिय को प्राप्त करने के लिए अत्यंत विक्ल थो । उसे देव लोक में किसो भो प्रकार शाँति का अनुभव नहों हो रहा था । प्रेम को विक्लता के कारण उसे स्वर्ग स्वप्न का जाल प्रतोत होता था जब कि उसे सत्य के स्पर्श को तलाश थो । स्वर्ग को अमूर्तता उसे व्यर्थ प्रतोत होतो थो अस्तु उसके दु:संकल्पों से भयभोत मैं उसे उसके प्रिय राजा पुरूरवा के प्रमदवन में सब को आँख बचाकर छोड़ आई हूँ ।

रंभा को जिज्ञासा कि उर्वशो को उसके प्रियतम से मिलाए बिना चित्रलेखा क्यों छोड़ आई, चित्रलेखा बतातो है कि अभो राजा से मिलने उसको रानो आई हुई थो उसके जाने पर हो उर्वशो राजा के सम्मुख प्रकट होगो ।

रंभा राजा को पत्नो को लेकर शंकित होतो है उसको शंका का समाधान करते हुए चित्रलेखा कहतो है कि राजा का प्रणय एक नारो में स्थित नहो हो सकता । उनके प्रेम के लिए नूतनता आवश्यक है । पत्नो का कार्य मात्र कुल पोषण करना होता है वह सन्तान को माता तो बन सकतो है किन्तु पुरुष को सौन्दर्याकांक्षा को तृप्त नहों कर सकतो, किन्तु पुरुष का सौन्दर्याभिलाषो मन नवोनता का आग्रहो होता है । पुरूरवा को सौन्दर्यान्वेषो प्रकृति के लिए उर्वशो के अतिरिक्त अन्य कोई उपयुक्त पात्रो हो हो नहों सकतो । अस्तु वहो राजा के सम्पूर्ण प्रणय को अधिकारिणो होगो ।

सहजन्या प्रेम को इस सम्पूर्णता के संसार को ऊपर स्वर्ग को संज्ञा देतो है किन्तु मेनका का मन अभो भो शंकाग्रस्त है । उसको शंका प्रेम को समता को लेकर है । वह इस तथ्य को तो स्वोकार करतो है कि उर्वशो पुरूरवा के प्रेम में है किन्तु क्या पुरूरवा का प्रेम भो उर्वशो के प्रति उतना हो तोव्र है जितना कि उर्वशो का । रंभा अपनो सखो चित्र-लेखा से एतत् सम्बन्धो प्रमाण चाहतो है ।

***

3.12. दृश्य : दो

पुरूरवा को रानी औशीनरी द्वारा पति प्रेम को प्राप्त करने के लिए किए गए प्रयत्नों चन्द्र की उपासना एवं पति का पूजन --- के बावजूद भी पुरूरवा उर्वशी के साथ चले गए ऐसी सूचना औशीनरी को उसके राज भवन में ही प्राप्त होती है । इस नियति के व्यंग्य के अतिरिक्त और कोई संज्ञा दी भी क्या जा सकती है ? औशीनरी जानना चाहती है कि उसके पत्यार्चन के पश्चात् जब उर्वशी प्रमदवन में आई तो क्या हुआ ? सखी निपुणिका के संकोच व्यक्त करने पर वह कहती है व्यथाओं को सहने के लिए बना है । अच्छा उस अप्सरा ने राजा को सौन्दर्य के बल से आकृष्ट किया अथवा किसी दैवीय माया के बल से ।

उर्वशी राजा को अपने सौन्दर्य बल से ही आकृष्ट करने में सफल रही । उसका सौन्दर्य असाधारण है तभी तो महाराज उसके साथ आजीवन विचरण की बात कर सके । औशीनरी निपुणिका से इस आजीवन संग विचरण की बात से विचलित होकर अपने जीवन को व्यर्थ समझ उसे त्यागना चाहती है किन्तु तभी उसे निपुणिका द्वारा मंत्रियों से कही गई राजा की बात --- कि एक वर्ष गन्धमादन पर विचरण करने के पश्चात् वे पुत्र लाभ के लिए नैमिषेय यज्ञ करेंगे -- ज्ञात होती है । निपुणिका कहती है, " महाराज भले ही प्रेयसी के वशीभूत हो विचरण करते रहें किन्तु यज्ञ आदि कार्यों का सम्पादन परिणीता पत्नी के अभाव में सम्पादित नहीं हो सकता । इसलिए इस धर्म की रक्षा के लिए आपको जाना होगा । "

औशीनरी अप्सरा के कृत्य पर पश्चाताप करती है । पूर्वजन्म के अपने कर्मों को अपनी वर्तमान स्थिति के लिए उत्तरदायी ठहराती है तथा अप्सराओं के इस कृत्य को परिणाम विपरीतता की ओर संकेत करती है तथा कहती है इन प्रवंचिकाओं का एक ही कृत्य जहाँ पुरुषों को सुख देता है वहीं कुल-वधुओं को मर्मान्तक पीड़ा ।

निपुणिका पुरुरवा - उर्वशी विलास का ईषत् चित्रण करती है तथा मदनिका प्रेम के उस महिमावान क्षण का, जब नारी को सत्ता नर पर प्रभावशाली सिद्ध होती है । अनुराग पूर्ण प्रणय के मादक क्षणों में नारी असंभव को भी संभव में परिवर्तित करा सकती है । पुरुष का उद्दाम वेग जहाँ अद्भुत कार्यों के सम्पादन में सक्षम होता है वहीं स्त्री उस आवेग को प्रकट नहीं करना चाहती । उसका आवेग कम से कम पुरुषों के आवेगमय क्षणों में तो प्रकट होता ही नहीं स्यात् वह उस आवेग के ज्वार को बन्धन में समेट कर रखना चाहती है ।

औशीनरी नारी के इस आवेग पर टिप्पणी करती हुई कहती है " ऐसा नहीं कि नारी में इस आवेग का स्फुरण हो न होता हो । वह होता अवश्य है किन्तु जिस समय नारी का यह आवेग अपने चरम विन्दु का स्पर्श करता है उस समय तक पुरुष का आवेग प्रशमित होने लगता है । यह नारी का दुर्भाग्य है । कामनाओं की अपूर्णता एक ऐसी विवशता को सृष्टि करती है जिसकी अभिव्यक्ति मात्र आँसुओं में सम्भव है । और मेरे लिए अब मात्र यही एक मार्ग है । "

निपुणिका मध्यस्थता करती हुई कहती है, " आपको त्यागकर क्या महाराज स्वयं वियोग का अनुभव नहीं करेंगे । आखिर आप जैसी नारी त्यागकर वे स्वर्ग लोक की वेश्या की उपासना कब तक कर सकेंगे ?"

--- औशीनरी कहती है -- " प्रेम के हृदय को एक बहुत बड़ी उलझन होने के कारण इस सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि मन सदा दूरस्थ एवं अलभ्य वस्तुओं के प्रति ही आकृष्ट होता है । "

मदनिका इस कथन का समर्थन करती हुई कहती है --" इतना ही नहीं पुरुष की प्रवृत्ति भी नूतनता की ओर ही आकृष्ट होने की ही है ।

प्रेम में उसका मन सदा नवीनता का अन्वेषण किया करता है । प्राप्त वस्तु से उसे संतोष नहीं होता । उसका संतोष नवीनता के लिए किए जाने वाले संघर्ष में है । पुरुष अतृप्ति के वश में रहता है उसे तृप्ति से वितृष्णा होती है । वह नारी जो सदा उसे अतृप्त रख सके पुरुष उसके वश में रहता है । "

औशीनरी मदनिका के कथन से सहमत होती हुई उसके कथ्य को पुष्टि यह कह कर करती है - -" गृहणी अपने समर्पण के कारण सब कुछ हार जाती है जब कि अप्सरा उसे अतृप्त रखकर उसपर अपना स्वमित्व रखती है । इसलिए मैं अप्सरा साधरण नारी होते हुए भी विजयनी हुई तथा मैं रानी बन कर भी उससे पराजित हुई । "

निपुणिका जानना चाहती है कि इतने अनुभव और विज्ञता के होते हुए भी औशीनरी ने अपने पति पर यथेष्ट नियंत्रण क्यों नहीं रखा ?

औशीनरी का सपाट उत्तर है कि उसने सभी सम्भव प्रयत्न किए हैं । ऐसा कुछ भी अवशेष नहीं जो उसने समर्पित न किया हो किन्तु फिर भी पति के प्रेम को न पा सकी ।

मदनिका औशीनरी के व्याज से प्रेम को उस महत्ता को प्रस्तुत करती है जो शरीर का अतिक्रमण कर जाती है, जिसके निकट शरीर की स्थिति निमित्त कारण होते हुए भी महत्वहीन हो जाती है । × वह पुरुष की चंचलता तथा नारी की महत्ता का भी वर्णन करती है ।[2]

औशीनरी नारी के लिए पति को भी एक मात्र आधार मानती

× " वपु तो केवल ग्रन्थ मात्र है, क्या हो काय मिलन से ?
तन पर जिसे प्रेम लिखता, कविता आती वह मन से ।

2. " असफलता में उसे जननि का वक्ष याद आता है,
संकट में युवती का शय्या-कक्ष याद आता है ।
संघर्षों से श्रमित - श्रान्त हो पुरुष खोजता विह्वल
सिरधर कर सोने को क्षण भर, नारी का वक्षस्थल । "
--- उर्वशी, पृ. 26-27.

हुई कहतो है," जब तक स्त्रियों को यह पराधोनता है तब तक उनको व्यथा समाप्त नहों हो सक्तो उन्हें अपनो पोड़ा के क्षणों में भो प्रसन्नता का अभिनय करना होगा तथा प्रसन्नता के क्षणों में -- जब मन पर अवसाद को घटा छा जायेगो तो उसको अभिव्यंजना भो आँसुओं में हो करनो होगो । " इसो समय कंचुको पुरुरवा का संदेश औशोनरो से निवेदित करता है । संदेश में पुरुरवा जहाँ गन्धमादन [illegible] का प्राकृतिक सौन्दर्य तथा अपनो कुशलता को व्यक्त करता है वहों उसके मन को अस्वस्थहोनता [illegible] को वह पोड़ा भो अभिव्यंजित होतो है जिसके लिए वह औशोनरो को प्रार्थनारत रहने का निर्देश देता है ।

औशोनरो के मन का अवसाद इस विचित्र संदेश से और [illegible] गहनतर हो उठता है वह पुरुष के इस न्याय पर हतप्रभ होते हुए भो पत्नो पद से पति के लिए मंगल कामना करतो है ।

O O O O O O O O O
O O O O O O O O
O O O O O O O
O O O O O O
O O O O O
O O O O
O O O
O O
O

3.1.3 तथ्य : तीन

गन्ध मादन पर पुरुरवा और उर्वशो के सम्भोग के क्षण मरुद्वति से अतीत के गह्वर में विलीन होते जा रहे हैं । पुरुरवा संभवत: कुछ कहने को आकुल है किन्तु उसे वार्तालाप का सूत्र हो नहो मिलता ।× वह आनंदित मन से आनन्द का साक्षो भर बनकर रह जाता है । उर्वशो संयोग के पलों को द्रुतगति का समर्थन करतो है तथा वियोग के पलों को विस्तृत अवधि को चर्चा भो । उसे शिकायत है कि पुरुरवा के प्रेम -पाश में आबद्ध हो उसे हो नारो को मर्यादा का परित्याग कर भूतल पर आना पड़ा जब कि पुरुरवा महलों में बैठा समस्त सुखों का उपभोग करता रहा ।

पुरुरवा उर्वशो के आने को कृपा के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करता हुआ स्वंय अपनो वियोगावस्था का वर्णन करने लगता है । अपनो निष्क्रियता का औचित्य वह यह कह कर सिद्ध करता है कि, " उर्वशो"का शरोर पाना उसके प्रेम को पाना न होगा तथा सौन्दर्य को वह सुषमा, जो सुगन्धयुक्त होने के साथ हो त्रिकाल और त्रिभुवन को प्राणवत्ता का उत्स भो है, को नश्वरता को किस मुजूषा में समोया जा सकता है । पुरुरवा अपने प्रेम को वह आस्था भो व्यक्त करता है जो अमूर्त होते हुए भो इतनो प्रभावशालो तथा प्रचंड उष्णता से युक्त है कि उससे उर्वशो का मन द्रवित हो उठेगा और वह भूतल पर उसके निकट अवश्य आएगो ।

उर्वशो प्रेम को महिमा को स्वोकार करतो है किन्तु इसको निष्क्रियता को सराह नहीं पातो । नारो का सुख और मान पुरुष के उद्दोप्त पौरुष में है इसको निष्क्रियता या लिजलिजेपन में नहीं । गोपन

× " अर्थ नहीं सूझता मुझे अपनो हो विकल गिरा का ;
शब्दों से बनतो है जो मूर्तियाँ तुम्हारे दृग से
उठनेवाले क्षोर ज्वार में गलकर खो जातीं हैं । "उर्वशो "पृ.31.

प्रेम अपनी गरिमा में महत्वपूर्ण नहीं होता वह जानना चाहती है कि यदि पुरूरवा उसे अपने सखा इन्द्र से, क्षत्रिय होने के कारण, माँग नहीं सकता था तो क्षत्रियोचित ढंग से उसका अपहरण तो कर सकता था । पुरूरवा ने ऐसा न करके जिस निष्क्रियता का परिचय दिया है वह श्लाघनीय नहीं हो सकती ।

पुरूरवा अपनी निष्क्रियता का औचित्य कर्मकी निस्संगता और अनासक्ति के माध्यम से देता है । वह भोग के लिए आकुल होते हुए भी अपनी आकुलता पर अनासक्ति का, निस्पृहता का आवरण डालता है । वह अपनी निष्क्रियता को पुरुष मन की दार्शनिक अपराजेयता की संज्ञा देना चाहता है । अनासक्त नारी सौन्दर्योपभोग से पुण्य अर्जन के द्वारा पवित्र होने की बात करता है ।

उर्वशी का नारी मन इस निष्क्रियता के अनासक्त दर्शन से विचलित हो उठता है वह सम्भावित अमूर्तता से त्रस्त हो उठती है । स्पर्शों की विद्युन्मयता जैविक तरंगों की सजीवता का अपमान उसे कचोटने लगता है । × वह पुरूरवा में मानव की द्विधाग्रस्तता देखकर भयभीत हो उठती है । वह उस अंकुश को जानना चाहती है, उस कारण को जानना चाहती है जिसका प्रतिफलन इस द्विधा में होता है । मनुष्य की यह द्वन्द्वग्रस्तता न तो उसे जैविक तल पर संस्पर्शजनित सुखों को ही भोगने देती है और न ही उसे देवत्व की उपलब्धि करने देती है ।

× " वह विद्युन्मय स्पर्श तिमिर है, पाकर जिसे त्वचा की
नींद टूट जाती, रोमों में दीपक बल उठते हैं ?
वह आलिंगन अंधकार है, जिसमें बंध जाने पर
हम प्रकाश के महासिन्धु में उतराने लगते हैं ?
और कहोगे तिमिर-शूल उस चुम्बन को भी जिससे
जड़ता की ग्रन्थियाँ निखिल तन-मन की खुल जातीं हैं ?

--- " उर्वशी", पृ. 35.

पुरुरवा उस अंकुश को कोई नाम दे पाने में अपने को असमर्थ पाता है। वह मात्र उन अनुभूतियों को ही व्यक्त करता है जिनको परस्पर विषमता उसे एक निश्चित दिशा में गमन करने से रोकती हैं।

" उर्वशी " उसके समक्ष एक ऐसे पूर्ण विधु के समान उपस्थित है जिसमें सौन्दर्य का अमृत भराहुआ है। संस्पर्शों कोजोने की कामना मनुष्य की जैविकता, उसे इस सौन्दर्य के पूर्णोपभोग के लिए उत्साहित करती है किन्तु सौन्दर्य की अपार्थिवता उसे पार्थिव मार्ग द्वारा ग्रहण में अन्तर्बाधा उपस्थित करती है। अपार्थिव या अमूर्त को मूर्त साधनों द्वारा उपलब्धि किया ही नहीं जा सकता। उसका ज्ञान उपभोग के चरम क्षणों में उसे अवश कर देता है। वह सौन्दर्योपासना के मार्ग का अनुसंधित्सु बन संशय में ऊभ-चूभ होने लगता है। सौन्दर्य की अपार्थिवता उसेआकर्षण से भर देती है तथा उपभोग की पार्थिवता उसके अन्दर द्वन्द्व को सृष्टि करती है। सौन्दर्य की अमूर्तता अपने अमूर्तत्व में उसे इतना आकृष्ट करती है कि वह सौन्दर्य एवं उपभोग जन्य स्पंदनों को पूर्णत: जीना चाहता है किन्तु उसकी भौतिकता तथा उपभोग के पार्थिव साधन या मार्ग अपनी क्षणिता के कारण उसके अन्दर विकर्षण उत्पन्न करते हैं। अमूर्तता का अनुभव भोक्ता मन का सत्य हो सकता है किन्तु इससे इसका अमूर्तत्व मूर्तत्व में परिवर्तित नहीं होता। वह अमूर्त ही रहता है जो भौतिक स्तर पर अपनी सत्ता को सिद्ध करने के लिए मूर्तता का प्रश्रय ग्रहण करता है। पुरुरवा के मानव को वाह्य भौतिक जगत और उसकी सत्ता अपनी भौतिकता में अद्भुत शक्ति से आकृष्ट करती है।

भौतिक सौन्दर्य के प्रति अनुभव होने वाले इस आकर्षण के प्रति पुरुरवा पुन: शंकित हो आता है कि यह आकर्षण इस भौतिक जगत के सौन्दर्य का है अथवा उसके अपने रक्त से उठनेवाली लोल लहरों के संगीत की झंकृति। रक्त संगीत की इस झंकृति में अतीतकालीन संयोग की अनेक स्मृतियाँ निहित हैं जिनके कारण स्पर्श-सुख की आकांक्षा पुन: जागृत हो

उठती है । और वह अमूर्तता से मूर्तता के जगत् में जैविक संतुष्टि खोजता पुनः लौट आता है एवं सौन्दर्य को उसकी भौतिकता में भोगने का प्रयास करता है । इस प्रयास से उपलब्ध होनेवाले तृप्ति के कतिपय क्षण उसे नींद की विश्रान्ति में डुबो देते हैं ।

परन्तु इस डूबने में शाश्वतता का अभाव है । कुछ ही पलों में पुनः उसके अन्तर में अमूर्तता की कामना जाग उठती है जिसके कारण वह अतृप्ति जनित व्याकुलता का अनुभव पुनः करने लगता है ।

एक बार फिर पुरुरवा सौन्दर्य की भौतिकता में डूब जाता है । डूबने के इन्हीं क्षणों में उसकी लुप्त होती चेतना अपने जागरण के प्रयास में जैविक आकर्षण की प्रबलता के समक्ष एक पराजय का अनुभव करती है । वह अपने आप को पुष्पकोमल तन्तुओं से आबद्ध पाता है । अमूर्तरूप से आनन्द के शाश्वत भोग की कामना उसे जैविक क्षणता से मुक्त होने के लिए उत्तेजित करती है साथ ही जैविक आकर्षण अपने ऐन्द्रजालिक सम्मोहन की शक्ति बल से उसे मूर्त एवं नश्वर से बाँध रखता है ।

मुक्ति के प्रयास में उसे अपनी भौतिक शक्ति का स्मरण होता है किन्तु उसकी असफलता उसे पुनः सौन्दर्य के भौतिक आयाम से संयुक्त रहने के लिए विवश कर देती है । वह शरीर के स्तर पर शरीर की विभ्रान्ति के अतिरिक्त मन की विश्रान्ति का भी अनुभव करने लगता है ।

नश्वर मनुष्य देवत्व की सीमा में प्रवेश पा ही नहीं सकता । गन्धों के घेरे में जीने की उसकी कामना या समर्थ अर्थहीन अभिव्यक्ति है क्योंकि अमूर्तता का जगत् शीतलता का ऐसा संसार है जहाँ कामनाओं की उत्तप्तता का कोई अनुभव प्राणों पर जमें हिम को द्रवित नहीं करता । देवत्व की अमरता -- उसकी शाश्वतता काम्य है किन्तु मनुजत्व की मरण-धर्मिता अनुभवों की क्षणता तथा उस क्षणता जनित आनन्द के अवगाहन की

मूर्त कामनाओं को शून्य में विसर्जित नहीं किया जा सकता । ऐसी स्थिति में सन्तोष की कामना व्यर्थ है । असंतुष्टि की यह अग्नि जीवन की ऐसी ज्वाला है जिससे उस समय तक मुक्त नहीं हुआ जा सकता जब तक प्रेम को शाश्वता की उपलब्धि न हो जाय । किन्तु अमूर्तता तथा मूर्तता के मध्य पुरूरवा अपने आप को मूर्ताश्रित होने के कारण संतुष्ट अनुभव करता है । वह नश्वर भौतिकता के मध्य शाश्वत अमरता की कामना करता है तथा उसकी उपलब्धि के लिए पूर्ण समर्पण के लिए अपने को प्रस्तुत करता है ।

देवलोक की अप्सरा निस्संकोच स्वीकार करती है कि देवत्व की धारा में कामनाओं के उत्ताप का अभाव है । कामनाओं के द्वन्द्वों एवं उसके उत्ताप से मुक्ति की स्थिति देवत्व की अवस्था है । किन्तु पुरुष की यह दाहकता उसके अन्तर की यह ज्वाला ही तो मनुष्य की विशेषता है । मनुष्य की मनुष्यता का रहस्य उसकी क्षणता और इस क्षणता को पूरे वेग से , संवेगों की उद्दामता से आप्लावित जिजीविषा से जी लेने की कामना है । मनुष्य अपनी इस विशेषता के कारण ही अप्सराओं के लिए भी काम्य है । पौरुष की यह भावना ही मनुष्य की गरिमा को उज्जवलता का आयाम प्रदान करती है । उर्वशी को भय है कहीं अमरत्व की चिन्ता अपनी शीतलता से पुरूरवा के वैश्वानर को समाप्त न कर दे । एक से दूसरे क्षण को स्पर्श करने की आकुलता तथा दोनों के मध्य के शून्य को पार धधक उठनेवाली आग स्पर्शों को जिस जीवन्तता से आपूरित कर देती है वह स्वर्ग लोक में संभव ही नहीं । कामनाहीन लोगों का दाय कामनाओं से संवलित लोगों के प्रति ही भी क्या सकता है ?

सच तो यह है कि नर यानी मनुष्य के लिए ही संभव है कि वह एक साथ मनुष्यत्व एवं देवत्व दोनों का वरण कर सके । वह एक ओर अरूप एवं चैतन्य को रूपायित करने में समर्थ है तथा दूसरी ओर भोगों को इनकी उद्दामता में भोगने की सामर्थ्य से युक्त है । उसके मन में एक ओर आकाश

का अवकाश है असीमता है तो दूसरी ओर उसके तन में प्राणों का रस स्पर्शों की सजीवता तथा मिट्टी की अमूर्त मूर्तता भी पर्याप्त मात्रा में पर्यवसित है । मनुष्य की मोहक शक्ति देवत्व के आकर्षण से भरी हुई है तथा उसकी भोग क्षमता स्पर्शों की गहनता एक ऐसी विशेषता है जिसका देवताओं में भी अभाव है । उर्वशी पुरुष के इन्हीं दोनों रूपों के मध्य अपने संपूर्ण समर्पण की कामना करती है । वह भोग की गहनता में लय होना चाहती है । × वह अपने समर्पण के लिए पुरुरवा को आमंत्रित करती है । वह उसकी तृषा की परिश्रान्ति का आश्वासन देती है । दोनों का परस्पर एक दूसरे में लय ही आनन्द के जगत में प्रवेश है ।

पुरुरवा स्वीकार करता है कि उर्वशी उसके अन्तर्मन की वह नारी है जो उसे सौन्दर्य के भौतिक एवं अभौतिक दोनों ही रूपों से आकृष्ट करती है । भौतिक रूप से जहाँ उसके तन का लास्य एवं भावों की जैविक अभिव्यक्तियाँ अद्भुत आकर्षण पूरित है वहीं उसके चिन्तन का सौन्दर्य भी अमूर्ताकर्षण सम्वलित है । परन्तु जीवन में व्याप्त अनल और उसकी दाहकता दर्शन - चिन्तन से समाप्त नहीं हो सकती उसकी परिसमाप्ति तो मात्र जैविक तल पर सौन्दर्योपभोग से ही होती है । पुरुरवा उपभोग के क्षणों के उस उन्माद को सकार नहीं पाता । वह आत्म भर्त्सना से भर उठता है क्योंकि भोगों की अनन्तता उसे किसी एक घाट पर बँधने नहीं देती । उसका मन एक अपरिचित से अपराध बोध से ग्रस्त प्रतीत होता है । जैविकतल पर फैला सौन्दर्याकर्षण उसे मायावी प्रतीत होता है जिससे मुक्त होने के लिए वह बौद्धिक पलायन का प्रश्रय ग्रहण करना चाहता है किन्तु पलायन की बौद्धिकता का केंचुल शीघ्र ही अस्तित्वहीन हो उठता है क्योंकि स्वभाविक वृत्तियाँ और उनका काम्य जैविक सौन्दर्य अपने अस्तित्व के

× " मैं दो विपुलों के बीच मग्न नन्हीं लतिका-सी सो जाऊँ,
छोटी तरंग -सी टूट उरस्थल के महोधि पर खो जाऊँ ।

---- उर्वशी, पृ. 44.

स्थूलत्व को नकारने नहीं देता । अस्तित्व का स्थूलत्व उसको नश्वरता है । नश्वरता के प्रति आकर्षण रक्त की ज्वलनशीलता है । ज्वलनशीलता इस लिए क्योंकि ज्वलन जहाँ दाहकता का प्रतीक है जीवन्तता का मूर्तविधान है वहीं अनागत विनाश की भूमिका भी । रक्त का यह आवेग अपनी इस मरण - धर्मिता के कारण ही प्रज्ज्वलनशील एवं अवांछनीय है । जीवन के इस उत्ताप को रक्त-वह्नि की संज्ञा से पुरुरवा अभिहित करता है । इसका कारण कदाचित यह है कि रक्त शरीर में प्राणतत्व का सूचक है तथा उत्ताप उसकी ऊर्जा के साथ- साथ अपरिहार्य मरणधर्मा प्रवृत्ति का । पुरुरवा भोगों से पलायन नहीं करना चाहता वह उनसे न तो आक्रान्त है और न ही उनके परित्याग के लिए प्रस्तुत । इसके विपरीत वह जीवन में सौन्दर्य के उप-भोग की शाश्वतता के सूत्र को उनकी उद्दामता के मध्य पाना चाहता है । बौद्धिकता पलायन में सहायक हो सकती है । नश्वरता के भय से उपभोग वंचिका तो हो सकती है किन्तु प्रवृत्यात्मकता एवं सृजनशीलता का उसमें पर्याप्त अभाव ही रहता है । कदाचित पुरुरवा का विपर्यय यह है कि वह विरक्ति के सिंह द्वार से प्रवृत्ति के प्रासाद में प्रविष्ट होना चाहता है । इसी असंगतता के कारण उसे रक्त की प्रवृत्तियों में जीवन की संगति दृष्टिगत नहीं होती । उर्वशी की विशेषता यह है कि वह प्रवृत्ति के पथ का अनुसरण करने के लिए विरक्ति या निवृत्ति की पगडंडियों का पाखण्ड नहीं रचती इस लिए उसे बुद्धि की अपेक्षा रक्त की प्रवृत्ति अधिक तर्कसंगत प्रतीत होती है । उसका तर्क है " स्पर्श के संवेगात्मक अनुभवों की अनुभूति कदाचित बुद्धि के द्वारा संभव ही नहीं । इसलिए उसकी निर्मितियाँ निष्प्राण हैं । " अपने लिए वह रक्त की इसी भाषा -- यानी संवेगात्मक अनुभवों की अनुभूति को जीवन सत्य के अधिक निकट मानती है । वह पुरुरवा को प्रवृत्ति के प्रासाद में प्रवृत्ति के द्वार से ही प्रवेश करने का निमंत्रण देती है, साथ ही उसके उस अपराध बोध से उसे

मुक्ति दिलाना चाहती है, जो मात्र एक बुद्धिजन्य विचार है तथा जिसको निष्पत्ति प्रवृत्ति को पाप और निवृत्ति को पुण्य की संज्ञा देती है ।

पुरुरवा उर्वशी की इस निर्द्वन्द्वता को देवत्व कहता है । वह यह भी मानता है कि मनुष्यत्व की प्रखर चंचल एवं गंदुमी धारा का उत्स भी दिव्य लोकोत्तर, निर्मल एवं प्रशान्त ही है । वस्तुत: यह रक्त की प्रबलता ही है जो उसे प्रशान्त, निर्मल एवं दिव्य उत्स का पुन: स्पर्श नहीं करने देती । जैविक तल के ये समस्त आयाम एवं सौन्दर्य उपस्करण अभौतिक सौन्दर्य की आत्यांतिकता नहीं हैं । मूर्ताभिव्यक्ति अमूर्तता के अस्तित्व का ही प्रमाण है । प्रच्छन्न मूल स्रोत के दर्शन के लिए आवश्यक है कि प्रत्यक्ष मूर्तता से ऊपर उठा जाय । इसका अतिक्रमण किया जाय । सामान्य तल से ऊपर उठने पर ही सामान्य की सामन्यता अनुभव संभव है ।

जैविक तल पर अनुभूति भौतिक सौन्दर्य का आकर्षण यदि प्रेम है तो वह मात्र रुधिर की दाहकता से ही सम्पन्न नहीं होता । दाहकता जहाँ अपरिहार्य अनागत विनाश की भूमिका है वहीं सृजनधर्मिता अमरत्व की आधारभूमि । इसीलिए नारी का स्पर्श, उसकी निकटता, उसकी रूप तरंगें मात्र उपभोग की ही प्रवृत्ति को जन्म ही नहीं देतीं उनसे उत्पादन की प्रेरणा भी प्रस्फुटित होती है । व्यक्ति का उपभोक्ता नारी सौन्दर्य को जहाँ उसकी स्थूलता में भोगना चाहता है वहीं उसका उत्पादक उसकी अमूर्तता से प्रेरणा ग्रहण कर सृजनशीलता के सर्जक क्षणों में सौन्दर्य की सूक्ष्म संकृतियों को इयत्ता प्रदान करने का प्रयास करता है अरूप को रूपायित कर, निराकार को साकार कर अमृत तत्व की उपलब्धि करता है । ऐसी स्थिति में -- उपभोक्ता, भोग की गहनता में भोग्य के अन्तरतम का स्पर्श करने के कारण, तथा उत्पादक दोनों ही भौतिकता से अभौतिकता में प्रवेश करते हैं । अस्तु कहा जा सकता है कि स्थूलता से होने वाली अस्तित्व की अभिव्यक्ति स्थूल रेखाओं तक ही सीमित नहीं रहती । अस्तित्व के माध्यम से अनस्तित्व भी व्यापित होता है । इसी प्रकार शरीर प्रेम की

जन्मभूमि तो होता है किन्तु इसका प्रसार शरीर को स्थूलता तक ही सीमित नहीं रहता । × इसकी सीमा का प्रसार मन के उन गुह्य लोकों तक है जहाँ मूर्तता के मध्य अमूर्तता का निवास होता है, तथा जहाँ पुरुष नारी में मात्र नारी का ही नहीं एक अव्यक्त दिव्य शक्ति का भी दर्शन करता है । वस्तुत: यह प्रेम की ही दृष्टि है जो प्रत्यक्षत: निर्जीव प्रतीत होनेवाली प्रस्तर प्रतिमा में भी परमतत्व यानी परमात्मा का दर्शन करती है । परमात्मा का परमातत्व दृष्टा की दृष्टि पर निर्भर है । दृष्टि यदि प्रेम की न हो तो नारी के जीवित अवयवों में भी, सौन्दर्य की जीवन्त अमूर्तता के बावजूद भी, पुरुष को मात्र एक देह यष्टि ही प्रतीत हो सकती है ।

निस्संदेह प्रेम का प्रस्फुटन पहले नेत्रों में होता परन्तु इसके पश्चात् एक देह यष्टि के रूप दृष्टिगत होने वाली प्रियसी अनायास ही अनन्त विस्तार को उपलब्ध हो जाती है । प्रेम की दृष्टि उसे एक विराटत्व प्रदान करती है जिसके कारण उसकी व्यप्ति अनन्त हो जाती है । स्पर्श से चिन्तन प्रस्फुटित होता है । स्पर्श अपनी प्रारम्भिक स्थिति में एक स्थूल क्रिया प्रतीत हो सकती है किन्तु उसकी सूक्ष्मता कालान्तर[2×] में चिन्तन से सूक्ष्म हो उठती है । स्पर्श की अनुभूति त्वचान्तर शिराओं तक ही सीमित नहीं रहती उससे जीवन के अनेक रहस्य उद्भासित हो उठते हैं । चेतना के ठोस हिमखण्ड स्पर्श की ऊष्मा पाकर रसमय हो जीवन को सिक्त करने लगते हैं तथा कालान्तर में जीवन की इस आर्द्रता का ही कुछ भाग वाष्पीकृत हो चिन्तन को अमूर्तता को उपलब्ध होता है । भौतिकता से अभौतिकता की ओर, स्थूल

× " देह प्रेम की जन्मभूमि है, पर उसके विचरण की
सारी लीलाभूमि नहीं सीमित है रुधिर त्वचा तक । - उर्वशी, पृ.47.

2×. कालान्तर से हमाराउअभिप्राय किसी परिमित कालबोध से नहीं है । एक क्रिया का अनुवर्तन करने वाली घटना कभी गणना की अनन्तता में व्याप्त दिखाई देती हैऔर कभी उसकी स्थिति नगण्य प्रतीत होती है । गण्य तथा नगण्य दोनों ही स्थितियाँ मानव बुद्धि जात हैं । गणना की इस सीमा से परे भी काल का अस्तित्व होता है किन्तु उसकी गणना हमारी सुविधा और क्षमता की सीमा है । ---- लेखक ।

स्थूल से सूक्ष्म की ओर होनेवाली यह यात्रा ही प्रेम का प्रसार है जिसके दूसरे सिरे पर स्त्री और पुरुष जैसी संज्ञाएँ अर्थहीन हो जातीं हैं । वहाँ तो एक ही सत्ता के प्रतिमानों के रूप में स्त्री-पुरुष की अभिव्यक्ति रह जाती है । इस मूल सत्ता का अनुभव भौतिकता के अतिक्रमण यानी जैविकतल के बन्धनों के पार जा कर ही किया जा सकता है । जैविकता इस अतिक्रमण का अर्थ है सत्ता के मूल से साक्षात्कार अर्थात् एक ऐसे परम अनुभव में प्रवेश जहाँ अनुभूति और अनुभवकर्ता दोनों ही निश्शेष हो जाते हैं । सौन्दर्य-वादी दृष्टिकोण से जीवन में दृष्टिगत होनेवाला समस्त सौन्दर्य अपनी अभिरामता में अनन्त हो सकता है किन्तु उसकी यह अनन्त अभिरामता विराट की आंशिक अभिव्यक्ति है । अभिव्यक्ति चाहे जैसी भी क्यों न हो , उसकी प्रामाणिकता कितनी ही अखण्डित क्यों न हो वस्तुत: अधूरी ही होती है । इस अधूरेपन की पूर्णता का विन्दु है उस उत्स से सन्निकर्षित हो जाना जिसका परिकल्पित मार्ग जैविकता का अतिक्रमण है । पुरुरवा दैहिक आतिक्रान्ति को जीवन के वियोग के रूप में न स्वीकार करके आत्मसाक्षात्कार मानता है ।[×] अस्तु इस आत्मसाक्षात्कार से भयभीत होने की आवश्यकता नहीं ।[2] परन्तु प्रेम की जन्मभूमि शरीर होने के कारण ही शरीर का अतिक्रमण सरल नहीं रह जाता । प्रेम अपनी प्रगति की बाधा आप बन जाता है ।

उर्वशी के निकट सुख की उन तरंगों का अतिक्रमण, जिनका अनुभव मात्र मानव शरीर द्वारा ही किया जा सकता है, देवत्व की उस शीतलता में प्रवेश जिसका परित्याग कर वह भूतल पर आई है । वह पुरुरवा के

× " यह आतिक्रान्ति वियोग नहीं, आलिंगित नर-नारी का,
देह धर्म से परे अन्तरात्मा तक उठ जाना है ।
उर्वशी , पृ. 49.

2. " अनासक्ति तुम कहो, किन्तु इस द्विधाग्रस्त मानव की
झाँकी तुम में देख मुझे जाने क्यों भय लगता है । "
-- उर्वशी, पृ. 35.

आत्मसाक्षात्कार में बाधक नहीं बनना चाहती । वह तो मात्र प्रेम की जैविकता को पूरी तरह जीना चाहती है :-

" पर मैं बाधक नहीं, जहाँ भी रहो भूमि या नभ में,
वक्षस्थल पर इसी भाँति मेरा कपोल रहने दो ।
कसे रहो, बस इसी भाँति उर-पीड़क आलिंगन में
और जलाते रहो अधर-पुट को कठोर चुम्बन से । "×

पुरूरवा के गहनालिंगन में उर्वशी एक अद्भुत सुखजन्य पीड़ा का अनुभव करती है तथा बंधन की कठोरता को किंचित शिथिल करने का अनुरोध भी करती है । आलिंगनबद्ध युगल प्रेमी संयोग की चरमानुभूति के क्षणों में जीवन को उसकी समग्रता में जीते प्रतीत होते हैं विशेषकर उर्वशी के निकट उसके पूर्णत्व के क्षणों में समस्त सृष्टि पूर्णत्व की उपलब्धि करती प्रतीत होती है :-

" रस प्रसन्न मधुकान्ति चतुर्दिक ऐसे उमड रही है,
मानों निखिल सृष्टि के प्राणों में कम्पन भरने को
एक साथ ही सभी बाण मनोसिज ने छोड़ दिए हों । "2

उर्वशी के साथ- साथ पुरूरवा भी प्रकृति की इस विशेषता को देखता है चन्द्रमा और तारों को तथा चाँदनी में चमकती ओस की बूँदों को देख-कर नई-नई कल्पनाएँ करता है । उर्वशी उसकी कल्पना में अपनी कल्पना जोड़ते हुए आकाश में टिमटिमाते तारों को देख कर कहती है, " ये तो वस्तुतः सफेद दाढ़ी मूछों वाले उन देवताओं के आनन हैं जो शीत-प्राण होने के कारण नारी सौन्दर्य का उपभोग भी मात्र नेत्रों द्वारा उसी प्रकार करते हैं जिस प्रकार सुगन्ध द्वारा ही कोई पुष्प के सौन्दर्य को भोगता

× रामधारी सिंह दिनकर, " उर्वशी", पृ. 50.

2. वही, पृ. 51.

चाहे । स्पर्श के रोमांच तथा तद्जनित अनुभूतियों का उनके पास पूर्णत: अभाव है । * और यह चन्द्रमा ऐसा प्रतीत होता है जैसे अपने दर्पण में प्रत्येक मानव का भेद पढ़ रहा हो । इसका सम्मोहन इतना प्रबल है कि समस्त प्रकृति अपना अभ्यंतर प्रसन्नतापूर्वक मुक्त कर रही है । इस अभ्यंतर मुक्तता में समर्पण का ऐसा मनोमय भाव प्रतीत होता है जैसे यह चन्द्रमा न होकर उसके प्राणों का चिर प्रतीक्षित अतिथि आ गया हो ।

पुरुरवा प्रकृति से जीवन के इस अद्भुत तादात्म्य का श्रेय रात्रि को देता है । प्रकृति का यह सम्मोहन प्रकृति में मात्र रात्रि के कारण उद् - भासित है । रात्रि के आगमन पर ही व्यक्ति दिन भर के श्रम से मुक्ति पाता है । दिन में कल्पना के लिए विश्राम के लिए रात्रि जैसे अवकाश की विशालता उपलब्ध नहीं होती । दिन के प्रकाश में व्यक्ति अनेक कार्यों में व्यस्त रहता है अस्तु उसके अन्तर्मन की समष्टि बिखरी रहती है किन्तु रात्रि के अन्धकार में जब धरती पर एक अशब्दता छा जाती है, सम्पूर्ण कोलाहल सन्नाटे में डूब सा जाता है, हमारी कल्पनाएँ, हमारे मानस का दमित अचेतन चेतन हो उठता है जिसके द्वारा हमारा श्रान्त मन, जो दिन के उजाले में कल्पनाओं को एक कुहासे में ढंका पाता है एक स्पष्ट ज्योति का अनुभव करने लगता है । इस प्रकार रात्रि में जहाँ व्यक्ति अपने से जुड़ पाने के कारण योग के क्षणों का अनुभव करता है वहीं प्रणय की गहन अनुभूतियाँ उसे स्थान और काल के बोध से उपरिमित कर समाधि की अवस्था में प्रविष्ट कराती हैं । इतना ही नहीं रात्रि की अनुकम्पा उसकी समता दृष्टि में भी परिलक्षित होती है । रात्रि के साए में ही राजा अपने राजत्व तथा बन्दी अपने बन्धनों की पीड़ा से उपराम होते हैं ।

---

* " दीप्तिमान, सित शुभ्र श्मश्रुमय दवों के आनन हैं ।
शमित वह्नि ये शीतप्राण पोते सौन्दर्य नयन से,
घ्राण मात्र लेते न कुसुम का अंग कभी छूते हैं ।

--- उर्वशी, पृ. 52.

पुरूरवा को मान्यता है कि इसमें सन्देह नहीं कि रात्रि शान्ति का अंक है किन्तु इस शान्ति का अर्थ जड़ता नहीं है । शान्ति के इन क्षणों में भी ऊर्जा को एक अन्तर्धारा सदा प्रवाहित रहती है । शान्ति के क्षणों को यह गत्यात्मकता कुछ ऐसी प्रतीत होती है जैसे सौन्दर्य की अपूर्णता की धारा में समस्त संसार अचेतन रूप से प्रवाहित हो रहा हो ।

उर्वशी पुरूरवा के इस कथन का समर्थन करती है । समय की समस्त गणना अन्ततोगत्वा मानवी बुद्धि की उपज है उसकी अनन्तता गणना के खण्डों से विभाजित नहीं होती । समय बोध से मुक्ति ही श्रेयस्कर है । समाधि की स्थिति कितनी ही महत्वपूर्ण क्यों न हो चेतना कभी भी वहाँ स्थिर नहीं होती । उसका प्रवाह उन स्थिर क्षणों में भी जारी रहता है ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार अत्यधिक गति से उड़ता हुआ बाण गतिकी अधिकता के कारण स्थिर सा प्रतीत होता है ।

पुरूरवा समय को उसकी समग्रता में जीना चाहता है । [×] जीवन के खण्डबोध को अनन्तता के महासागर में लय करना चाहता है । समय की अनन्तता का बोध व्यक्ति के व्यक्तित्व को ही अनन्तता है । [2]

उर्वशी काल की इस अनन्तता का अनुभव सुखानुभूति के रूप में करती है । वह इस अनुभूति में ही रहना चाहती है अस्तु उसे समेट रखने के लिए उपयुक्त पात्र का प्रश्न उसके सम्मुख उभरता है ।

× " रूको समय । पल । अनुपल। क्षण -शकल । घटिकाओं ।
इस प्रकार आतुर उड़ान भर कहाँ तुम्हें जाना है ?
कहीं समापन नहीं ऊर्ध्व -गामी जीवन की गति का,
काल-पयोनिधि का त्रिकाल में कोई कूल नहीं है ।
कहीं कुण्डली मार बैठ जाओ नक्षत्र -निलय में
मत ले जाओ खींच निशा को आज सूर्य बेदी पर " ।

2. " महाशून्य का उत्स हमारे मन का भी उद्गम है,
बहती है अविराम चेतना काल के आदि मूल को छूकर ।

--- उर्वशी, पृ. 54 तथा 55.

पुरूरवा काल की अनन्तता के बोध जनित सुखानुभूति को संचित करने के लिए महाशून्य जैसे पात्र का सुझाव उर्वशी के सम्मुख रखता है । महाशून्य इसलिए क्योंकि समय के समस्त खण्ड --- भूत, भविष्य तथा वर्तमान --- अपनी समग्रता में उस महाशून्य में ही संचित रहते हैं । अस्तु एतत् जनित सुखानुभूति के लिए इससे अधिक उपयुक्त अन्य पात्र हो भी कौन सकता है । पुरूरवा सुखानुभूति के माध्यम शरीर को नश्वर मानता है किन्तु उसकी विभा को नश्वरता की सीमा से परे स्वीकार करता है इसलिए उसके निकट दैहिक प्रकाश एवं चुम्बनों की झंकृति समय की शाश्वत्ता के साथ मिलकर चेतना को अनन्तता से एकीकृत हो जाती है । ×

उर्वशी सुखानुभूति की गहनता का अनुभव किसी अपर लोक की यात्रा के रूप में करती है ।

पुरूरवा इस संयोग जनित सुख का अनुभव देह भाव की नश्वरता को मनके अतल गह्वर में डूबते अनुभव को एक आरोहण के रूप में अभिव्यक्त करता है ।

उर्वशी भी इस उड्यन का अनुभव करती है । वायु स्पर्श के अनुभव का भी समाप्त हो जाना शून्य में प्रवेश का सूचक है ।

उर्वशी को सम्पूर्ण प्रकृति एक साक्षी सी प्रतीत होती है ।

पुरूरवा संयोग के क्षणों में अन्नमय कोष से उठकर मनोमयकोष में प्रवेश के क्षण को ऐसा ही महान मानता है जिसमें संसार मात्र साक्षी रह जाता है क्रिया या घटना का सहभोक्ता नहीं ।

× " देह मृति, दैहिक प्रकाश की किरणें मृत्ति नहीं हैं,
अधर नष्ट होते, मिटती झंकार नहीं चुम्बन की,
यह अरूप आभा तरंग अर्पित उसके चरणों पर,
निराकार जो जाग रहा है सारे आकारों में । "

---- उर्वशी, पृ. 56.

उर्वशी के निकट अनुभूति जो स्वप्नवत् प्रतीत होती है उसमें स्थूलता का सत्य लय होता प्रतीत होता है । वह इस अनुभूति को कोई अभिव्यक्ति न दे पाने की विवशता का अनुभव करती है ।

पुरुरवा स्वयं भी इसी स्थिति में है क्योंकि भाषा तो अंततोगत्वा एक रूपाश्रित प्रत्यय ही है जब कि आनन्दानुभूति अरूप प्रत्यय । अरूप को अभिव्यंजना रूप के माध्यम से हो भी नहीं सकती ।

उर्वशी शरीर के प्रत्ययों को लेकर अशरीरी प्रश्नों को उठाती है ।

पुरुरवा अपने आप को उस पुरुष के रूप में प्रस्तुत करता है जिसकी अनन्त खोज उस अरूप की खोज है जिसका प्रक्षेपण उर्वशी के रूप में होता है । व्यक्ति के अन्तर्मन की यह खोज जन्म-जन्मान्तरों तक लगातार जारी रहने पर भी प्रयासों से पूर्ण नहीं होती । प्रयास होते हैं । प्रयास खोज की यात्रा की सूचना होते हैं किन्तु अभीष्ट की उपलब्धि, प्राणों की पुकार का प्रतिफलन, सहसा ही होता है । यह उपलब्धि भी मूर्तरूप से रेखांकित नहीं की जा सकती अस्तु इसके लिए आभा ही उपयुक्त संज्ञा है ।

उर्वशी अपने सम्बन्ध में जिज्ञासु हो उठती है । वह अपने सम्बन्ध में पुरुरवा से जानना चाहती है । रसमग्न पुरुरवा सम्मोहित सा उत्तर देता है -- कि वह ठीक-ठीक नहीं बता सकता । शब्द उन अनुभवों को समेटने में असफल रहते हैं अस्तु वह कहता है कि इतना ही कहा जा सकता है कि तुम्हारे आते ही अन्तर का द्वार स्वत: मुक्त हो गया तथा प्राणों का वह सूना घर जो एक खालीपन का अनुभव करता आ रहा था वह दृश्य और ध्वनि दोनों से आपूरित हो उठा है जिसके कारण पृथ्वी पहले की अपेक्षा अधिक प्रसन्न लगने लगी है, तथा पर्वत ऐसा मानते प्रतीत होते हैं कि उनके प्राणों में बसनेवाली रस धारा कुछ और रसवती हो उठी है ।

पृथ्वी पर अब अधिक पुष्प खिलने लगे हैं तथा उस पर फैली हरितिमा में एक नूतन दीप्ति छा गई है । संक्षेप में, मात्र नक्षत्रों के, क्योंकि उन्हें अपना कुछ खोगया प्रतीत होता है, सभी पूर्णता के भाव से प्रसन्न प्रतीत होते हैं ।

उर्वशी उस संयोगावस्था का वर्णन करती है जिसका अनुभव उसने मिलने के प्रथम क्षणों में किया था । मिलन के क्षणों में ऐसा अनुभव हुआ था मानों एक विद्युत कौंध उठी हो जिसका रोमांचक स्पर्श अन्तर तक छू गया था । स्पर्श की यह कौंध अनागत के अंधकार में आँखों को अपनी प्रखरता से चौंधियानेवाली न होकर इन्द्रधनुषी रंगों की आभा सी अभिराम थी । वह उसे अपना प्राणेश, ज्ञान गुरु सखा, मित्र एवं सहचर मानती है क्योंकि उसके स्पर्श से उर्वशी स्पर्शजन्य सुखों की विभिन्नता का अनुभव करने में सफल हो पाती है । स्पर्श से जागनेवाली मादकता उसके रक्त में ही निहित थी किन्तु उसे उस समय तक उसका बोधन हुआ था जब तक उसे पुरुरवा का स्पर्श प्राप्त न हुआ था । उर्वशी को ऐसा प्रतीत होता मानो इन स्पर्शों से ही उसे जागरण हुआ हो । इसके पूर्व का जीवन सुषुप्ति का जीवन था जिसमें रक्त के रोमांचक अनुभवों की ऊष्णता न थी । उर्वशी पुरुरवा के सानिध्य में उसके स्पर्शों की पुलकन से अपने प्राणों में ताजे खिले कमल की शीतल शुचिता का अनुभव करती है । उसका अनुभव उस आभा का अनुभव है, यानी एक ऐसे शीतल प्रकाश का बोध, जो अपनी प्रभा से उस अन्तर को भर देता है जिसमें अनअनुभूतित अनुभवों की अनेक संभावनाएँ संचित रहती है । उसका यह जागरण रति-सुख जन्य आनन्द के आन्दोलन से संभव हो सका है जिसके कारण उसे ऐसा प्रतीत होता है मानो निद्रा से जागरण के पश्चात् सृष्टि के उद्गम पर गिरते निर्झर का प्रथम नाद सुन रही हो या फिर उषा की कोमल द्युति उसके अन्तर की गुहा में फैलती जा रही हो जिसके कारण वह एक रिक्तता का अनुभव करती है । उर्वशी पुरुरवा के प्रति कृतज्ञता अनुभव करती हुई कहती है, " शरीर की समस्त शिराओं में

जो संगीत अब तक सुप्त पड़ा था उसे तुम्हारे अतिरिक्त कौन जगा सकता था तथा तुम्हारे अतिरिक्त मुझे दूसरा कोई भी यह विश्वास दिलाने में समर्थ नहीं था कि अन्तरिक्ष भी स्वयं भूमि हो सकता है । अन्तरिक्ष यानी आकाश जहाँ सब कुछ शून्य प्रतीत होता है किन्तु इस शून्य से अनुभूतियों का एक नवीन सिलसिला शुरू होता है, तथा वृक्ष जो प्रत्यक्षत: जड़ प्रतीत होते हैं वस्तुत: अपनी सूक्ष्मतमता में उतने ही सूक्ष्म हैं जितने आकार - प्रकार हीन मेंघ खण्ड । " ‡ वृक्ष साधारणत: एक निश्चितता से आबद्ध होता है किन्तु उसके अन्तर में होने वाला सतत परिवर्तन ~~xxxxxxxx~~ उसे बादलों में घटने वाले परिवर्तन के निकट ला देता है । ‡

प्रेम जन्य आवेश में उर्वशी पुरुरवा के सौन्दर्य का वर्णन करते नहीं थकती । वह उसे असुरों से भी अधिक बलशाली ‡ तथा देवताओं से भी अधिक सुन्दर कहती है । उर्वशी संसर्ग जनित सुख की तरंगों को शब्दायित करने का प्रयास करती है तथा उन रोमांचक क्षणों की अनुभूतियों को समेटती जब एक के शरीर से निकलनेवाली उर्मियाँ दूसरे के शरीर में प्रविष्ट होने लगती हैं । जैविकतल पर उस भोग को ही वह श्रेष्ठ मानती है । उसका समस्त आनन्द मात्र एक दूसरे की बाहों में अपने अस्तित्व का विलय कर देने में है । उर्वशी की कामनाओं की स्थूलता से आनन्द की सूक्ष्मता को खोजता पुरुरवा खिन्न हो उठता है । वह प्रणय जनित आवेगों के आनन्द को भोगना तो चाहता है किन्तु उसकी क्षणता, उनका खण्डित बोध उसे सह्य नहीं कदाचित इसके लिए वह स्थूल जैविकता को दोषी मानता है, अस्तु इस सुखों के अवगाहन को तो लोभ की संज्ञा देता है तथा प्रणय के शून्य अम्बर में स्थिर होने की अभिलाषा करता है । × उर्वशी की जैविक

× " हाय तृषा फिर वही तरंगों में गाहन करने की ।
वही लोभ चेतना सिन्धु के अपर पार जाने का,
झम्प मार तन को प्रतृप्त, उफनाती हुई लहरों में ?
ठहर सकेगा कभी नहीं क्या प्रणय शून्य अम्बर पर ।

---- उर्वशी, पृ. 59.

कामनाओं को लक्ष्यकर पुरूरवा कदाचित अक्रान्त सा हो उठता है । उसके निकट उर्वशी को अनेक रूपों में समझने के असफल प्रयास को स्वीकारोक्ति है । उसकी अपनी असफलता उसे एक अजीब रहस्य चिन्तक बना देती है । वह उसे मायाविनि [illegible] तथा अनन्त संभावनाओं को ऐसी अधखिली कली कहता है जिसके सौन्दर्य - सौरभ का आभास होता है । जैविकतल को [illegible] कामनाओं से युक्त उर्वशी उसे महासागर का तट प्रतीत होने लगती है । तट पर बैठकर महासागर को नहीं जाना जा सकता । पुरूरवा आनन्दानुभूति को तो श्रेष्ठ मानता है किन्तु उर्वशी द्वारा प्रशस्त मार्ग को निकृष्ट मानता है । पुरूरवा के निकट जैविकतल पर उठनेवाला ज्वार आसुरी है किन्तु वे आनन्दानुभूतियाँ जिनके संवेगों का अवगाहन शरीर के माध्यम से होता है काम्य हैं । इस द्वन्द्व को ही वह भ्रान्ति कहता है ।

उर्वशी उस की इस धारणा का निराकरण करती है । सौन्दर्य की रश्मियों का आकर्षण प्रेम है तथा उससे उठनेवाली अनुभूतियाँ ईश्वर का साक्षात्कार । यानी ई-श्वर एक अनुभूति है इसलिए उसकी प्रकृति से कोई प्रतिद्वन्द्विता नहीं है । प्रकृति के माध्यम से ईश्वर की भी अनुभूति संभव होने के कारण दोनों समान रूप से एक साथ रह सकते हैं । उर्वशी यह स्वीकारने के लिए प्रस्तुत नहीं कि ईश्वर की अनुभूति करने के लिए प्रकृति से संबंध विच्छेद करना अनिवार्य है । प्रकृति यानी जो इस जैविकतल पर उठनेवाली आकांक्षाएँ हैं ईश्वर की अनुभूति की प्रतिगामिनी नहीं हो सकतीं । स्त्री - पुरुष के मध्य पनपने वाले जैविक सम्बन्ध परम सत्ता के अनुभवन में बाधक नहीं होते क्योंकि इस दृश्यमान जगत् से भिन्न ईश्वर का जगत् कोई अन्य नहीं है । इस संसार को माया [illegible] कहना प्रकृति के अस्तित्व को नकारना है जो उचित नहीं है । संसार शून्य का एक ऐसा रंगमंच है जहाँ व्यक्ति अपने समस्त अनुभवोंके साथ जीता है तथा उसके अनुभव समय और स्थान का अतिक्रमण कर विराटत्व की संज्ञा को उपलब्ध होते हैं ।

अनुभव की अद्वैत स्थिति में किसी द्वैत के लिए स्थान नहीं है। प्रत्यक्षत: प्रतीत होनेवाले समस्त द्वन्द्वात्मक प्रपंच अपने मूल में एक हैं। यदि मुक्ति की बात सामने रखी जाय तो इसके लिए बन्धनों का ज्ञान आवश्यक है जिनसे व्यक्ति मुक्ति की कामना करता है। बंधनों के बिना सम्यक्रूप से जाने मुक्ति का सार्थक हो हो नहीं सकता। प्रकृति और नारी को बन्धन के रूप में मानने वाला व्यक्ति वस्तुत: नैतिक मान्यताओं एवं तथा कथित शास्त्राज्ञाओं में उलझा होता है। वास्तविक स्थिति यह है कि बंधन न तो प्रकृति यानी जैविक धर्म है और न स्त्री। बंधन तो एक विचार मात्र है। एक ऐसा विचार जिसके कारण सृष्टि द्विधा उत्पन्न हो जाती है, जो अनुभूति के विराटत्व को खण्डों में जीना जानता है, जिसके कारण व्यक्ति प्रत्येक अनुभव न केवल एक खण्ड का अनुभव होता है अपितु खण्डित अनुभव भी होता है। अनुभव की यह विखण्डित स्थिति ही माया की सृष्टि के लिए उत्तरदायी है। माया व्यक्ति के खण्डित अनुभवों का दूसरा नाम है। मनुष्य की बौद्धिकता का सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रतिफलन उसका गणित है जिसके कारण वह निरन्त चुनावों एवं विकल्पों से ग्रस्त रहता है। व्यक्ति की यह चयन वृत्ति ही उसके संग्रहऔर त्याग की संहिताओं का निर्माण करती है। ये बौद्धिक संहिताएँ व्यक्ति में समता दृष्टि का अविर्भाव नहीं होने देतीं जिसके कारण वह अपनी शाँति का शत्रु आप हो जाता है। जीवन में निर्मल आनन्द की उपलब्धि व्यक्ति का काम्य होती है किन्तु यह आनन्दोपलब्धि विधि - निषेधों के द्वारा संभव नहीं। इसकी उपलब्धि के लिए आवश्यक है कि मनुष्यकी चेतना विधि-निषेधों के तटों से उपराम होकर बहती रहे। इस प्रवाह में अनायास, बिना किसी प्रयत्न या अयोजन के उसे आनन्द की उपलब्धि हो सकती है। आनन्द के लिए किया जानेवाला प्रत्येक आयोजन आनन्द की उपलब्धि में बाधक होता है।

संसार में इस अकाम आनन्द का उपभोग उस व्यक्ति के लिए ही

संभव है जो जीवन को मात्र क्रिया रूप में ग्रहण करता है, जो क्रिया के रूप में जीवन के घातों-प्रतिघातों के मध्य तो होता है किन्तु इन घातों-प्रतिघातों से होने वाली उपलब्धि उसके लिए आकर्षण या विकर्षण का विषय नहीं बनती तथा जो अपने से बाहर किसी सुख को खोज नहीं करता । सुख की खोज सुख की उपलब्धि में स्वयं बाधा बन जाती है क्योंकि ऐसी स्थिति में पुनः चयन का प्रश्न उठ खड़ा होता है, संग्रह -त्याग की संहिताएँ अनायास ही जीवन के सूत्र का संचालन करने लगतीं हैं । "ऋत" से प्रवाहित जीवन पर अन्य व्यवस्था सहजता के मार्ग में व्यवधान बन जाती है । संग्रह और त्याग का गणित हमें सहज नहीं होने देता । हमारे अंतर छद्म का ऐसा आवरण डाल देता है कि हम आनन्द लहरियों के स्पर्श का अनुभव कर ही नहीं पाते । व्यक्ति के समक्ष जब तक फल का लोभ है, अपने काम्य के प्रति आकर्षण है तब तक आनन्द की खोज आत्ममोहन के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं हो सकती ।

व्यक्ति की समस्त वर्जनाएँ या तो अनुपलब्ध आनन्द की प्राप्ति की प्रक्रिया में या फिर प्राप्त आनन्द की सुरक्षा में सक्रिय रहतीं हैं । अर्जन-वर्जन के गणित से वह स्वयं प्राप्य से दूर होता चला जाता है । प्राप्त सुखों के रक्षण के प्रश्न को यदि देखा जाय तो उसके मूल में अनागत अनिष्ट का भय ही विद्यमान रहता है । जो प्राप्त है उसके नष्ट हो जाने का मोह यानी प्राप्त की महिमा के मीठे-मीठे सैंक अनुभव करते हुए भी भय के शीत से ठिठुरते रहने की प्रक्रिया में कुनमुनी उष्णता भी जम जाती है । इसके साथ ही जो रक्षणीय है अर्थात् जिसके सातत्य के लिए हम प्रयत्नशील रहे हैं वह रक्षणीय है भी या नहीं हमें इसका भी सम्यक् ज्ञान नहीं है । कदाचित हमारा सारा प्रयास मृत्यु से बचे रहने का प्रयास है और इस प्रयास में ही द्वन्द्वों का जन्म होता है । द्वन्द्वात्मकता की इस प्रक्रिया में व्यक्ति के समक्ष संग्रह और त्याग का प्रश्न आ खड़ा होता है । वह प्रकृति को ईश्वर की विरोधी शक्ति के रूप में देखने लगता है ।

व्यक्ति अपने प्रयासों के मध्य कदाचित इस तथ्य से अपरिचित ही रह जाता है कि वह स्वयं प्रकृति है । प्रकृति से पलायन का अर्थ है अपने आप से पलायन । परिवर्तन का क्रम ही संसार की सृष्टि है । सतत परिवर्तनशील सृष्टि में स्थायित्व की कल्पना प्रकृति से भिन्न होना है । इसके साथ ही इस परिवर्तन को विनाश की संज्ञा देना भी ठीक नहीं क्योंकि यह परिवर्तन ही प्रकृति की जीवन्तता का, उसकी प्राणवत्ता का प्रमाण है । परिवर्तन से पलायन मुक्ति नहीं है । मुक्ति है इस धारा में सहज रूप से बहते रहना । इस बहने में भी किसी उद्देश्य या ध्येय के लिए स्थान नहीं । बहना इसलिए अभीष्ट होता है क्योंकि यही प्रकृति है ।

जहाँ तक परमात्मा की खोज का प्रश्न है वह नितांत असंगत है । असंगत इसलिए क्योंकि उसे किसी स्थान विशेष में, किसी क्षण विशेष में तथा किसी एक निश्चित रूप में प्राप्त किया ही नहीं जा सकता । प्रवाह की प्रवाहशीलता ही परमात्मा का होना है । उसके साक्षात्कार के लिए द्वैत के विचार से मुक्त होना अनिवार्य है ।

जीवन का अर्थ कार्य-कारण सम्बन्धों के मध्य नहीं खोजा जा सकता । कार्य-कारण की श्रृंखला व्यक्ति को अतीत में इतनी दूर तक ले जाती है कि वहाँ पर तर्क का प्रकाश निश्शेष हो उठता है तथा तर्कशून्यता की एक ऐसी चट्टान सामने आ जाती है जिसके पार कुछ भी देखपाना संभव नहीं होता ।

जीवन का विभाजन बुद्धि काल खण्डों में कर लिया करती है किन्तु इन विभाजित खण्डों के द्वारा जीवन को समझा नहीं जा सकता है । अतीत व्यक्ति के समक्ष एक अभेद्य चट्टान के रूप में उपस्थित होता है, वर्तमान इतना सूक्ष्म है कि वह अनुभव के वृत्त में समाने से पहले ही अतीत में ढल जाता है और भविष्य इतना अपरिचित है कि उसके सम्बन्ध में कुछ भी निश्चितता पूर्वक कहा ही नहीं जा सकता । बुद्धि द्वारा प्रस्तुत अनुभवों का प्रकाश

धुँधला-धुँधला कर इतना निष्प्रभ हो जाता है कि अन्धकार की सत्ता ही विस्तृत प्रतीत होने लगती है ।

वस्तुत: जीवन के अर्थ की खोज में कार्य-कारण सम्बन्ध स्थापित करना या फिर वर्तमान को विश्लेषित कर जी लेने का प्रयास करना अथवा अनागत को अनुमानों के बौद्धिक प्रकाश में समझने का प्रयास व्यर्थ है । व्यर्थ इसलिए क्योंकि व्यक्ति की अपनी सत्ता जहाँ पर होती है वहाँ दिक्-काल का बोध भी कृतिम होता है । उसके समस्त बोध की सीमाएँ अस्तित्व हीन होतीं हैं । व्यर्थ इसलिए भी क्योंकि इन समस्त बोधों को जीने का अर्थ है अपने से अपने तक यात्रा करना । अपने से अपने तक यात्रा, यात्रा का भ्रम जो हो सकती है किन्तु वास्तविकता नहीं । × यह वास्तविकता इसलिए भी नहीं हो सकती क्योंकि जिसे व्यक्ति अपना गन्तव्य मानता है वह वहाँ पर पहुँचा हुआ ही होता है । उसका दिग्भ्रम उसे अपनी सही स्थिति को जानने ही नहीं देता । इस भ्रम के आधार पर ही यदि कोई यात्रा का भ्रम पालना चाहे तो पाल सकता है, परन्तु वास्तविक रूप से यात्रा संभव हो ही नहीं सकती ।

अर्थ एक अनन्तता है । अर्थ एक तरलता है । अर्थ एक व्यापक वाग्व्यता है । एक ऐसी वाग्व्यता जिसका अस्तित्व उसकी व्यापकता एवं निरन्तरता है । शब्द एक आकार है । आकार यानी स्थूलता । स्थूलता, जिसके माध्यम से अर्थ अपनी व्यंजना खोजा करता है । स्थूलता के रूप में विविधता की सृष्टि होती है । फिर भी यह वैविध्य अपने आप में इतना जटिल नहीं जितना उसके प्रकारों को लेकर विचारों के तंतुओं का जाल । विचारतंतुओं में उलझा व्यक्ति अपनी सहजता से दूर ही पहुँच जाता है ।

× " हम हैं जहाँ वहाँ जाने को कोई राह नहीं है । "
--- उर्वशी, पृ 65.

वैचारिक तंतुलता ही द्वैत को जननी है तथा व्यक्ति का आत्म-साक्षात्कार या आत्मबोध ही इस द्वैत की मृत्यु ।

प्रकृति के क्षण ही ईश्वर के क्षण है इसलिए धर्म साधना प्रकृति से भिन्न कुछ भी नहीं है । वस्तुत: दृश्य और अदृश्य में तथा प्रकृति और ईश्वर में कोई गुणात्मक अन्तर नहीं है । अन्तर है तो मात्र दृष्टा की दृष्टि का , उनके मन का । काम के उदाहरण द्वारा इसे भली प्रकार समझा जा सकता है ।

काम धर्म है । काम ही पाप है । काम किसी भी व्यक्ति को आनन्दानुभूति के उच्चलोक से गिराकर पशु की कोटि में ला सकता है । यही काम किसी दूसरे व्यक्ति को असीम सुषमाओं के लोक में प्रविष्ट भी करा सकता है । इसके द्वारा व्यक्ति का उत्थान तथा पतन दोनों ही संभव हैं ।

प्रश्न उठता है कि एक ही क्रिया के दो विपरीत फलों का कारण क्या है ? इस विपरीतता का कारण भी क्रिया न होकर मन हैं ।

मन की आसक्ति जो कामजन्य सुखों पर हो जाती है उसके चिन्तन में उन्हीं सुखों की पुनरावृत्ति की आकांक्षा को सृष्टि करती रहती है । ऐसी स्थिति में व्यक्ति अनेक उपायों द्वारा विगत क्षणों को बार-बार जीना चाहता है । वह शरीर के तल पर उठनेवाली सनसनाहटों का आदी हो उठता है जिसके कारण काम की सहजता नष्ट हो जाती है । सनसनाहटों को आनन्द का पर्याय माननेवाला मन ऐसे कृत्यों को जन्म देता है जिसमें दूसरे का सहयोग उसे प्राप्त नहीं होता । वह दूसरे की भावनाओं का विचार न करके मात्र अपनी पूर्वस्मृति को फिर से जीना चाहता है । उसके अन्तर में प्रथम स्मृति का खण्डअनुभव एक ऐसे खोखले पन को सृष्टि कर देता है जिसे भरने के लिए वह मात्र अपनी आवश्यकताओं पर ही अपना ध्यान केन्द्रित रखताहै जिसके कारण

बालात्कार जैसे पापों की सृष्टि होने लगती है । जहाँ पर शरीरों के मिलन में मन की स्वीकृति न हो वह बलात्कार है । इस बलात्कार के कारण काम निन्दनीय बन जाता है ।

स्त्री और पुरुष के मिलन की सहज स्थिति जल उठने वाली दो लहरों के मिलन की स्थिति होती है । जब कि असहज स्थिति में जैविक तल की सनसनाहटों का आकर्षण वह स्वर्ण बन जाता है जिसका सन्धान गुप्त रूप से दो तस्कर किया करते हैं ।

शरीर के द्वारा व्यक्त होने वाली काम की आवश्यकता अल्प होती है निसर्ग की स्थूल अभिव्यक्ति ऋत से नियमित रहती है किन्तु भोक्ता मन इस नैसर्गिकता को स्वीकार नहीं करता । वह तो मात्र कतिपय संचित संवेगों को हो जीना चाहता है । मन की क्षुधा शरीर में अजीर्ण उत्पन्न कर देती है । मन की यह भूख काल्पनिक होती है । शरीर के जिस मिलन से सहज ही कोई फूल सौरभ बिखेर सकता था वही खाद बनने लगता है । निर्मलता की सरित् पंकिल हो उठती है । इसीलिए तन का काम अमृत है जब कि मन का काम विष ।

जिस प्रकार फलासक्ति कर्मों को दूषित कर देती है उसी प्रकार वे समस्त काम कृत्य भी दूषित हैं जो स्वत: स्फूर्त नहीं हैं तथा जिनमें मानसिक क्षुधा की शान्ति के लिए आयोजन पूर्वक मन की माया के कारण सुखों की तलाश की जाती है । जब रस दशा की उपलब्धि सहज न होकर आयोजित होती तब काम कृत्य दूषित हो उठता है ।

प्रश्न यह भी है कि कामजनित रस दशा यानी आनन्दानुभूति को ही यदि लक्ष्य मान लिया जाय तो क्या सहजता से दूर हटकर प्रयास पूर्वक इस दशा को उपलब्ध किया जा सकता है ? स्नायुओं के माध्यम से मन द्वारा मुक्त इस रस की अनुभूति स्थूल माँस -पेशियाँ कर भी कैसे सकती हैं ? इसलिए निष्काम काम सुख सहजग्राह्य अनायास प्राप्त

होने वाली स्वर्गीय पुलक है । इस पुलक को तो मात्र ग्रहण किया जा सकता है । इसे किसी आयोजन से पालेना असंभव है ।

सृजन को प्रक्रिया में इस काम कृत्य द्वारा यदि पुत्रकामना को उसके मूल में स्वीकार किया जाय तो काम सुख का वह भी ध्येय नहीं है । वस्तुत: कामसुख के क्षणों में सृजन की घटना स्वयमेव घट जाती है ।

प्रकृति का स्वभाव निरन्तर आनन्द में रहना है । अर्थात् आनन्द प्रकृति का स्वभाव है । जब व्यक्ति पूर्णरूप से प्रकृति के किसी उपादान से , वह उपादान नारी भी हो सकती है, तादात्म्य स्थापित कर लेता है अथवा सहज ही यह तादात्म्य स्थपित हो जाता है तो वे क्षण ही अपनी एकान्तता के कारण समाधि के क्षण होते हैं जिनमें आनन्द का सहस्रार अनायास मुकुलित हो उठता है तथा आनन्द की धारा प्रवाहित होने लगती है । और हम इस जैविकतल से दूर किसी अज्ञात लोक में अपने आप को अनुभव करने लगते हैं । उन क्षणों में ऐसा लगता है जैसे मन पर छाया आच्छादन अचानक उतर गया हो और हम आत्मलीन होगए हों ।

जैविकतल पर मुक्त काम के द्वारा आत्मसाक्षात्कार की स्थिति का अभिज्ञान अपने आप में इस बात का यथेष्ट प्रमाण नहीं है कि यह काम सुख न तो गर्हित ही है और न ग्राम्य अर्थात् निम्नकोटि का । यह काम सुख भी व्यक्ति को मन के समस्त बन्धनों से सहज ही मुक्त कर मोक्ष की दिशा में ले जाने में समर्थ है । किन्तु चूँकि हम प्रकृति के अंश है इसलिए हमें मुक्ति की आवश्यकता भी क्यों होनी चाहिए ? जब तक प्रकृति का अस्तित्व है तब तक हम भी, इस लीला धारा में जो सहज ही आनन्दमयी है, प्रवाहित होते रहेंगे । ? उर्वशी का मान्यता है कि आनन्द की धारा प्रकृति की सहजता है यानी प्रकृति के समस्त कृत्य आनन्द का पर्याय हैं, अस्तु इनके विरोध की आवश्यकता नहीं है । इनमें सहज प्रवाह ही व्यक्ति

को उसके काम्य आनन्द से ~~दूर~~ ले युक्त करने में समर्थ है । प्रकृति के समस्त कृत्य आनन्द को हो अभिव्यक्ति हैं । प्रकृति को सहजता का विरोध, जिसे व्यक्ति अपनो विभिन्न धारणाओं के कारण करता है, उसे आनन्द को उस धारा से दूर ले जाता है जो उसे सहज हो उपलब्ध हो सकतो है ।

पुरुरवा उर्वशी के मत का समर्थन करता है । वह प्रकृति में प्रकृतिस्थ रहने को स्थिति को हो व्यक्ति के लिए श्रेयस्कर मानता है । कुसुम और कामिनो दोनो में हों सौन्दर्य के दर्शन किए जा सकते हैंकिन्तु कामिनो वाक्-क्षमता से युक्त होने के कारण अधिक सुन्दर कहो जा सकतो है । कामिनो सवाक् होने के कारण कुछ और सौन्दर्यवतो प्रतोत होतो है क्योंकि वह चिन्तना शक्ति से भो सम्पन्न होतो है । नारो के लिए यह शक्ति स्वाभाविक है, किन्तु यदि सुमन, जिनको प्रकृति मौन है, भो इस कृत्य को अनुकरणोय मान कर, तदानुसार आचरण करने लगें तो यह स्थिति अप्राकृतिक होने के कारण असहज होगो जिसको परिणति पोड़ा में हो हो सकतो है ।

चिन्तन को लहरों के साथ पुरुरवा स्वयं पर्याप्त आलोड़न- विलोडन अनुभव करता है तथा निष्कर्षत: स्वोकार करता है कि चिन्तन के द्वारा जोवन को जाना नहों जा सकता है । जहाँ तक आचार संहिताओं का सम्बन्ध है ; विधि - निषेधों को स्थिति है ; वे तो मात्र ऐसो अवधारणाएँ हैं जिनका अस्तित्व ठोस तल पर होता हो नहों, ये व्यक्ति तथा समय सापेक्ष्य होतों हैं । जोवन को सहज धारा से इनका कोई सम्बन्ध नहों होता । इसके साथ हो मन के अवेतन तल से जोवन सागर में जो लहर उठतो है उस पर विधि-निषेधों का प्रभाव पड़ता भो कितना है ; अर्थात् विधि -निषेधों को समूचो सत्ता जोवन के स्वाभाविक आवेग को नियंत्रित करने में नितान्त असमर्थ है । योग, प्रयत्नों द्वारा जोवन के अन्तरतम में न कर पाने को सायास उपेक्षा है तथा एतत् सम्बन्धो समस्त साधनाएँ आन्त प्रज्ञा को अन्वेषण के प्रयास में जुटाए रखने का असफल प्रयास । व्यक्ति जोवन में जिस आत्मसाक्षात्कार के लिए प्रयत्नशोल रहता है वह साध्य नहों है ।

आत्मसाक्षात्कार के लिए व्यक्ति आकुल है उसको अनुपलब्धि उसको समस्या है, किन्तु इसके समाधान के लिए किए गए समस्त आयोजन व्यक्ति को प्रयत्न साधता को असफलता को घोषणा है । ऐसो स्थिति में प्रकृति के अंक में अपने को सहज छोड़ देना हो मात्र आत्मसाक्षात्कार का मार्ग हो सकता है । प्रकृति और ईश्वर में मूलत: संज्ञा भेद है तत्व को दृष्टि से दोनो एक हो हैं । प्रकृति के साथ, उसके प्रवाह के साथ राजो हो जाना, प्रत्येक स्थिति को सहजता से स्वोकार करलेना, प्रकृति से सहज सम्बन्ध है । अपने प्रयासों को छोड़ देना व्यक्ति को अहमन्यता का परित्याग है । और यहो शरणागति या प्रपत्तिहै । शरणागति के इन क्षणों में आत्मसाक्षात्कार को घटना घटतो है । ×

यह आत्मापर्ण हो वस्तुत: मूल सत्ता के संकेतों का अनुगमन है । इसके द्वारा हो उस असोम सुषमा का अनुभव किया जा सकता है जो सम्पूर्ण संसार में विकोर्ण होते हुए भो केन्द्र रूप से नारो मे " उर्वशो " बन्द अपना आभास देतो है ।

पुरूरवा अपने कथन में स्यात् आत्मसाक्षात्कार को स्थिति का अनुभव भो करता है वह कहता है " व्यक्ति को [illegible] समस्त वैचारिक तथाशारोरिक यात्रा इस रूप के चारो ओर हो रहतो है । एक ओर सौन्दर्य का प्रसार प्रकृति के समस्त उपादनों में दृष्टिगत होता है तथा दूसरो ओर यह मन को ज्वालामुखो अतलता में डूब जाता है जिसके कारण उसे ऐसा लगता है मानो उर्वशो अब भो सागर को अतल गहनता में निवास कर रहो है । "

पुरूरवा को जिज्ञासा उर्वशो के अन्त:स्वरूप के प्रति बढ़तो जातो

× " सत्य, स्यात, केवल आत्मापर्ण, केवल शरणागति है
उसके पद पर, जिसे प्रकृति तुम में ईश्वर कहता हूँ । "
उर्वशो, पृ. 69.

है । वह कहता है कि उर्वशी को इतने निकट से देखने के पश्चात् भी वह उसके सम्बन्ध में कुछ नहीं जानता । क्या उसके अपने समान ही उर्वशी का अविर्भाव भी नारायण ऋषि की कामेच्छा मात्र से हुआ था । उर्वशी के जन्म को लेकर वह अनेक अनुमानों को पल्लवित करता हुआ अंत में यह निश्चित करता है कि वह सौन्दर्य की समष्टि का पुंजीभूत रूप है जिसे प्रयत्न करने पर भी व्यक्ति पूर्णत: उपभोग्य नहीं बना सकता । × उसकी पार्थिवता के गवाक्षों से अपार्थिव जगत के दृश्यों को सहज ही देखा जा सकता है । पार्थिव से अपार्थिव की अनुभूति इतनी विशद है कि अनुभूति के क्षणों में मृत्यु तक अस्तित्वहीन हो उठती है । [2] मर्त्य द्वारा किया गया सौन्दर्य का यह साक्षात्कार उसकी समस्त पार्थिव या मूर्त कल्पनाओं को जहाँ एका-एक असत्य सिद्ध करने लगता है वहीं सम्भूति के उसे जिज्ञासु भी बना देता है । [3]

उर्वशी पुरूरवा की जिज्ञासा और शान्ति के लिए नारी के उस विराटत्व को स्पष्ट करती है जो उसे सरलता से देवत्व की महिमा से मंडित करता है ।

जीवन की जीवन्तता यानी उसका कवित्व अस्पष्टता में है, गोपनीयता में है, उस ध्रुंधलेपन में है जिसके द्वारा उसकी सत्ता का आभास तो मिलता रहे किन्तु उसका प्रत्यक्ष साक्षात्कार न हो । ऐसी स्थिति इसलिए भी महत्वपूर्ण है क्योंकि रहस्य जिज्ञासा को बनाए रखता है और जिज्ञासा शेष प्रश्न को भाँति जीवन को निरंतर आगे ठेलती

× " तुम अनन्त कल्पना, अंक वाहे जिस भाँति भरूँ मैं
एक किरण तब भी बाहों से बाहर रह जाती है । "
--- उर्वशी, पृ. 71.

2. " और वक्ष के कुसुम कुंज, सुरभित विश्राम भवन ये,
जहाँ मृत्यु के पथिक ठहर कर "श्रान्ति" दूर करते है ।"
---"उर्वशी", पृ. 71.

3. " तुम कैसे, तब कहो, कला उस भाँति जनम सकती हो
जैसे जग में अन्य, अमर सौन्दर्य जन्म लेते हैं । "
--- उर्वशी, पृ. 72.

रहती है । तथ्यों के ऋत का यथावत् साक्षात्कार वस्तुत: सौन्दर्य के सौन्दर्यत्वत्व का नाश है । सौन्दर्य का विश्लेषण अपनी वैज्ञानिकता में व्यक्ति के गर्वबोध को अहमन्यता तो दे सकता है किन्तु उस सौन्दर्य को अक्षुण्ण नहीं रख सकता जो जिज्ञासा के प्रभात में प्रेरक शक्ति बनकर जिज्ञासु के जीवन में बिना अपनी उपस्थिति का स्पष्ट आभास दिए ; चुपके से प्रवेश कर जाता है ।

नारी के नारित्व को नकार कर उसके आकारों को महत्वपूर्ण मानना नितान्त असंगत है । नारीत्व का मूर्तीकरण उसके सम्बन्ध में परिचयों को स्थूलता को सृष्टि करता है जो अपनी सापेक्षताओं में विभिन्न संबंधों को रेखांकित करती हुई अनेक संज्ञाओं के मध्य से गुजरा करती है, किन्तु उसका नारीपन इन समस्त संज्ञाओं से परे बना रहता है । नारीपन की यह असंगता उसे स्थान और समय की सापेक्षताओं से परे पहुँचा देती है क्योंकि उसका अस्तित्व सर्वव्यापी है । अस्तित्व की सर्वव्यापकता न तो किसी ~~प्रदेश का बन्धन~~ स्थान का बन्धन मानती है न काल को की किसी सीमा को ही स्वीकारती है । ×

पुरुरवा उर्वशी के इस नारी विराटत्व को स्वीकार करता हुआ भी उसके अन्तर्मन दर्शन चाहता है । उसकी अनुरागपूर्ण प्रपत्ति ही सत्य साक्षात्कार के क्षणों में उसका सम्बल बना चाहती है । उसकी अप्रतिहत जिज्ञासा उर्वशी को उन सूक्ष्मताओं के यात्रा पथ पर अग्रसर करती है जिससे चलकर नारीत्व एवं सौन्दर्य दोनों के ही आत्यान्तिक रूप का साक्षात्कार संभव है ।[2]

उर्वशी अपना अन्त: परिचय देती हुई स्पष्ट करती है कि

× " मेरा तो इतिहास प्रकृति की पूरी प्राण-कथा है,
उसी भाँति निस्सीम, असीमिति जैसे स्वयं प्रकृति है । "

--- उर्वशी, पृ. 73.

2. " तब भी हो गोधूलि कहीं, तो उसका पटल हटाकर
आज चाहता हूँ समग्र दर्शन उस सपने का
जो आयु के लिए जिसे निज वैभव बना चुका है ।" - उर्वशी, पृ. 74.

पुरुरवा द्वारा उसके सम्बन्ध में समस्त अनुमान भ्रान्ति मात्र हैं । क्योंकि उसे पार्थिवता से आबद्ध करना सौन्दर्य को सीमाबद्ध करना है जबकि सौन्दर्य की चेतना उसकी तरंगों की अनन्तता है । उसकी सार्वत्यता है । उसका ऋत है । उर्वशी इसी सौन्दर्य-चेतना की ऐसी तरंग है जिसका उद्भव इच्छा-ज्वारों के उस आलोड़न से होता है जो विराट पुरुष के हृदय रूपी सागर के गर्भ में निहित कामनाओं के संचित तापउ से होता है । ये कामनाओं का संकेत वस्तुत: उस विराट शून्यत्व की ओर संकेत है जिसके अवकाश में ऊर्जा का अस्तित्व सिद्ध होता है । ऊर्जा के ये रूप एक ओर शून्यत्व के द्वारा अपनी लीला भूमि का निर्माण करते हैं तथा दूसरी ओर उसके प्रतिरूप -- अर्थात् प्रतिफलन -- सृष्टि विविध रूपों का सृजन है । ऊर्जा की कल्पना यहाँ दो रूपों में संकलित है -- पहली उस अवकाश के रूप में जिसकी अभिव्यक्ति कामनाओं में होती है तथा दूसरी ओर उस प्रतिफलन के रूप में जिसकी अभिव्यंजना परितुष्टि है ---

" कामना-तरंगों से अधीर
जब विश्व पुरुष-हृदय का हृदय-सिन्धु,
आलोड़ित, क्षुभित, मथित होकर,
अपनी समस्त वड़वाग्नि
कंठ में भरकर मुझे बुलाता है,
तब मैं अपूर्व यौवना
पुरुष के निभृत प्राणतल से उठकर
प्रसरित करती निर्वसन, शुभ्र हेमाभ कान्ति
कल्पना लोक से उतर भूमि पर आती हूँ,
विजयिनी विश्वनर की अनुरक्त आने उत्तुङ्ग वक्ष
पर चुता अमित कल्पों के अश्रु सुखाती हूँ । " ×

इसलिए वह प्रत्येक हृदय में निरन्तर प्रज्ज्वलित रहनेवाली एक मधुर वह्नि है । उसका सौन्दर्य ही वस्तुत: नारी को वह चरम कल्पना

× रामधारी सिंह दिनकर, "उर्वशी", पृ. 75.

है जो प्रत्येक पुरुष हृदय में रहती है । समस्त प्रकृति में नारी सौन्दर्य के अनुभव के क्षण इतने महिमावान होते हैं कि उनके अदृश्य तन्तुओं को कोमलता समस्त क्रूर परुषता को तरल कर देती है × उसके सौन्दर्य का प्रसार द्वैत का अस्वीकार है, उसकी अभिव्यक्ति ही कला है । [2] नारी सौन्दर्य की इस अमूर्तता से पुरुष का सम्वाद मात्र प्रणय के मादक स्पर्शों की गहनता द्वारा ही संभव है । ऐसे क्षणों में ही पार्थिवजन्य समस्त अनुभवों का द्वैत ज्योति-सा एक दूसरे में लय हो जाता है अपार्थिव अनुभव की यात्रा प्रारम्भ होती है । इस सम्बन्ध में तथ्य रूप से यह कहा जा सकता है कि उस अपार्थिव अनुभव की यात्रा का बोध भी समाधि भंग की अवस्था में होता है । अनुभवों के अनुभूति बनने के मध्य एक सातत्य होता है, एक ऐसा प्रवाह जो मात्र प्रवाह होता है जिसके अवरुद्ध होने पर ही उस प्रवाह का बोध होता है, पार्थिव शरीर द्वारा मुक्त अपार्थिवता का ज्ञान व्यक्ति को होता है । अनुभव के जीवन्त क्षणों में अनुभव कर्ता अनुभव से पृथक होता ही नहीं अस्तु अनुभूति का अनुभव के क्षणों में वर्णन असंभव है । संभोगजन्य आनन्द जो जैविकतल पर स्त्री-पुरुष का गहनतम स्पर्श है, व्यक्ति को जिस चरम आनन्द की उपलब्धि कराता है उसे सरलता से परमानन्द की संज्ञा दी जा सकती है । इस यात्रा में सौन्दर्य की उस मधुमती भूमिका की अस्मिता भी कम महत्वपूर्ण नहीं जिसका चाक्षुष अनुभव दो पृथक किन्तु अधूरी इयत्ताओं को पूर्णत्व के अनुभव के लिए एक दूसरे के निकट लाता है ।

× " विषधर के फण पर अमृत वृत्ति
उद्धत, अदम्य बर्बर बल पर
रूपांकुश, क्षीण मृणाल तार । "
उर्वशी, पृ. 76.

2. " देवालय में देवता नहीं, केवल मैं हूँ ।
मेरी प्रतिमा को घेर अगुरु गन्ध,
बज रहा अर्चना में मेरी मेरा नूपुर ।
× × × ×
भू नभ का सब संगीत नाद मेरे निस्सीम प्रणय का है,
सारी कविता जयगान एक मेरी त्रयलोक विजय का है ।"
-- वही, पृ. 76, 77.

पूर्णत्व यानी तृप्ति के क्षण अपनी इयत्ता में मात्र क्षण होते हैं क्योंकि व्यक्ति का काल बोध इस धारा को अभंग नहीं रहने देता । व्यक्ति को काल चेतना समग्रता के अवगाहन के प्रयास में निज की अस्मिता के कारण उसे खण्डशः ही ग्रहण कर पाती है । इस खण्ड स्थिति से पूर्णत्व की ओर यात्रा ही मानव की सबसे बड़ी समस्या है । चिन्तन के क्षण उसे वैचारिक सोपानों द्वारा उस दृश्य के निकट ला खड़ा करते हैं जिसका साक्षात्कार उसके समस्त प्रयासों की पृष्ठ-भूमि में निहित रहता है । जैविकतल पर उठने वाले वे समस्त अनुभव जिनका अभिज्ञान उसे त्वचा के नीचे बहते रुधिर के प्रवाह से होता है, उसे अखण्ड स्थिति तक पहुँचाने में सहायता करते हैं । उर्वशी का आत्मरूप इस महायात्रा का पथ है । इस पथ की विशेषता यह है कि यह व्यक्ति से बाहर निर्मित नहीं होता यद्यपि इसका पार्थिव अस्तित्व व्यक्ति बाह्य प्रतीत होता है । पुरूरवा इस तथ्य को स्वीकार करता है × किन्तु उसका अस्तित्वबोध है अधिक उपयुक्त तो मात्र बोध कहना ही होगा क्योंकि बोध का क्षण अस्तित्व का भी क्षण होता है । परमबोध के स्थिति की सूचना किसी भी माध्यम से संभव नहीं । है बोधत्व की महनीयता को खण्डित कर देता है । उर्वशी को लेकर, उसकी जैविकता के सम्बन्ध में, उसके सामीप्य को लेकर वह चिंतित होता है[2] तथा प्रत्येक काल में प्रत्येक रूप में उसका अनुगत होना चाहता है । [3] पुरूरवा का अस्तित्वबोध आर्थिकता को

× " तुम त्रिकाल सुन्दरी मगर आभा अखण्ड त्रिभुवन की,
सभी युगों से, सभी दिशाओं से चलकर आयी हो
× × × × × ×
एक पुष्प में सभी पुष्प, सब किरणें एक किरण में
तुम संहित, एकत्र एक तारे में सब तारे हो । "

2. " इसीलिए, तुम विविध जन्मकुंजों में पुलक जगाकर
सभी दिशाओं, सभी युगों को पुनः लौट जाओगी

3. " ---------- आगे-आगे तुम जहाँ-जहाँ जाओगी,
साथ चलूँगा मै सुगन्ध से खिंचे हुए मधुकर -सा ।
---- उर्वशी, पृ. 79 - 80.

पार्थिवता के सम्पुट में समेटने का प्रयास है । वह परमानन्द यानी पूर्णता के क्षणों की संभावनाओं को स्वीकारता है किन्तु उसकी विडम्बना या समस्या यह है कि उस पूर्णत्व को वह अपने अपूर्णत्व के द्वारा ही उपलब्ध होना चाहता है । वह आनन्द की उस चरमस्थिति को जो दिक्-काल से मुक्त है जन्म-जन्मान्तरों द्वारा उपलब्ध करना चाहता है । पुरुरवा की यह सबसे बड़ी समस्या है । वह अज्ञान की घोर स्थिति में है क्योंकि उसके पास ज्ञान का दावा है । ज्ञान के दावेदार प्राय: अज्ञानी ही होते हैं क्योंकि हर दावा एक झूठ होता है ।

उर्वशी प्रकृति के व्याज से अनागत का बोध कराती है । अमृत के मधुमय क्षणों का प्रतीक चन्द्रमा कालबोध से प्रभाहीन हो उठता है तथा रजनी की रंजकता निश्शेष हो जाती है । सूर्य रश्मियाँ ज्योति और ऊष्मा की धात्री हो सकती हैं किन्तु आनन्द की अखण्डता को खण्डित करनेवाली उनकी प्रखरता को नकारा नहीं जा सकता है । वन की प्रसन्न विहगावलि का सोहर एक ओर जहाँ अमृत तत्व की जैविक उपलब्धि का संकेत है वहीं अनागत की घटनाओं का पद-निक्षेप भी । अतीत के सह-भुक्त संवेदनों की पुन: जीने की आकांक्षा अनुभव की अखंडता को विखंडित कर देती है । अखण्डानन्द की यह विखण्डित स्थिति उर्वशी को उस सामान्य नारी के रूप में प्रस्तुत करती है जो अज्ञान अंजलि से ज्ञान गंगा का पान दूसरों को कराती है ; जो अतृप्ति की अनुभूतियों से तृप्ति की व्याख्या करती है तथा जो अपूर्णत्व के अंचल में पूर्णत्व को समेटती - सहेजती रहती है ।

* * * *
+ + +
⊕ ⊕
*

3.1.4 तथ्य : चार

वसूधरा के तट पर महर्षि च्यवन के आश्रम में उर्वशी पुरुरवा के वंशधर के रूप में उस पुत्र का प्रसव कर चुकी है जिसके गुणों के सम्बन्ध में -- यानी वह अपने भावी जीवन में जैविक तल के यथार्थ को अपनाएगा अथवा देवलोक की वायव्यता को अपना आदर्श बनाएगा-- च्यवन पत्नी सुकन्या उत्कंठित हैं । चित्र लेखा अप्सरा होते हुए भी धरती और गगन के अन्तर को स्वीकार नहीं करती । धरती का प्रत्येक कण दृष्टा को सौन्दर्य से पूरित प्रतीत होता है किन्तु यदि इस धरती का उत्खन्न किया जाय तो उससे आकाश की शून्यता ही प्राप्त होती है तथा आकाश जो पूर्णत: शून्यवत प्रतीत होता है उसमें भी जलद खंडों के रूप में इन्द्रधनुषी सौन्दर्य का साक्षात्कार किया जा सकता है । अम्बर की विरक्तता को वरणेय माननेवाले तपस्वी भी इस शून्य के सम्मोहन से अपने को विरक्त नहीं कर पाते । वस्तुत: सम्पृक्ति जीवन की प्रबलतम प्रवृत्ति है जिसके समक्ष विरक्ति एक छद्म ही सिद्ध होती है । विरक्ति को जीवन की प्रवृत्ति के रूप में स्वीकारनेवाले जन भी -- विशेष कर तपस्वी -- केवल सम्पृक्ति के क्षणों का स्थगन करते हैं ताकि वे और अधिक गहनता से सम्पृक्ति भाव से संयुक्त हो सकें यही कारण है कि उनके निकट सौन्दर्य की जीवन्तता समाधि की एकाग्रता द्वारा साधित ऊर्जा का साकार रूप प्रतीत होने लगती है जिसकी उपलब्धि की ललक का दमन करना उनके लिए भी अशक्य हो जाता है । उदाहरण के लिए महर्षि च्यवन स्वयं -- जो संसार से विरक्त होकर समाधि में लीन होगए थे अपने समक्ष सुकन्या के रूप में जीवन्त सौन्दर्य को देखकर विक्ल हो उठे थे । च्यवन की सौन्दर्य के प्रति यह आकुलता सुकन्या के निकट यदि एक महत्व

उपलब्धि बन गई तो आश्चर्य ही क्या ?

प्रश्न उठ सकता है क्या तपस्या जीवन की सहजता को -- जैविकतल प्रकट होनेवालही रसोर्जा की अभिव्यक्ति की बाधक है ? उत्तर भी स्पष्ट है -- तपस्या जीवन की सहज धार की बाधक न होकर उसकी स्वाभविकता के मार्ग में आनेवाली बाधाओं की प्रतिरोधात्मक शक्ति संचय का प्रयास है । महर्षि च्यवन का जीवन अपनी अभिव्यक्ति में उसका मूर्त रूप है । प्रेम को जैविक तल पर अनुभव किए बिना उसके उन्नयन की बात व्यर्थ है, एक थोथा आदर्श है क्योंकि उन्नयन के माध्यम से व्यक्ति अंतत: अपने आप को किसी अपर शक्ति से संयुक्त ही करना चाहता है, जिसकी सहज अनुभूति जैविकतल पर उठनेवाली सौन्दर्य की जीवन्तता को समेटकर, उससे एकमेक होकर ही की जा सकती है । तपस्या का तत्व निषेध में नहीं है । आत्मोपलब्धि के मार्ग आत्मा के अस्तित्व को स्थापित करनेवाले शरीर को नकारना असहजता है । ×

जीवन की सहजता, जीवन की अभिव्यक्तियों की लहरों पर बहनेवाले सुखों की सहजता है । तपस्या की सार्थकता उपभोग की पात्रता पैदा करने में है । इसके साथ ही यह भी स्वीकार किया जाना चाहिए कि भोग की अतिरंजना भोग के द्वारा उपलब्ध योग की आनन्दानुभूतियों को अनुभूत नहीं होने देती । तपस्या द्वारा इसी अनुभूति की पात्रता उत्पन्न होती है ।

भोग का सातत्य अपने अतिचार में सामाजिक व्यवस्था की सीमा में नहीं अटता, इसलिए सातत्य के वैविध्य को संस्कारों का कायल

× " केवल अन्तर्दाह, मात्र वेदना अतृप्ति -जनक को ;
दो निधि अन्त:क्षुब्ध, किन्तु संत्रस्त सदा इस भय से,
बाँध तोड़ मिलते ही व्रत को विभा चली जायेगी ;
अच्छा है मन जले किन्तु तन पर तो दाग नहीं है ।
मृषा तर्क, मन मलिन हुआ तो तन पर प्रभा कहाँ है ?
तन-मन का यह भेद सुकन्ये ! मुझे नहीं रुचता है । "
--- उर्वशी, पृ. 83.

मन अप्सरा का भोग कहता है । संस्कारी मन, जिसका प्रतिनिधित्व सुकन्या करती है, अपने निकट संस्कारों तथा प्रचलित मान्यताओं (नैतिक) को महत्व देना चाहता है इसलिए वह अप्सरा के प्रेम के प्रति न केवल शंकालु है प्रत्युत उसकी जीवन शैली के प्रति विस्मित भी । × संस्कारी मन के निकट अपने मत की स्थापना के लिए तर्क है कि नारी अपने एक प्राण से अनेक प्राणों की संतुष्टि का साधन कैसे हो सकती है ? (अप्सरा का प्रेम अनेक जनों के प्रति होता है :-

" जनमी हम किसलिए ? मोद सबके मन में भरने को ?
किसी एक को नहीं मुग्ध जीवन अर्पित करने को ।
सृष्टि हमारी नहीं संकुचित किसी एक आनन में,
किसी एक लिए सुरभि हम नहीं संजोतीं तन में ।
तथा
अपना है आकाश, न जाने, कितनों की बाहों में,
कैसे हम बंध रहें किसी भी नर की दो बाहों में ? "2

इसके साथ

ही पुरुष भी हृदय से उठने वाले प्रेम के अभाव में मात्र जैविक सौन्दर्य के स्पर्श से ही कैसे संतुष्ट हो जाता है ? 3 पृथ्वी का यह सौन्दर्य जिन उपकरणों से व्यक्त होता है वे सभी मरणं धर्मा हैं अस्तु इनके जरागत होते

× " एकाकारिणी में क्या जानूं स्वाद विविध भोगों का ?
× × × × × ×
शिखर-शिखर उड़ने में, जाने कौन प्रमोद लहर है
किन्तु, एक तरु से लग सारी आयु बिता देने में
जो प्रफुल्ल, घन गहन शाँति है, वह क्या कभी मिलेगी
नये-नये फूलों पर नित उड़ती फिरनेवाली को ? "-उर्वशी, पृ.84.

2. रामधारी सिंह दिनकर, "उर्वशी, पृ. 10.

3. " नहीं एक से अधिक प्राण नारी के भी होते हैं,
तो फिर उपालती क्षिप्रा कर क्या पुरुषों को ?
और पुरुष कैसे जी लेता पाये बिना हृदय को ?
स्यात् मात्र छू भित्ति योषिता के शरीर मंदिर को
धनु, प्रसून उन्नत तरंग को जहाँ चित्रकारी है । "
--- उर्वशी, पृ. 84.

सौन्दर्य की प्रभा अस्ताचलगामी होने लगती है । व्यवहारिकता के दृष्टिकोण से नारी -- जिसकी देह, इन सौन्दर्य उपकरणों का समुच्चय होने के कारण, प्रभाहीन हो उठती है -- को समय रहते ही अपने लिए एक आश्रय अवश्य खोजलेना चाहिए । सुरक्षा की यह व्यवस्था ही नारी के एकाधारिणी बनी रहने की बाध्यता है जिसके कारण वह अपनी सहज मुक्ति की कल्पना नहीं कर सकती । सुरक्षा तथा मुक्ति दोनों की संगति व्यवस्था के अन्तर्गत ही संभव है । सुरक्षा के लिए उसे अपनी स्वतंत्रता का बलिदान करना ही पड़ता है इस लिए वह अपनी समस्त महिमा के मध्य अपने को हतभाग्या मानती है ।× किन्तु पृथ्वी को नारी की महत्ता और सार्थकता उसका मातृत्व है जिसके कारण वह असीम महिमा वती हो उठती है । वस्तुत: नारी ही वह महासेतु है जो अदृश्य जगत को दृश्य जगत से संबद्ध करता है । सृजन के कार्य में तो पुरुष निमित्त मात्र ही होता है, उसका समस्त भार नारी ही वहन करती है यही उसकी महिमा है जो अतुलनीय है ।[2] सृजन की इस सृष्टि प्रक्रिया में नारी अनागत के पूर्णत्व की कल्पना से भरी रहती है । शक्ति, शील

× " पर ये चिर आँचर, भौहों के धनुष सिकुड़ जायेंगे,
छूटेगी अरुणिमा कपोलों के प्रफुल्ल फूलों की ।
और वक्ष पर जो तरंग यौवन की लहराती है,
पीछे समतल छोड़ जरा में जाकर खो जायेगी ।
तब फिर अन्तिम शरण कहाँ उस हत भागी नारी को ।

× × × × × ×

बाहर होगा विजन निकेतन भीतर प्राण तजेंगे
अन्तर के देवता भीषण हा हा कारों में । "

--- उर्वशी, पृ. 84 - 85.

2. रामधारी सिंह दिनकर, " उर्वशी", देखिए पृ. 91- 92.

और सौन्दर्य के समन्वय की आकांक्षा उसके सर्जकत्व का चरम बिन्दु है, जिसके लिए नारी का कल्पनाशील मन निरंन्तर सक्रिय रहता है । नारी अपने मन को इस सार्थकता के प्रति जिस आकर्षण में जोती है उसको सार्थक संज्ञा ममत्व ही हो सकती है । इस प्रक्रिया से गुजर कर ही नारी पूर्णत्व को उपलब्ध होती है । उर्वशी पूर्णत्व की उपलब्धि के पश्चात् भी भरत शाप के कारण अनागत रिक्तता के बोध से व्याकुल हो उठती है । एक ओर उसका ममत्व उपलब्ध को अपनाने के लिए आकुल है दूसरी ओर उसका प्रणय -- उसकी संस्पर्शी क्षुधा, रक्त की अप्रतिहत पुकार उसे अपने प्रियतम से दूर नहीं होने देती । उसका द्वन्द्व उसे ही नहीं झकझोरता प्रत्युत उसीके प्रति दूसरों की सहानुभूति भी अर्जित करता है । सुकन्या पति और पुत्र के मध्य चुनाव की स्थिति से मरण श्रेष्ठतर मानती है । मानवी की इस पीड़ा को देवता भी नहीं समझ सकते । वे तो मात्र मानसिक रूप से ही काम सुखों को भोगने के अभ्यस्त हैं । उनके मानस -काम को परि-तृप्त करने में कितने शरीर जैविक कामाग्नि में दग्ध होते रहते हैं इसका उन्हें आभास भी नहीं होता । वे तो मात्र सौन्दर्य के मानस के भोग के निमित्त नारी को उसकी चरम सार्थकता यानी मातृत्व से वंचित करना उचित मानते हैं, जिसके कारण अप्सराएँ अभुक्त काम की साधिकाएँ भर रह जाती हैं । उनकी यह पीड़ा उनके जीवन का सबसे बड़ा अभिशाप है । उर्वशी अभिशप्त है । उसे पति या पुत्र में से किसी एक का ही चुनाव करना होगा । अन्ततोगत्वा वह पति के संसर्ग को ही चयन करती है जिसके कारण आयु का सुकन्या के संरक्षण में ही रहना निश्चित होता है । उर्वशी उस भावी संकट की कल्पना से भी त्रस्त है जिसके कारण उसे एक दिन यह पृथ्वी छोड़कर पुन: स्वर्ग लोक जाना होगा । किन्तु उस स्थिति में भी वह धरती और इसके मादक स्पर्श ही उसके चिन्त्य होंगे । ×

× " पारिजात तरु तले ध्यान में जगी हुई खोजूँगी
उर:देश पर सुखद लक्ष्म प्रियतम के वक्षस्थल का,
रोमांचित सम्पूर्ण देह पर चिह्न विगत चुम्बन के । "
--- उर्वशी, पृ. 99.

कहा यह भी जा सकता है कि अप्सरा माता बनने पर भी सन्तान का पलन नहीं करती किन्तु ममत्व की ललक, उसके अदृश्य किन्तु दृढतम पाश उसे मुक्त नहीं होने देते । पृथ्वी के नियमों को स्वीकार करने के पश्चात् उनसे मुक्ति के लिए कोई अवकाश या अवसर शेष बचता ही नहीं । उर्वशी प्रियतम के सान्निध्य सुख का चुनाव करती अवश्य है किन्तु इस चयन में उसके मानस की समग्रता खण्डित हो जाती है । [8]

=/=/=/=/=/=/=

8 " उस बन्धन में तो अब केवल तन ही बंधा करेगा ;
प्राणों को यहीं तुम्हारे घर छोड़े जाती हूँ । "

---- उर्वशी, पृ. 102.

3.15.

तथ्य : पाँच

समय की अनन्तता में उभरनेवाली विविधता के मध्य सातत्य की एक्ल धारा का नाम "ऋत" है जिसके अन्तर्गत गत, अनागत एवं वर्तमान का महत्व नहीं होता । समय की यह विखण्डित स्थिति मानवी मेधा की उपज एवं उसकी विलक्षणता का चमत्कार है जो अखण्ड को खण्डित देखकर ही अपने ज्ञान की महिमा से अभिभूत हुआ करती है । व्यक्ति-चेतन अपने वर्तमान की स्थूलता से प्रभावित एवं परिचालित रहता है जब कि उसका अचेतन अपने विश्लेषण की प्रक्रिया से ऊपर उठकर ऋत की धारा से भी सम्पर्कित रहता इसीलिए गत असंतोष, वर्तमान की आकुलता से आलोड़ित मन स्वप्न में अनागत का प्रतीकत्व साक्षात्कार किया करता है । पुरूरवा प्रतिष्ठानपुर में अपने ऐसे ही किसी स्वप्न से चिंतित है । स्वप्न की घटनाएँ तथा स्थान उर्वशी को भी पूर्व संयोगों के कारण विचलित करतीं हैं । किन्तु समस्त प्रसंग गोपन है । ज्योतिषी विश्वमना स्वप्न का फल राजकुमार का अभिषेक एवं पुरूरवा का प्रव्राजित होना घोषित करते हैं । पुरूरवा घटना क्रम की विसंगतियों पर विचार करे इसके पूर्व ही सुकन्या आयु को लेकर राजदरबार में उपस्थित होती है । पुरूरवा आयु का परिचय पाकर कृतकृत्य हो उठता है उसे जीवन का अभिलाषित अनायास ही उपलब्ध हो जाता है । हर्ष का ज्वार समस्त बंधनों को तोड़ कर उमड़ पड़ता है किन्तु ठीक इन्हीं क्षणों में अभिशप्त उर्वशी का शाप फलित हो उठता है उसे मर्त्यलोक छोड़कर सुरलोक जाना पड़ता है । सौख्य के चरम क्षणों में ही अशनिपात होता है । अनागत की पूर्व छाया रूपायित हो उठती है। पुरूरवा की आकुलता क्रोध के ऐसे ज्वार के रूप में उमड़ती है जो वायु-संघात युक्त दिगंत् को समेटने के लिए बाहें पसारता है किन्तु कुछ ही पलों में पुन: सिमट जाता है । ज्वार की

वर्हिमुखता अन्तर्मुखी हो उठती है । पुरुरवा भी अन्तर्मन के सन्धान के लिए राज्य का उत्तरदायित्व पुत्र आयु को सौंप कर प्रव्रजित हो जाता है । जैविकतल पर व्यक्ति द्वारा पुत्र की आकांक्षा उसकी अमरत्व की आकांक्षा है ; यह आकांक्षा फलवती होते ही और अधिक उससे लिप्त रहना अर्थहीन हो उठता है । पुरुरवा आयु को उसका न्यास --- प्रत्येक व्यक्ति जीवन को एक न्यास के रूप में ही ग्रहण करता है, जिसे देर-अबेर उसे अगली पीढ़ी को सौंपना ही पड़ता है -- सौंप देता है । न्यासार्पण का कार्य कुछ लोग सचेतन मन से करते हैं और अमरत्व की तृप्ति से भर जाते हैं किन्तु कुछ लोग इससे अन्जान ही रहते हैं तथा रीत जाने के भय से ही भरे रहते हैं । रीत जाने का यह भय ही उनका असंतोष है, अपूर्णता का बोध है । न्यास सौंप कर मुक्त हो जाने का ज्ञान आत्मबोध है, मुक्ति है । पुरुरवा मुक्ति की इस दिशा में प्रयाण तो करता है किन्तु परितोषजन्य अतृप्ति के साथ ।

राज महिषी औशीनरी राजमाता बन कर भी रीत जाती है । कोख की अनुर्वरता का बोध मिटता प्रतीत होता है × किन्तु पति को खोने और उसके द्वारा उपेक्षित होने की पीड़ा पनपा उठती है ।[2]

× " हाय पुत्र ! मैं भी जीवन भर बहुत बहुत प्यासी थी ;
शीतल जल का पात्र अधर से पहले पहल लगा है । "
--- उर्वशी, पृ. 121.

2. " भूल गए क्यों दयित, हाय, उस नीरव, निभृत निलय में
बैठी है कोई अखण्ड व्रतमयी समाराधन में ।
× × × × × ×
और त्यागना ही था तो जाते-जाते प्रियतम ने
ले लेने दी नहीं धूलि क्यों अंतिम बार पदों की ?
मुझे बुलाए बिना अचानक कैसे चले गए वे ?
अकस्मात ही मैं कैसे मर गयी कान्त के मन में ?
--- उर्वशी, पृ. 124.

सुकन्या का संस्कारी मन नारी को मोक्षकामी पुरुष के लिए बंधन मानते हुए भी वर्तमान की घटनाओं को पूर्वनिर्धारित क्रम की कड़ी के रूप में स्वीकार करता है ।

औशीनरी अपने जीवन के आकलन में अपने को असफल मानती है । नारी का गृहणीत्व ही उसके निकट नारी जीवन की असफलता का कारण सिद्ध होता है । लज्जा, मंगलकामना तथा शील के आभूषण जीवनोपलब्धि के पथ के पथिक के लिए लौह शृंखला के समान ही होते हैं । औशीनरी पहले पति के प्रति अपने उत्सर्ग के बोध से भरी रहती है ।[×] किन्तु बाद में उसे अपनी भ्रान्ति का बोध होता है ।[2] सुकन्या नारी की महिमा की स्थापना के लिए शीतलता के साम्राज्य की संकल्पना प्रस्तुत करती है । वह पुरुष की परुष प्रचंडता में स्निग्ध आर्द्रता का संयोग चाहती है । नारी संवेगों को प्रेषित करने के लिए तथा उन्हें साकार करने के लिए नारी का अधिकार हीन होना और इस अधिकारहीनता के भाव से ही कृत-कृत्य होना उसके अधिकारों के लिए--- जो नारी जीवन का काम्य है --- कदाचित सर्वाधिक हानिकारक है ।

औशीनरी इस महिमामयी कल्पना से अभिभूत होते हुए भी नियति को यथावत् स्वीकार करती है तथा भावी नारी को अधिक जागरूकता के लिए कामना करती है । कुल मिलाकर नारी पुरुष के जीवन में एक आन्दोलन तो उत्पन्न करती है किन्तु आन्दोलन के उत्पन्न हो जाने के पश्चात् वह प्रमुख भूमिका में न रहकर पृष्ठभूमि के लिए ही अपने को अधिक उपयुक्त मानती है ।

: 5 : + : 5 :

*

× " अरी कौन है कृत्य जिसे मैं अब तक कर न सकी हूँ "
--- उर्वशी, पृ. 26.

2. रामधारी सिंह दिनकर, "उर्वशी", देखिए पृ. 126.

खण्ड : तीन

ऐ मौजे - बला । इनको भी जरा दो चार थपेड़े हल्के से
कुछ लोग अभी तक साहिल से तूफ़ां का नजारा करते हैं ।

कोयल के रसीले गीत सुने लेकिन ये कभी सोचा तूने,
हैं उलझे हुए नग्मे कितने इक साज़ के टूटे तारों में ।

तिश्नगी पीने पे मजबूर करे या न करे
ज़हर - आलूद अभी सैकड़ों जाम आयेंगे ।

जड़वी -- 81, 33, 48.
सं. प्रकाश पंडित, राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली, 1959.

खण्ड : तीन

[2] 3.2. अनुशीलन

3.2.1 अमरत्व की समस्या

3.2.2. व्यक्तित्व के विकास की समस्या

3.2.3 सौन्दर्यबोध की समस्या

3.2.4 काम की समस्या

3.2.5. नारी स्वत्व की समस्या

३.२. साहिल से सागर में उठनेवाले तूफानों को नहीं समझा जा सकता । साहिल से सागर को भी नहीं समझा जा सकता क्योंकि सागर साहिल से जितना दिखाई देता है उससे कहीं अधिक नहीं दिखाई देता । न दिखाई देने का अर्थ न होना नहीं है । वह होता है लेकिन उसके होने को साहिल से देखा नहीं जा सकता ।

गीत को रसवत्ता, उसकी संवेदनशीलता सहृदय को आकृष्ट कर सकती है । उसमें निहित संवेग व्यक्ति के संवेगों का स्पर्श पा सकते हैं किन्तु उनकी स्पर्शता संवेग कोचियों से अन्तरंगता नहीं हो सकती । शब्दों के द्वारा जितना व्यक्त होता है, उससे कहीं अधिक उनमें अव्यक्त रहता है । जो व्यक्त होता है वह असत्य नहीं होता लेकिन जितना व्यक्त होता है उसमें उतना ही नहीं, उससे बहुत ज्यादा होता है । व्यक्त और अव्यक्त के मध्य जो सेतु बनता है वह मानव बुद्धि का है । बुद्धि हर सेतु को बनाते-बनाते तोड़ देती है । इसीलिए एक अर्थ सेतु रागात्मक वृत्तियों का हो सकता है किन्तु इस सेतु पर से भी उस अव्यक्त को जाना नहीं जा सकता । जो जानने का प्रयास करता है वही जानने के मार्ग में बाधा बन जाता है । तात्पर्य यह कि न सागर को साहिल से समझा जा सकता है न कविता को शब्द से । जानने की जिज्ञासा सत्व के प्रति अनंकुरित आस्था यानी सम्भावना है तथा प्रयास और उसकी असफलता अस्तित्व की सत्ता का प्रमाण । सागर और उसमें उठनेवाले वात्याचक्रों को समझने का सफलतम् प्रयास नमक की पुतली हो कर सकती है । कविता को भी समझने की प्रक्रिया में उससे एकमएक होना ही एक मात्र मार्ग है । एकमएक होना यानी अपने आप को विलय कर देना । समझने की यानी कविता को पाने की आकुलता हमें सालती रहती है जिसके कारण व्यक्ति विविध प्रयासों में अपने आप को डाला करता है किन्तु उससे एकमएक नहीं हो पाता । कविता के बहाने व्यक्ति अपने आप

को ही उलीचा करता है किन्तु पूरे का पूरा उलीच नहीं पाता । व्यक्ति का यह अनउलीचापन ही उसके निकट समस्या बन जाता है । अनउलिचित रहकर रीत जाने की लालसा प्रकारान्तर से जीवन के सर्वोच्च शिखर का स्पर्श करने की लालसा है । शिखर की सर्वोच्चता जीवन से सम्पृक्त है क्योंकि उसके माध्यम से ही हमें उसके अस्तित्व एवं उसकी महत्ता का बोध होता है किन्तु बोध की इस यात्रा पर हम बोध को पाने के लिए निकल पड़ते हैं जिसमें हमारा अपना होना अनिवार्यत: शामिल रहता है जिसके कारण हम उसे पाते-पाते रह जाते हैं । सत्व को पा लेना अमरत्व है और पाते-पाते रह जाना उसकी समस्या । इस पूरी प्रक्रिया के मध्य हमारा जीवन ढेरों स्वीकारों तथा अस्वीकारों से भी भरा रहता है । स्वीकार और अस्वीकार से भरना यानी चयनात्मकता में जीना अर्थात् संग्रह और त्याग के प्रश्नों के साथ रहना । सत्व संग्रहणीय है । जीवन वरणीय है तथा मृत्यु त्याज्य । मृत्यु हम नहीं चाहते किन्तु वह जीवन की अनिवार्यता है । जीवन की आकांक्षा में मृत्यु से पलायन संभव ही नहीं । आदमी इस भूल-भुलैया में भटकता खूब है । सुना है बुद्ध ने कहा था कि " अप्प दीपो भव । " दीपक के प्रकाश में दूसरे देखा करते हैं, दीपक के लिए कुछ भी देखना शेष नहीं रहता । आत्मोपलब्धि की यह समस्या ही मानव जाति के साहित्य में कदाचित स्वर्ग और अमरत्व के रूपक से व्यापित हुई । उर्वशी में इसकी स्थिति अशान्त देखी जा सकती है ।

* * *

3.2.1. अमरत्व की समस्या

उर्वशी काव्य का प्रारम्भ प्रकृति की द्वैतात्मक स्थिति में होता है ।[×] प्रकृति के दोनों खण्डों के मध्य एक दूसरे को पा लेने की[2] कामना वायु रूप में सतत संचरित है । एक दूसरे को पा लेने का अनुभव पूर्णत्व का अनुभव है । अनुभवों के इन पलों को जी लेना विराट चेतना के अविच्छिन्न प्रवाह से जुड़ जाना है । यही अमृत-तत्व की झलक भी है । अनुभव की झलक का यह क्षण अपने विस्तार में सबकुछ समेट लेना चाहता है ।[3] उर्वशीकार के मानस की यह धारा आगे चल कर अनेक रूपों में पल्लवित होती है । अमरत्व का अनुभव पूर्णत्व का अनुभव है । उर्वशी की सम्पूर्ण कथा में प्रत्येक घटना इस पूर्णता की ओर प्रयाण करती दृष्टिगत होती है । अपूर्णता का विचार प्रकारान्तर से पूर्णत्व की कामना से ही परिचालित होता है । " उर्वशी "के प्रथम अंक अम्बर से उतरनेवाली अप्सराएँ " अभुक्त प्रेम की जीवित प्रतिमाएँ " हैं ।[4] उर्वशी स्वयं स्वर्ग की रिक्तता से परिचित है तथा अपने जीवन की पूर्णता

× " नीचे पृथ्वी पर वसन्त की कुसुम विभा छायी है,
ऊपर है चन्द्रमा ह्लादसी का निर्मेघ गगन में ।

2. सारी देह समेट निविड आलिंगन में भरने को
गगन खोल कर बाँह विसुध वसुधा पर झुका हुआ है ।

3. " सुख की सुगम्भीर वेला मादकता की धारा में
समाधिस्थ संसार अचेतन बहता -सा लगता है ।"--उर्वशी, पृ. 1 .
× × × ×
एक सघन क्षण में समेटने दो विस्तार समय का
एक पुष्प में भी त्रिकाल की सुरभि सूँघ लेने दो "--- उर्वशी, पृ.54.

4. वही, पृ. 3.

को उपलब्धि पृथ्वी पर करने के लिए आकुल है ।[×] पुरुरवा यद्यपि पृथ्वी का महान सम्राट है, किन्तु उसकी अपूर्णता जिन दो गवाक्षों से दिखाई पड़ती है उनमें से एक है उसकी पुत्र-हीनता है तथा दूसरा है उसका अभुक्त काम । पुत्र के रूप में व्यक्ति काल का अतिक्रमण करके अमरत्व को उपलब्धि करता है । पुरुरवा मनुष्य होने के कारण जीवन की मरण - धार्मता से परिचित है इसीलिए पुत्र का अभाव उसे बहुत सालता है ।[2] इसके साथ ही अन्त में उसे जब यह ज्ञात होता है कि वह पुत्रवान है तो उसकी सहज प्रसन्नता का अनुमान उसके इस कथन से लगाया जा सकता है :-

" द्वार खोल दो कोष भवन का, कह दो पौर जनों से,
जितना भी चाहें सुवर्ण आकर ले जा सकते हैं ।
ऐलवंश के महामंच पर नया सूर्य निकला है,
पुत्र प्राप्ति का लग्न आज अनुपम अबाध उत्सव है ।
पुत्र । अरे कोई संभाल रखो मेरी संज्ञा को,
न तो, हर्ष से अभी विकल विक्षिप्त हुआ जाता हूँ ।
पुत्र । अरे, ओ अमृत स्पर्श । आनन्द कन्द नयनों के ।
प्राणों के आलोक । हाय । तुम अब तक छिपे कहाँ थे ।"[3]

पुरुरवा पुत्र की उपलब्धि को अमृत स्पर्श कहता है । पुत्र के लिए प्रयुक्त किया जानेवाला अन्य विशेषण है " प्राणों के आलोक । प्राण उस समय तक मृत्यु के अन्धकार में संचरण किया करते हैं जब तक उन्हें अमरत्व के आलोक की उपलब्धि नहीं हो जाती । स्वर्गलोक प्रकाश का लोक है । अमरत्व एक स्थिति विशेष है जिसका अर्थ है प्रकाश की धारा से एकमेक हो जाना । प्राणों की वह चेतना जो शरीर के माध्यम

× रामधारी सिंह दिनकर, "उर्वशी", पृ. 14.

2. " प्रतिष्ठानपुर में भू का स्वर्गीय तेज जगता है,
एक वंशधर बिना, किन्तु, सब कुछ सूना लगता है ।
पुत्र । पुत्र । अपने गृह में क्या दीपक नहीं जलेगा ?
देवि । दिव्य यह ऐल वंश क्या आगे नहीं चलेगा । -उर्वशी, पृ.28.

3. वही, पृ. 110.

से ही अपनी अभिव्यक्ति को महत्वपूर्ण मानती है जैविकतल पर पुत्र प्राप्ति के पूर्व मृत्यु को गहन अन्धकारपूर्ण खाइयों में भटका करती है किन्तु पुत्र - प्राप्ति के पश्चात् जैविकतल पर शरीर संज्ञा का नूतन प्रादुर्भाव होता हो उठता है अस्तु इस नूतन संज्ञा का अभिज्ञानमय स्पर्श अमरत्व का स्पर्श है, आलोक का अनुभव है ।

पुरुरवा के निकट उर्वशी मात्र एक नारी न होकर सौन्दर्य की आत्यांतिक प्रतिमा भी है । सौन्दर्य अपने सारभूत रूप में उसके निकट उर्वशी के रूप में प्रकट होता है । वह उर्वशी की देह को अपनी भुजाओं में भरकर उसकी सौन्दर्य वीथियों में डूबना चाहता है । नारी के सूक्ष्मतम रूप का अवगाहन करना चाहता है । वह अंग संज्ञा से अपनी यात्रा का प्रारम्भ करके उसके पार जाना चाहता है क्योंकि संयोग के गहनतम क्षणों में उसे दैहिक नश्वरता का बोध रहता ही नहीं । देह के अतिक्रमण में निश्चित रूप से उसके मन यह भाव सतत विद्यमान रहता है कि :-

" ------- ऐसी कोई युक्ति निकालें,
जिससे मृत्यु करों में पड़ने पर भी नहीं मरें हम । "× तथा इसके साथ ही वह स्पष्ट रूप से घोषणा करता है कि - -"चाहिए देवत्व"2 --- देवत्व की यह चाह वस्तुत: मनुष्य के अन्तरतम् में निहित वह इच्छा है जो प्रतिपल अमरत्व की कामना किया करती है ।

" उर्वशी" में अनेक स्थलों पर देवता और मनुष्य तथा पृथ्वी और स्वर्गलोक की तुलना पाई जाती है । इस तुलना के मूल में पृथ्वी की सीमाएँ तथा उसे उसकी सीमाओं में महत्वपूर्ण सिद्ध करने का प्रयास स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है । वस्तुत: इस प्रकार की तुलना जिस बोध के कारण जन्म लेती हैं वह है उस अमर मूल्य या स्थिति को प्राप्त

× रामधारी सिंह दिनकर, "उर्वशी", पृ. 64.
2. वही, पृ. 42.

करने का प्रयास या उसके प्रति प्राप्य भाव की अभिव्यक्ति । यह अभिव्यक्ति चेतन और अचेतन दोनो प्रकार की हो सकती है, किन्तु इसके सचेत या अचेत प्रयासों से इसकी स्थिति को अस्वीकार नहीं किया जा सकता । अमरत्व की यह समस्या उर्वशी के सम्पूर्ण कथानक से उभरती है । इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता ।

3.2.2. व्यक्तित्व के विकास की समस्या

मानव बुद्धि जिस श्रेष्ठतम एवं सुन्दरतम् रूप की कल्पना कर सकती है उसका समन्वित रूप जब आकार ग्रहण करता तो उसे सरलता से ईश्वर की संज्ञा से अभिहित किया जा सकता है। समाज में व्यक्ति का जन्म उस महत् तत्व की अभिव्यक्ति है जिसकी व्याप्ति परिवेश एवं ज्ञान की अनन्तता है। उर्वशी में इस तथ्य की अभिव्यक्ति अनेक रूपों में हुई है।×

सत्व की अभिव्यक्ति व्यक्तित्व है तथा गत्यात्मकता उसका विशेष गुण। गत्यात्मकता का प्रत्येक चरण अभावों को संकेतित करता है। अभाव वस्तुतः उस विराट शून्यता की अभिव्यक्ति है जिसके कारण प्रत्येक गति संभव हो पाती है। यह शून्यता अपने शून्य रूप में भी स्थिर नहीं रहती इसीलिए जीवन के विभिन्न क्षेत्रों विविध रूपों में प्रस्फुटित होकर उसकी विकासशीलता को बनाए रखती है।

उर्वशी के सभी प्रमुख पात्र इस अभाव से ग्रस्त हैं यानी किसी न किसी रूप में अपने व्यक्तित्व की अपूर्णता को भरने के प्रयास में प्रयत्नशील दृष्टिगत होते हैं। पुरुरवा अपने अधूरेपन को उर्वशी के सानिध्य से भरना चाहता है। उसके सानिध्य को पा लेने पर उसके अन्तर में अनेक शून्य चमकने लगते हैं, जिन्हें वह जैविकस्तर के अतिक्रमण कर एक अनबूझ वायवीयता से भरना चाहता है।

उर्वशी स्वयं भी स्वर्ग की अप्सरा होते हुए भी जीवन की जैविक संस्पर्शों की जीवन्तता में जीना चाहती है। पृथ्वी के मनुष्य का काम्य

× " मुझे। सदा शिशु के स्वरूप में ईश्वर ही आते हैं।
महापुरुष को ही जननी प्रत्येक जनमे होती है,
किन्तु भविष्यत को समेट अनुकूल बना लेने का
मिलता कहाँ सुयोग विश्व की सारी माताओं को।"
--- उर्वशी, पृ. 92.

स्वर्ग उसे कारहीन प्रतीत होता है और वह इस मानवलोक में साधारण मानवी के रूप में जीने की कामना से ही स्वर्ग का परित्याग कर देती है । इतना ही नहीं निस्पृह भाव से मात्र वर्तमान को जीनेवाली उर्वशी स्वयं स्वीकार करती है कि जब भरत [illegible] शाप के फलित होने पर उसे पुनः स्वर्गलोक में वापस जाना पड़ेगा तब वह पारिजात वृक्ष के तले बैठी पृथ्वी पर जिए हुए जैविक संस्पर्शों की जीवन्तता की ही कल्पना में विसूरती रहेगी । ×

औशीनरी अपने व्यक्तित्व का विकास पति और पुत्र को पाकर करना चाहती है किन्तु उसे आजीवन इन दोनों अभावों के मध्य ही जीना पड़ता है ।

आयु जननी और जनक दोनों की छाया से वंचित रहता है । उसे पिता का साम्राज्य मिलता है पिता नहीं तथा माता का वात्सल्य मिलता है किन्तु जननी का स्नेह नहीं ।

महर्षि च्यवन अपनी तपस्या में भी अपने व्यक्तित्व को अपूर्ण ही अनुभव करते हैं उन्हें सुकन्या का सौन्दर्य तप की सिद्धि प्रतीत होता है । सौन्दर्य को भोगने के लिए वे अपनी तपस्या के प्रभाव से यौवन प्राप्त करने के लिए प्रस्तुत है । सुकन्या सौन्दर्य और वैभव से सम्पन्न है किन्तु यश और प्रशस्ति उसके व्यक्तित्व की अपूर्णताएँ हैं जिनके लिए वह स्वयं अपने आप को वृद्ध तपस्वी च्यवन के सम्मुख समर्पित कर देती है । 2

× " पारिजात तरु-तले ध्यान में जगी हुई खोजूँगी
उर: देश पर सुखद लक्ष्म पुरुषोत्तम के वक्षस्थल का,
रोमांचित सम्पूर्ण देह पर विह्वल विगत चुम्बन के । "
--- उर्वशी, पृ. 99.

2. लौट गए थे निराश शत-शत युवराज जहाँ से,
वही द्वार फिर खुल गया श्रवण कर यह प्रशस्ति तापस की
" हरि प्रसन्न यदि नहीं सिद्धि बन कर तुम क्यों आया हो ?"
--- उर्वशी, पृ. 88.

अप्सराएँ जिनका सम्बन्ध उस स्वर्गलोक से समझा जाता है जो अपने आप में पूर्ण है× -- अपनी व्यथा कंठ को जिस अवरुद्धता से करतीं हैं उससे उनके व्यक्तित्व की अपूर्णता ही परिलक्षित होती है । इस सम्बन्ध में चित्रलेखा का यह कथन दृष्टव्य है :--

" हम कुछ नहीं रंजिकाएँ हैं मात्र अभुक्त मदन की ।
हाय सुकन्ये । नियति शाप से ग्रसित अप्सराओं की
कोई भी तो नहीं विषम वेदना समझ पाता है । [2]

इस प्रकार हम देखते है कि उर्वशी में आद्यान्त व्यक्तित्व के विकास की समस्या की परिव्याप्ति देखी जा सकती है ।

* *

× " क्योंकि मर्त्य तो अमरलोक को पूर्ण मान बैठा है,
पर कहते है, स्वर्ग लोक भी सम्यक् पूर्ण नहीं है । "
--- उर्वशी, पृ. 3.

2. रामधारी सिंह दिनकर, "उर्वशी", पृ. 96.

3.2.3. सौन्दर्यबोध की समस्या

मानव मन की श्रेष्ठतम् की चाक्षुष अभिव्यक्ति का नाम सौन्दर्य है । जिसका प्रक्षेपण वस्तुजगत में व्यापित होता है । वस्तुजगत का यह प्रक्षेपण इन्द्रियों से सन्निकर्षित हो मन के उन अतल गह्वरों में प्रविष्ट होकर, जिनमें श्रेष्ठतम् प्रसुप्त चेतनावस्था में सन्निहित रहता है, उसके उपभोग की ओर मानव मन को प्रेरित करता है । उपभोग के मार्ग में बोध के कतिपय क्षण ऐसे भी आते हैं जब वह ऊर्ध्वमुखी हो इतना विराट हो उठता है कि उसके अस्तित्व के कोमल - कठोर संस्पर्शों की व्याप्ति समस्त ज्ञानेन्द्रियों को अपने परिधि में समेट लेती है । सौन्दर्य की इस विराटता के समक्ष उपभोक्ता मन बौना जाता है जिसके कारण दो परस्पर विरोधी घटनाएँ घटती है, एक ओर तो उपभोग की प्रक्रिया अवरुद्ध हो जाती है तथा दूसरी ओर वह सौन्दर्य के आत्यांतिक रूप को आत्मसात् करने की जिज्ञासु आकुलता से भर जाता है और इसी मन: स्थिति के बिन्दु पर सौन्दर्य बोध की समस्या का जन्म होता है ।

उर्वशी का पुरुरवा इसी प्रकार की समस्या से जूझता दिखाई पड़ता है जब वह उर्वशी को अपने निकटतम पाकर भी कहता है ::--

" दृष्टि का जो पेय है, वह रक्त का भोजन नहीं है ।
रूप की की आराधना का मार्ग आलिंगन नहीं है।

× × × × × × ×

रक्त की उत्तप्त लहरों की परिधि के पार
कोई सत्य हो तो,
चाहता हूँ, भेद उसका जान लूँ ।

" पन्थ हो सौन्दर्य को आराधना का व्योम मे यदि
शून्य को दस रेख को पहचान लूँ ।
पर जहाँ तक भी उड़ूँ,
इस प्रश्न का उत्तर का [illegible] नहीं है । ×

पुरूरवा का सौन्दर्योपासक मन उर्वशी के अशेष सौन्दर्य को स्वीकार करता है किन्तु उसकी जिज्ञासु आकुलता उसे सौन्दर्य की अशेषता के इस बिन्दु पर भी विरमने नहीं देती ।[2] वह उर्वशी से अपने निकटतम् सम्पर्क को स्वीकार करता है परन्तु उसके सम्बन्ध में अपने ज्ञान की सीमा को इन शब्दों में स्पष्ट स्वीकार करता है :---

" विविध सुरों में छेड़ तुम्हारी तन्त्री के तारों को,
बिठा-बिठा कर विविध भाँति रंगों में रेखाओं में,
कभी उषा उर कम्प, कभी मानस के शीत मुकुर में,
बहुत पड़ा मैंने अनेक लोकों में तुम्हें जगा कर ।
पर इन सबसे खुलीं पूर्ण तुम ? या जो देख रहा हूँ,
मायावरण । वह बन्द मुकुल है, महासिन्धु का तट है ?"[3]

उर्वशी पुरूरवा को अपने देवत्व का परिचय देती है । वह उसके सौन्दर्य की दिव्यता को स्वीकार करता है किन्तु सौन्दर्य का यह देवत्व उसकी जिज्ञासु आकुलता का शमन नहीं कर पाता जिसके कारण पुरूरवा उसका अनुगत होते हुए भी यह कहे बिना नहीं रह पाता :--

" पर, रहस्य हट जाने पर भी रही रहस्यमयी तुम
मायावरण दूर कर देने पर भी तुम माया हो । "[4]

× रामधारी सिंह दिनकर, "उर्वशी", पृ. 37.

2. " तुम अशेष सुन्दर हो, पर हो कोर मात्र ही केवल,
उस विराट छवि की, जो, पल के नीचे अभी दबी है ।"
---- उर्वशी, पृ. 49.

3. रामधारी सिंह दिनकर, "उर्वशी", पृ. 60.

4. वही, पृ. 78.

उर्वशी के कथा सूत्र में इस प्रकार सौन्दर्यबोध की समस्या को हम अनुस्यूत पाते हैं । यह समस्या यद्यपि उतने विस्तृत रूप में नहीं उभरी है जितनी अन्य समस्याएँ किन्तु इसके सीमित परिवेश से इसका महत्व कम नहीं होता ।

3.2.4 काम की समस्या

काम की समस्या का अर्थ है काम की अभुक्तता । उर्वशी के सभी पात्र काम की अभुक्तता से ग्रस्त हैं । प्रेम काम की रसमय अभिव्यक्ति है । काम की समस्या उर्वशी में आद्यान्त देखी जा सकती है । जैविकतल पर काम मुक्तता की परिणति आत्मोपलब्धि है । पुरुरवा संतानहीन है × अतः उसका काम अभुक्त है । पुरुरवा के काम की यह अभुक्तता ही उसे उर्वशी की ओर आकृष्ट करती है जो स्वयं अभुक्त काम है । देवलोक का ऐश्वर्य मानवी दृष्टिकोण से स्पृहणीय और काम्य हो सकता है किन्तु वहाँ की स्पर्श शून्यता उर्वशी के मन में ऐसी रिक्तता उत्पन्न कर देती है कि उसे वहाँ का समस्त वैभव व्यर्थ प्रतीत होने लगता है ।[2] वह धरती के जीवन्त स्पर्श को प्राप्त करने के लिए नारी सुलभ लज्जा तक का परित्याग कर पुरुरवा के अंक में आ जाती है :-

" मिले अन्त में तब जब ललना को मर्यादा गर्वा का
स्वर्ग लोक को छोड़ भूमि पर स्वयं चली मैं आयी । "[3]

उर्वशी काम को पूरी तरह भोगना चाहती है । उसका भोग उस पूर्णता की उपलब्धि के लिए आकुल है जिसमें जीवन की समस्त रिक्तता निश्शेष हो जाती है । वह पुरुरवा के दार्शनिक उद्गारों को, उसके मुक्ति

× " प्रतिष्ठानपुर में भू का स्वर्गीय तेज जगता है,
एक वंशधर बिना, किन्तु सब कुछ सूना लगता है ।
पुत्र । पुत्र अपने गृह में क्या दीपक नहीं जलेगा ?
देवि । दिव्य यह ऐलवंश क्या आगे नहीं चलेगा ?"--उर्वशी, पृ.28.

2. " स्वर्ग स्वर्ग मत कहो, स्वर्ग में सब सौभाग्य भरा है,
पर इस महा स्वर्ग में मेरे हित क्या आज धरा है ? " वही, पृ.14.

3. रामधारी सिंह दिनकर, "उर्वशी", पृ. 32.

प्रयासों को सहज सकारती हुई कहती है कि :---

" पर मै बाधक नहीं, जहाँ भी रहो, भूमि या नभ में,
वक्ष स्थल पर इसी भाँति मेरा कपोल रहने दो ।
कसे रहो बस इसी भाँति उर पोड़क आलिंगन में
और जलाते रहो अधर पुट को कठोर चुम्बन से । "×

औशनरी स्वयं अभुक्त कामा है । वह प्रियतम को अपने में अनुरक्त रखना चाहती है किन्तु उसका काम दोहरे अर्थों में अभुक्त है । प्रियतम का अन्य रमणी में अनुरक्त हो जाना तथा अपत्य की अनुपलब्धि ।

औशीनरी अंत में आयु को, जो अनायास ही उसके अंक में आ जाता है, पाकर निहाल हो उठती है । उसे उसका समस्त तिरस्कृत जीवन सार्थक हो उठा प्रतीत होता है । वह प्रियतम का सद्य:आघात आयु को पाकर सहज ही सह लेती है :--

" आ बेटा । तूँ जुड़ा प्राण छाती से तुझे लगाकर ।
× × × × × ×
तुझे प्यास वात्सल्य सुधा की, मै भी उसी अमृत से
बिना लुटाये कोष हाय । आजीवन भरी रही हूँ ।
फला न कोई शस्य, प्रकृति से जो भी अमृत मिला था,
लहर मारता रहा टहनियों में सूनी डालों में ।
किन्तु प्राप्त कर तुझे आज, बस यही भान होता है,
शस्य भार से मेरी सब डालियाँ झुकी जातीं हैं ।
हाय पुत्र मैं भी जीवन भर बहुत बहुत प्यासी थी ;
शीतल जल का पात्र अधर से पहले-पहल लगा है । " 2

महर्षि च्यवन भी अभुक्त काम हैं । अपनी प्रथम पत्नी आरुषी

× उर्वशी, पृ. 50.

2. वही. पृ. 120-121.

को मृत्यु से खिन्न होकर समाधि में प्रविष्ट होनेवाले च्यवन सुकन्या को देखकर उसके सौन्दर्य की स्तुति सी करने लगते हैं :--

" कहाँ मिला यह रूप देखते हो जिसको पावक को
दाहकता मिट गयी, स्थाणु में पत्ते निकल रहे हैं ?"×

तथा

" अब होगा क्या अरे स्वर्ग जिसका सन्धान करूँ मैं ?
हरि प्रसन्न यदि नहीं, सिद्धि बन कर तुम क्यों आयी हो"×?

सुकन्या का काम पूर्णत्व को उपलब्ध हो चुका है ऐसे प्रमाण हमें नहीं मिलते । वह एकाचारिणी होते हुए भी विविध भोगों का निषेध करती है जबकि उसे ~~[illegible]~~ विविध भोगों से प्राप्त आनन्द का कोई अनुभव नहीं है । उसकी एकाचारिता भी नारी जन्य ; वह भू लोक की ऐसी नारी जिसका यौवन तथा सौन्दर्य शाश्वत नहीं रहता ; विवशता है । विवशता की स्थिति पूर्णता का प्रतिफलन नहीं हो सकती ।[2]

अप्सराएँ मुक्त काम का उपभोग करती दृष्टिगत होती है किन्तु उनका यह मुक्त भोग ही उनके काम की अभुक्तता का प्रमाण है । मुक्त सहवास की संस्कृति में विश्वास रखनेवाली अप्सराओं का मानस जिस पीड़ा से भरा हुआ है उसकी एक झलक चित्रलेखा के इस कथन में देखी जा सकती है :---

" हम कुछ नहीं, रंजिकाएँ हैं मात्र अभुक्त मदन की ।
हाय सुकन्ये । नियति शाप से ग्रसित अप्सराओं को,
कोई भी तो नहीं विषम वेदना समझ पाता है । " [3].

× रामधारी सिंह दिनकर, "उर्वशी", पृ. 87.

2. " पर ये चित्र अचिर भौहों के धनुष सिकुड़ जायेंगे,
छूटेंगी अरुणिमा कपोलों के प्रसन्न फूलों की ।
और वक्षपर जो तरंग यौवन को लहराती है,
पीछे समतल छोड़ जरा में जाकर खो जायेगी
तब फिर अंतिम शरण कहाँ उस हतभागी नारी को ?"--उर्वशी, पृ, 84.

3. रामधारी सिंह दिनकर, "उर्वशी", पृ. 96.

देवता काम की अभुक्तता से ग्रस्त हैं । उनकी अभुक्तता पुंसत्व-हीनता की सीमा के निकट पहुँच-ती होती है :-

" भस्म समूहों के भीतर चिंगियाँ अभी जीती हैं ।
सिद्ध हुए पर सतत चारिणी तरी मनकेतन की
अब भी मन्द-मन्द बहती चलती है अमित रक्त धारा में "

× × × × ×

" सहे मुक्त प्रहरण अनंग का दर्प कहाँ वह तन में ?
विबुध पंचशर के बाणों को मानस पर लेते हैं ।
वशं में नहीं सुरों के प्रशमन सहज स्वच्छ पावक का,
ये भोगते पवित्र भोग औरों में वह्नि जगाकर । "×

****

3.2.5 नारी स्वत्व की समस्या

स्वत्व के होने का अर्थ है अपना होना और अपना होना तभी सिद्ध हो सकता है जब दूसरा हो । यह दूसरा दर्पण से अधिक कुछ नहीं होता । नारी ने अपने स्वत्व की छाया देखने के लिए जिस दर्पण का चयन किया उसे नर की संज्ञा दी जा सकती है । नर भी अपनी छाया नारी के दर्पण में ही देखना चाहता है । इसका यह अर्थ नहीं है कि नारी अथवा नर के दर्पण में नारी के दर्पण में अथवा नर नर के दर्पण में अपनी छाया देख ही नहीं सकता । ऐसा संभव है गणित एवं तर्क के नियमों से किन्तु गणित तथा तर्क अपने आप में प्रभावशाली होते हुए भी प्रत्येक स्थल पर महत्वपूर्ण नहीं होते । छाया को देखते समय हम केवल छाया ही नहीं देखना कह चाहते ; हम तो वस्तुत: छाया के माध्यम से ही अपने पूर्णत्व का साकार दर्शन चाहते हैं । पूर्णत्व का साकार दर्शन ही सौन्दर्यवादी दृष्टि से महत्वपूर्ण खोज हो सकती है इसलिए भी नारी या नर जिस दर्पण का चयन करते हैं वह प्रत्यक्षत: विजातीय होता है । विपरीत की ओर आकृष्ट होना ही प्रकृति का नियम है । विपरीत का अर्थ उल्टा नहीं होता । वस्तुत: विपरीत कुछ होता भी नहीं है । पश्चिम पूर्व का विलोम नहीं है ; वह उसका प्रसार है । इसके साथ ही दर्शन के लिए दूरी भी उतनी ही महत्वपूर्ण है जितनी दृष्टि, दृश्य, दृष्टा और प्रकाश । नर और नारी एक ही अस्तित्व के दो छोर हैं । नारी के स्वत्व को प्रामाणिकता मात्र नर के ही दर्पण में संभव है । इसके लिए नारी के पास दो ही विधियाँ हैं या तो स्वयं दर्पण के पास चली जाय या फिर दर्पण को अपने निकट ले आए । जब नारी किसी एक दर्पण यानी नर के पास चली

जाती है तो गृहणी कहलाती है । गृहणी बन कर अपने अस्तित्व को प्रमाणित करना दर्पण के निकट होना है । और इसके अतिरिक्त जो उपाय है वह है दर्पण को अपनी ओर आकृष्ट करना, अर्थात् स्वयं ऐ ऐसा दर्पण बन जाना जिसमें दूसरे अपना प्रतिबिम्ब देखने के लिए उत्सुक हो उठें। इस स्थिति में नारी स्वयं दर्पण बनकर एक ओर दूसरों को अपनी ओर आकृष्ट करती है तो दूसरी ओर अनेक दर्पणों में अपनी छवि देखकर अपने अस्तित्व का अनुभव करती है । इस स्थिति में नारी अप्सरा हो जाती है । गृहणी और अप्सरा का यही भेद है । गृहणी एक दर्पण मे अपना अस्तित्व खोजती और अप्सरा अनेक दर्पणों में अपना प्रतिबिम्ब निहार कर अपने अपने अस्तित्व को प्रमाणि करती है । दोनो ही स्थितियों में दर्पण दूसरा ही होता है और दूसरे के हटने से उसका अस्तित्व उसे संदिग्ध सा प्रतीत होने लगता है । यही नारी स्वत्व की समस्या है ।

उर्वशी में नारी की यह समस्या अत्यंत जीवन्त रूप में देखी जा सकती है । वस्तुत: यह समस्या प्रमुख रूप से औशनरी के माध्यम से ही व्यक्त हुई है । औशोनरी जहाँ पुरुरवा से प्रेम करती है वहीं उसे मात्र अपने लिए सुरक्षित रखना चाहती है । एक पुरुष मात्र ऐक स्त्री के लिए तथा एक स्त्री मात्र एक पुरुष पुरुरवा के लिए जब आरक्षित होने लगते हैं तब वे जीवित इकाई के स्थान पर वस्तु मात्र रह जाते हैं, तथा एक दूसरे पर अधिकार पाना अपने अस्तित्व की प्रामाणिकता मानने लगते हैं। औशोनरी पति को गवाँ कर अकुलाती पछताती रहती है । × उर्वशी उसे अपने हाथों से बाहर नहीं जाने देना चाहती वह उसे कभी तर्क से

× " पति के सिवा योषिता का कोई आधार नहीं है ।
जब तक है यह दशा, नारियाँ व्यथा कहाँ खोयेंगी ?
--- उर्वशी, पृ. 28.

कभी रूपाकर्षण से कभी आलिंगन की ऊष्णता के तंतुओं से बांध रखना चाहती है ।×

सुकन्या अपने सत्व को कायम रखने के लिए नारी को किसी एक नर से जुड़ जाने का रहस्य समझाती है ---

" इसीलिए, कहती हूँ जब तक हरा-भरा उपवन है,
किसी एक के संग बांध लो तार निखिल जीवन का । "2

अप्सराएँ प्रत्यक्षत: अनेकाचारिणी प्रतीत होती हैं किन्तु एक से न बंध पाने को वह अपनी नियति मानती हैं । स्वेच्छा से किया गया चुनाव नहीं । इसके साथ ही उन्हें ऐसा लगता है जैसे उनका समस्त स्वत्व एकाचारिणी होते ही विखण्डित हो उठेगा किन्तु यदि विचार पूर्वक देखा जाय तो उनके हृदय में स्वत्व संरक्षण की समस्या अत्यंत प्रबल है । उनके कथनों का विरोधाभास इस तथ्य को ही पुष्ट करता है । रंभा का एक ओर यह कहना कि ----

" दृष्टि हमारी नहीं संकुचित किसी एक आनन में,
किसी एक के लिए सुरभि हम नहीं संजोती तन में । "3

---- तथा दूसरी ओर चित्रलेखा का यह कथन कि---

" हम कुछ नहीं परस्पर संघर्षित रंजिकाएँ है मात्र अभुक्त मदन की । "4

सिद्ध करता है कि वे अपने स्वत्व के प्रति पर्याप्त चिंतित हैं ।

× " पाप दीखता वहाँ जहाँ सुन्दरता हुलस रही है,
और पुण्य क्षय वहाँ जहाँ कंकाल कुलिश काँटे हैं । "
--- उर्वशी, पृ. 46.

2. रामधारी सिंह दिनकर, "उर्वशी, पृ. 84.
3. वही, पृ. 10.
4. वही, पृ. 96.

स्वत्व की चिंता का एक अन्य रूप जो सहज ही "उर्वशी में देखा जा सकता है वह है अपने अस्तित्व के रक्षा की चिन्ता । ×ऐसा रंभा मुक्त साहचर्य की वकालात भी करती है तथा प्रेम के फलित रूप यानी मातृत्व की अपरिहार्य महिमा को भी अन्तर से कहीं स्वीकार करती है किन्तु उसकी प्रक्रिया में डूबे कि ---

" तन ही जाता शिथिल दान में यौवन गल जाता है "×

---- इसलिए उससे अपने को मुक्त रखना चाहती है ।

" कण भर मधु का लोभ और इतनी विपत्तियाँ सारी ?"[2]

विपत्तियों का प्रत्यक्ष स्वीकार वस्तुत: उस भय की अभिव्यक्ति है जिसकी अनुभूति समस्त स्वत्व को निश्शेष होता अनुभव करती है । स्वत्व का यह अभावात्मक स्थिति का बोध वस्तुत: एक बड़ी समस्या है जिसकी अभिव्यक्ति "उर्वशी" में नारी के विभिन्न रूपों में हुई है । आगामी अध्याय में इनकी चर्चा विस्तार से विश्लेषण के अन्तर्गत की जाएगी ।

* *
* * *

× रामधारी सिंह दिनकर, "उर्वशी", पृ. ।।

2. वही, पृ. ।।.

खण्ड : तीन

3.3. विश्लेषण

" अमरता का अर्थ है अविर्वन । -------
----------सहस्र-सहस्र वर्षों चले आते मनुष्य की पर-
म्परा ही उसकी अमरता है ।"

यशपाल, "दिव्या",
लोक भारती प्रकाशन, 1978, पृ.131.

खंड : तीन

३.३. विश्लेषण

(1) अमरत्व की समस्या

स्वरूप
विश्लेषण
संश्लेषण

(2) व्यक्तित्व के विकास की समस्या

स्वरूप
विश्लेषण
संश्लेषण

(3) सौन्दर्यबोध की समस्या

स्वरूप
विश्लेषण
संश्लेषण

(4) काम की समस्या

स्वरूप
विश्लेषण
संश्लेषण

(5) नारी स्वत्व की समस्या

स्वरूप
विश्लेषण
संश्लेषण

3.3.1 अमरत्व की समस्या

स्वरूप :-

उर्वशी में अमरत्व की समस्या मुख्य रूप से दो रूपों में देखी जा सकती है -- परोक्ष और प्रत्यक्ष ।

समस्या का परोक्ष रूप :-
३.३.१.१

किसी भी कृति का निर्माण वस्तुत: कलाकार की अमरत्व की कामना की ही अभिव्यक्ति होता है । कृति के माध्यम से कलाकार समय का अतिक्रमण कर जाता है तथा जब तक उसकी कृति का अस्तित्व रहता है वह रहता ही है । अपनी नश्वर काया के पश्चात् भी वह अपनी कृति-काया में विद्यमान रहता है । उर्वशी भी कलाकार की कृति है अस्तु उसके निर्माण में भी परोक्ष रूप से रचनाधर्मिता के रूप में उस अमरता की आकांक्षा का ही प्रतिफलन देखा जा सकता है जो समस्त कृतियों के निर्माण में कलाकार के अचेतन मानस में कहीं गहरे में विद्यमान रहती है । अमरत्व के अलब्धि की यह आकांक्षा ही उस समस्या का परोक्ष रूप है जिसे अमरत्व की समस्या कहा जा सकता है । समस्या के इस स्वरूप के सम्बन्ध में यह महत्वपूर्ण है कि कदाचित कलाकार स्वयं अपनी इस आकांक्षा से रचना के क्षणों में या उसके बाद भी स्पष्ट रूप से परिचित नहीं होता किन्तु काव्य प्रयोजनों की ओर ध्यान देने से इसे सरलता से रेखांकित किया जा सकता है ।×

× काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।
सद्य: परनिर्वृत्तये कान्तासम्मिततयोपदेशुजे ।।-मम्मट :काव्यप्रकाश १/2

- तथा -

धर्मार्थकाम मोक्षेषु वैचक्षणं कलासु च ।
प्रीतिं करोति कीर्तिं च साधुकाव्य निबन्धनम् ।।
-भामह :काव्यालंकार १/2

समस्या का प्रत्यक्ष रूप :-
3.3.1.2

प्रत्यक्ष रूप में "उर्वशी" में अमरत्व की समस्या को पुन: दो रूपों में विभाजित किया जा सकता है । इन दोनों रूपों को हम क्रमश: इनके स्वरूप के आधार पर जैव तलीय अमरत्व की समस्या तथा अध्यात्म तलीय अमरत्व की समस्या कह सकते हैं ।

जैवतलीय अमरत्व की समस्या :-
3.3.1.2.1

जैव तलीय अमरत्व की समस्या से हमारा तात्पर्य समस्या के उस रूप से है जिसकी अभिव्यक्ति जैविक तल पर होती है । अर्थात् अमरत्व की ऐसी समस्या जिसका समाधान जैविक तल पर उपलब्ध हो सकता है ।

पुरूरवा समृद्धि और शक्ति से युक्त होते हुए भी संतानहीन है । व्यक्ति अपने पुत्र में ही अपने प्रतिबिम्ब का दर्शन करता है । पुत्र के ही माध्यम से ही वह नश्वर जगत में अनश्वरता की उपलब्धि का अनुभव करता है । पुरूरवा पुत्राभाव से ग्रस्त है । पुत्र का अभाव ही उसकी जैवतलीय अमरत्व की समस्या है । पुत्र की परम्परा व्यक्ति के अस्तित्व की शाश्वत्ता है । परम्परा की यही शाश्वर्ती अमरता है । इसके माध्यम से ही व्यक्ति परिवर्तन के क्रम में अपने को सुरक्षित एवं अपरिवर्तित अनुभव करता है । पुत्र का अभाव पुरूरवा को गहनतम वेदना है -

"किन्तु यहाँ भी कसक रही है वही वेदना मन में ,
प्रतिष्ठानपुर में भू का स्वर्गीय तेज जगता है ,
एक वंशधर बिना , किन्तु सब कुछ सूना लगता है । ×

पुत्र के अभाव में उसे अपना अस्तित्व समाप्त होता प्रतीत है ।[2] किन्तु अन्त में पुत्रोपलब्धि पर उसकी प्रसन्नता का सागर तट के समस्त

× उर्वशी : पृष्ठ 23

2. पुत्र ! पुत्र ! अपने गृह में क्या दीपक नहीं जलेगा ?
देवि ! दिव्य यह ऐल वंश क्या आगे नहीं चलेगा ? -उर्वशी: पृष्ठ 28

बंधनों को तोड़ कर उमग पड़ना चाहता है -

पुत्र !देवि !मैं पुत्रवान हूँ ?यह अमत्य मेरा है ?
जनम चुका है मेरा भी त्राता पुं नाम नरक से ?
अकस्मात हो उठा उदित यह संचित पुण्य कहाँ का ?
अमृत-अभ्र कैसे अनभ्र हो मुझ पर बरस पड़ा है ?

× × × ×

पुत्र !अरे,ओ अमृत-स्पर्श !आनन्द-कंद नयनों के ।
प्राणों के आलोक !हाय !तुम अब तक छिपे कहाँ थे ? [×]

औशीनरी की समस्या भी मूलत: इस पुत्र प्राप्ति की समस्या है । उसका नारीत्व एवं परिवेशजन्य विषमताएं उसे तत्कालीन नैतिकता की सीमा का अतिक्रमण नहीं करने देती किन्तु पुत्र प्राप्ति के अवसर पर पति वंचिता होने पर भी उसके उद्‌गार उसके अन्त:करण की तृप्त की सार्थक अभिव्यक्ति प्रतीत होते हैं । -

किन्तु नियति की बात !सत्य ही,अभी राजमाता हूँ ।
आ बेटा ! तूँ जुड़ा प्राण छाती से तुझे लगाकर ।[2]

तथा

फला न कोई शस्य प्रकृति से जो भी अमृत मिला था ,
लहर मारता रहा टहनियों में , सूनी डालों में ।
किन्तु प्राप्त कर तुझे आज , बस यही मान होता है,
शस्यभार से मेरी सब डालियाँ झुकी जाती हों ।
हाय , पुत्र !मैं भी जीवन भर बहुत-बहुत प्यासी थी,
शीतल जल का पात्र अधर से पहले पहल लगा है ।[3]

× उर्वशी : पृष्ठ 110
2. वही :पृष्ठ 120
3. वही : पृष्ठ 121

सन्तानोपलब्धि अमरत्व को उपलब्धि इसलिए भी है क्यों कि सन्तान के माध्यम से विशेष कर उसके शैशव काल में व्यक्ति उस परम सत्ता को अनुभूति सहज हो कर सकता है । परम सत्ता को जैविक अनुभूति का मार्ग सन्तान का शैशव कालीन स्वरूप है ।* वस्तुत: शैशव काल में व्यक्ति समस्त बोधों को जड़ता से परे रहता है । बोध जड़ इसलिए है क्यों कि वह हमें ज्ञान के जिन आयामों से संयुक्त करता है उनको मूर्तता हमें बांधने लगती है जिससे जिसके कारण हम समय के सहज प्रवाह से कट जाते है तथा एक ऐसी स्थिति में ऊभ-चूभ होने लगते हैं जो असहज होते हुए भी सहज प्रतीत होतीहैं । ज्ञान हमें मुक्त ही नहीं करता बांधता भी है । इसी लिए ज्ञान के बंधन से मुक्ति पाने का मार्ग भी ज्ञान ही है । शिशुता समस्त ज्ञान से मुक्ति की स्थिति है इसीलिए परम सत्ता के अत्यंत निकट है।[2]

उपर्युक्त तथ्यों के प्रकाश में कहा जा सकता है कि -

1. संतान के रूप में व्यक्ति अपनी परम्परा में जीवित रहता है ।
2. जीवन की यह शाश्वतता अमरत्व की उपलब्धि है ।
3. संतान का शैशव ज्ञान मुक्ति की स्थिति में होने के कारण बोध की जड़ता से मुक्त तथा अपनी सहजता में परम सत्ता के अधिक निकट होता है ।
4. परम सत्ता का यह सान्निध्य संतान के शैशव द्वारा अनुभव शक्य अनुभूति है ।
5. अनुभूति की यह शाश्वतता संतान के माध्यम से ही सम्भव है । तथा संतान की उपलब्धि जैविक तल की प्रक्रिया है ।

---

* शुभे ! सदा शिशु के स्वरूप में ईश्वर ही आते हैं ।-उर्वशी: पृष्ठ92

2. अभी नहीं ये दूर केन्द्र से परम गूढ़ सत्ता के ,
जाने क्या कुछ देख स्वप्न में भी हँसते रहते हैं ।
स्यात् भेद जो खुला नहीं अब तक रहस्य ज्ञानी पर
अनायास ही उसे देखते हैं ये सहज नयन से ,
क्यों कि दृष्टि पर अभी ज्ञान का केंचुल नहीं चढ़ा है ।

उर्वशी पृष्ठ 90

6. सन्तानोपलब्धि का अभाव इस दृष्टिकोण से अमरत्व की जैवतलीय समस्या है जिसकी अभिव्यक्ति उर्वशी में सहज ही देखी जा सकती है ।

अध्यात्मतलीय अमरत्व की समस्या :-

3.3.1.2.2.

अमरत्व की जैवतलीय समस्या को विश्लेषित करते समय हमने देखा कि जैविकतल पर अमरत्व की उपलब्धि परम्परा के रूप में होती है जो कि मूर्त होते हुए भी अमूर्तता के अधिक निकट है । मूर्त वह दृश्य अर्थों में है यानी जब व्यक्ति अपनी सन्तान को मूर्त रूप में देखता है तथा उसमें अपने होने के बोध का अनुभव करता है तो यह उसका मूर्त रूप है किन्तु यहाँ इस तथ्य को भी दृष्टि पथ से ओझल नहीं किया जा सकता कि सन्तान व्यक्ति का रूप होते हुए भी व्यक्ति का अपना ठीक वैसा ही होना नहीं हो सकती जैसा कि वह स्वयं है । यहाँ पर वह सन्तान में मात्र अपनी परम्परा या आत्मा का होना ही अनुभव करता है, अर्थात् प्रकारान्तर से सन्तानोपलब्धि व्यक्ति को आत्मोपलब्धि है जो मूर्तता से अधिक अमूर्त होती है । अमूर्तता के रूप में शाश्वतता का अनुभव अमरत्व का अध्यात्मतलीय स्वरूप है । आत्मा की अभिव्यक्ति शरीर के माध्यम से ही संभव है अर्थात् शरीर अमूर्त की मूर्त अभिव्यक्ति है तथा आत्मा मूर्त की अमूर्त संभावना । आत्मा के तल पर व्यक्ति द्वारा अनुभूत अमरत्व की समस्या ही वस्तुतः अमरत्व की अध्यात्मतलीय समस्या है । व्यक्ति बोध के जिन क्षणों में सूक्ष्मतल पर यानी आत्मा के तल पर प्रविष्ट हो जाने की आकांक्षा करता है उन क्षणों में उसका आकुल मन धरती से अपने आप को मुक्त करने के लिए एक छटपटाहट सी महसूस करने लगता है । भौतिकता में जीता व्यक्ति अपने होने के भौतिक उपादानों को बन्धन मान कर उन का अतिक्रमण कर जाना चाहता है ।

उर्वशी के प्रणयपाश में आबद्ध पुरुरवा भी इसी प्रकार की इच्छा

से आकुल है । कुछ समय पूर्व जिस उर्वशी के विरह में वह अपने प्राणों के उत्सर्ग तक के लिए प्रस्तुत था[×] उसी उर्वशी को अपने आलिंगन पाश में आबद्ध किए हुए पुरूरवा अध्यात्म के अन्य ~~अपरापरें~~ आयामों की खोज में भटकने लगता है ।[2] वह सौन्दर्य की खोज में सौन्दर्य की मूर्तता की उपेक्षा सी करता हुआ कहता है :-

"दृष्टि का जो पेय है, वह रक्त का भोजन नहीं है ।
रूप की आराधना मार्ग आलिंगन नहीं है । "

× × × × ×

रक्त की उत्तप्त लहरों की परिधि के पार
कोई सत्य हो तो,
चाहता हूँ, भेद उसका जान लूँ ।
पन्थ हो सौन्दर्य की आराधना का व्योम में यदि
शून्य की उस रेख को पहचान लूँ । "[3]

जैविक तल मिट्टी है जिस पर खड़ा पुरूरवा अमरत्व के अम्बर को जानना, परखना चाहता है । अम्बर उसे आकर्षित करता है ।[4] उसका निरन्तर ध्यान उसके लिए इसलिए आवश्यक है क्योंकि वह अमरत्व यानी देवत्व को पाना चाहता है ।[5] देवत्व को प्राप्त करने के मार्ग

× " और वहीं लाएगी नीचे तुझे उतार गगन से
या फिर देह छोड़ मैं ही मिलने आऊँगा मन से ।"--उर्वशी.पृ.17.

2. " तन से मुझ को कसे हुये अपने दृढ आलिंगन में,
मन से किन्तु विषण्ण दूर तुम कहाँ चले जाते हो ?" वही,पृ.35.

3. रामधारी सिंह दिनकर,"उर्वशी", पृ. 36-37.

4. मिट्टी के हृदय से
दूर होता ही कभी अम्बर नहीं है । - - उर्वशी, पृ. 37.

5. " चाहिए देवत्व
पर इस आग को धर दूँ कहाँ पर ?-- उर्वशी, पृ. 42.

में सबसे बड़ी बाधा देवत्व की कामना है किन्तु वह इस कामना के अतिरिक्त उठनेवाली अन्य कामनाओं को ही इसके लिए अन्तरदायी मानता है । कामना मुक्त होना ही देवत्व है ।× मनुष्य की पहचान उसके अन्दर उठनेवाली कामनाएँ हैं । पुरुरवा इसे स्वीकार करता हुआ कहता है ---

" मैं मनुष्य कामना वायु मेरे भीतर बहती है । "[2]

यही कामनाएँ उसे अमरत्व की उपलब्धि में बाधक प्रतीत होती हैं ---

" कामनाओं के झकोरे रोकते हैं राह मेरी
खींच लेती है तृषा पीछे पकड़ कर बाँह मेरी ।"[3]

पुरुरवा अमरत्व की खोज में अंग संज्ञा के पार जाना चाहता है । वह भोग का, मूर्त सौन्दर्य का, सौन्दर्य के जैविक उपादानों का अतिक्रमण करना चाहता है ----

" तन का अति-क्रमण, यानी माँसल आवरण हटाकर
आँखों से देखना वस्तुओं के वास्तविक रूप को ।
× × × × ×
जो कुछ भी हम जान सके हैं यहाँ देह या मन से,
वह स्थिर नहीं सभी अटकल-अनुमान सदृश लगता है ।
अत: किसी भी भाँति आप अपनी सीमा लंघित कर
अन्तरस्थ उस दूर देश में हम सब को जाना है
जहाँ न उठते प्रश्न, न कोई शंका ही जगती है ।" [4]

× " देवता, शेष जिसके मन में कामना, द्वन्द्व परिताप नहीं ।"--उर्वशी, पृ.42.

2. रामधारी सिंह दिनकर, "उर्वशी", पृ. 34.

3. वही, पृ. 40.

4. वही, पृ. 49.

किन्तु उसकी इस यात्रा की सबसे बड़ी बाधा उसका वह आधार है जिसका वह अतिक्रमण करना चाहता है । वस्तुत: अतिक्रमण के नाम पर वह धरती पर रहते हुए उसका अतिक्रमण करना चाहता है --

" देह प्रेम की जन्म भूमि है, इस शैशव स्थली को
ममता रखती रोक उसे अंत दूर देश जाने से । " ×

पुरुरवा देह का अतिक्रमण कर इससे उसके पार जाना चाहता है । उसके निकट व्यक्ति संसार रूपी उर्वशियों का पुष्पवान वृक्ष जिसमें कामनाओं के, आनन्द के पुष्प विकसित होते रहते हैं किन्तु आनन्द-पुष्पों के वृक्षों की निम्नतर स्थिति उन्हें उस महिमा से मंडित नहीं कर पाती जिससे उन्हें मंडित होना चाहिए । यहाँ पर वस्तुत: जरा और मृत्यु का भय उसे निरंतर सालता रहता है । भय की स्थिति ही अकल्याण की स्थिति है । भय के परे होने का अर्थ है कल्याण यानी शिवत्व की स्थिति में प्रवेश । अभय की स्थिति भय से मुक्ति अवश्य है किन्तु इस स्थिति की शाश्वतता तभी संभव है जब इसकी रक्षा करनेवाली शक्ति भी उपलब्ध रहे । पुरुरवा अभय और शक्ति की उपलब्धि के लिए ही अतिक्रमण करना चाहता है[2] किन्तु मार्ग की कठिनाइयाँ तथा जैव तल की अनुभूतियों की पुनरावृत्ति की आकांक्षा उसे उस महान तल पर स्थिर नहीं होने देती । यहाँ पर जैवतलीय-व्यक्ति स्थिति ही इस आत्मतलीय अमरत्व की उपलब्धि में बाधक सिद्ध होती है जो वस्तुत: प्रकारान्तर से अमरत्व की आत्मतलीय समस्या है ।

विश्लेषण :-

उर्वशी

व्यक्ति कहीं बहुत गहरे में अपने आप को प्रेम करता है । अपने

× " रामधारी सिंह दिनकर, "उर्वशी," पृ. 50.

2. ".....उपत्यकाओं के कुसुम द्रुमों को
ले जाना है यह समूल नगपति के तुंग शिखर पर,
वहाँ जहाँ कैलास प्रांत शिव प्रत्येक पुरुष है,
और शक्तिदायिनी शिवा पुण्यिनी नारी । "
---उर्वशी, पृ. 50.

आप से xxxx उसका तात्पर्य है अपने शरीर से । वस्तुत: वह अपने शरीर का होना हो अपना होना मानता है इसलिए वह उन सभी कारणों से भयभीत रहता है जिनसे उसके शरीर के नष्ट होने का या क्षितिज होने का भय रहता है । रोग, शोक, सन्ताप, जरा, मृत्यु इन सबसे वह भयभीत है, तथा इन से बचने के लिए उसने जिस शरण-स्थल की कल्पना की उसे उसने स्वर्ग की संज्ञा से अभिहित किया ।

धरती का प्रेम जैविक प्रेम है । शरीर के स्तर पर इसका अनुमान xxxx

मृत्यु को घटनाओं को दो विपरीत ध्रुवों के रूप में ही ग्रहण करती है । एक को वह पाना चाहता है तथा दूसरे से कतरा कर निकल जाना चाहता है । × इस प्रकार वह जीवन को उसकी समग्रता में जीने के अनुभव से वंचित रह जाता है ।

जन्म और मृत्यु के दो बिन्दुओं के मध्यकी स्थिति को जीवन की संज्ञा दी जा सकती है । जन्म एक छोर है और मृत्यु दूसरा । एक के साथ दूसरे का सम्बन्ध निरार्यत: जुड़ा हुआ है । काल खण्ड के जिस बिन्दु पर जन्म का आरम्भ होता है उसी बिन्दु पर से मृत्यु भी अपनी यात्रा आरम्भ कर देती है । मृत्यु कोई आकास्मिक घटना नहीं कि एक पल में घट जाय, यद्यपि मृत्यु जब भी घटित होती है उसे एक पल से भी कम समय की आवश्यकता होती है फिर भी उस एक पल के पूर्व अनेक पलों की अलक्षित यात्रा की पृष्ठभूमि रहा करती है । वस्तुत: मृत्यु तो सतत गतिशील काल के अज्ञात चरणों की आहट है ।

अमरत्व की अभिव्यक्ति जैविकतल पर सृजन के रूप में होती है । यदि विचार पूर्वक देखा जाय तो ज्ञात होगा कि सम्भोग ही वह कृत्य है जिसके माध्यम से एक ओर जीवन मुक्त होकर आनन्द के क्षणों में परिवर्तित हो जाता है तथा दूसरी ओर, यदि यह जैविक उपयोग की आवश्यकता से प्रेरित है तो, उससे सृष्टि की रचना का श्रीगणेश भी होता है । अज्ञात के अभियानकी दिशा भी प्रशस्त होती है किन्तु विधि - निषेधों के मध्य जीने की अभिशप्त मानव सभ्य और सुसंस्कृत बनने की प्रक्रिया में असहजता के क्रम में प्रशिक्षित होता जाता है । कहा जा सकता है कि उपभोग और उत्पादन की संयुक्त प्रक्रिया विनिमय की जटिलताओं से उलझकर इतनी दुरूह होजाती है कि वितरण के अवसर विरल हो उठते हैं जिनके कारण पूरा जीवन एक अव्यवस्था और अराजकता का पर्याय बन

× " कुछ थोड़ी यह तृषा कि ऐसी कोई युक्ति निकालें
जिससे मृत्यु-करों में भी पड़ने पर नहीं मरें हम ।"--उर्वशी, पृ.64.

जाता है । इसके साथ ही अनुभव की क्षणता विस्तार की अनन्तता में पल्लवित होना चाहती है । जिसके परिणाम स्वरूप स्वर्ग की प्राक्कल्पना आकार ग्रहण करती है । इसप्रकार मिथ्या की सृष्टि महनीय हो उठती है तथा सत्य की अभिव्यक्ति धूमिल । इस कारण जैवतलीय अमरत्व की कुक्षि से ही अध्यात्मतलीय अमरत्व की समस्या का जन्म होता है ।

संश्लेषण :-

उडुडु.

मानव जीवन की कदाचित सबसे बड़ी ट्रेजड़ी है उसका समय में जीने का अनुभव या बोध । समय की अनन्तता के पार जाना शक्य नहीं किन्तु उसके साथ होकर जीते रहना भी असंभवउ है । समय की गति के प्रवाह का वैयक्तिक अनुभव मानव को उसके चुकते जाने का एहसास दिलाता रहता है । अपने होने के बोध को जीता व्यक्ति इस एहसास को पचा नहीं पाता फलत: वह उन समस्त कृत्यों को अंजाम बेसबरे देने के लिए कृत संकल्पित दृष्टिगत होता है जिनके द्वारा वह समय की गति के पार जा सके । संभोग और समाधि दोनों की स्थिति उसे समय के पार कोxxxx स्थिति का अनुभव देने में समर्थ है । संभोगानुभव के पल शीघ्र ही निश्शेष हो जाते हैं जब कि समाधि के पल अ अपेक्षाकृत कुछ फैले हुए होते हैं । संभोग में डूबे पल उसे समय के पार का अनुभव प्रदान करते हैं × जो वस्तुत: अमरता का ही अनुभव है । समय की समग्रता में जीना अमरता का अनुभव है जिसको स्वीकारोक्ति पुरूरवा स्वयं करता है :----

" महाशून्य का उत्स हमारे मन का भी उद्गम है,
बहती है चेतना काल के आदि मूल को छूकर । "[2]

× " किस समाधि का शिखर चेतना जिस पर ठहर गयी है ।
× × × × ×
एक सघन क्षण में समेटने दो विस्तार समय का,
एक पुष्प में भर त्रिकाल को सुरभि सूंघ लेने दो ।"--उर्वशी, पृ.54.

2. रामधारी सिंह दिनकर, "उर्वशी", पृ. 55.

अमरता के इस अनुभव में ही व्यक्ति अनायास ही अपने उस मूल उत्स से सुयुक्त होकर पूर्णत्व के बोध से भर जाता है तथा अस्तित्व संज्ञा के पार परम्परा बन शाश्वत हो उठता है :---

" देह मृत्तिका, दैहिक प्रकाश की किरणें मृत्तिका नहीं हैं,
अधर नष्ट होते, मिटती हैं चुम्बनङ्क को;
यह अक्षय आभा तरंग अर्पित उसके चरणों पर,
निराकार जो जाग रहा है सारे आकारों में । "×

अमरत्व वस्तुत: व्यक्तित्व के विकास की चरम स्थिति है । व्यक्तित्व एक विकसनशील प्रत्यय है जिसके विकास की चरम स्थिति की बौद्धिक प्राक्कल्पना का दूसरा नाम अमरता है । विकास की लम्बी प्रक्रिया में बहुत संभव है गति की दिशा ऋजुवत दिखाई पड़े किन्तु ऋजुता की स्थिति हाइपोथेटिक्ल स्थिति है । वैज्ञानिक बताते हैं कि इस पृथ्वी पर सीधी रेखा खींची ही नहीं जा सकती । अर्थात् प्रत्येक रेखा कहीं न कहीं यदि वह अनन्त दूरियों तक बढ़ाई जाय तो अंत में एक वृत्त का ही निर्माण करेगी । व्यक्तित्व के विकास की स्थिति को लेकर जब हम अमरत्व के सम्बन्ध में विचार करते हैं तो इस निष्कर्ष पर सहज ही पहुँच जाते हैं कि विकास की चरम स्थिति का अर्थ, यानी अमरत्व की स्थिति की संभावित परिणति व्यक्ति द्वारा अपने आप को पा लेना ही होगा । अमरत्व की स्थिति में व्यक्ति जो उपलब्ध करता है वह उसका अपना ही स्वरूप होता है । उसके समस्त प्रयास अन्ततोगत्वा उसके अपने स्वरूप को ही उपलब्ध कराते हैं ।' इस आत्मोपलब्धि की संज्ञा ही अमरता है । [2]

+ + + + + +
+ + + + + + + +

× रामधारी सिंह दिनकर, "उर्वशी", पृ.56.

2. " हम हैं जहाँ वहाँ जाने की कोई राह नहीं है ।"
--उर्वशी, पृ. 65.

खण्ड : तीन

[2]

* 3.34. व्यक्तित्व के विकास की समस्या *

*

3.3.4. व्यक्तित्व के विकास की समस्या

स्वरूप :-

व्यक्तित्व, विकास की प्रक्रिया का सातत्य है। सातत्य की धारा में उत्पन्न अवरोध विकास की समस्या के रूप में जाने जाते हैं। ये अवरोध जीवन में अनेक रूपों में परिलक्षित होते हैं। व्यक्ति-व्यवहार अपनी समग्रता में इस प्रकार के अवरोधों से प्राय: परिचालित होता रहता है। अक्सर होता यह है कि विकास की धारा अवरुद्ध होने पर अनेक धाराओं में विभाजित हो जाती है जिसके परिणाम स्वरूप कालान्तर में जीवन की अभिव्यक्ति सहस्र धाराओं में परिलक्षित होती है। विभाजित धाराओं की सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता यह होती है कि ये अनेक धाराएँ अपने समृद्ध रूपों में स्वतंत्र इकाई के रूप में दृष्टिगत होती हैं जिसके कारण कभी-कभी एक का दूसरे से सम्बन्ध स्थापित करना एक कठिन कार्य हो जाता है।

रचना प्रक्रिया में परोक्ष का प्रत्यक्षीकरण :-
3.3.4.1

रचना के सम्बन्ध में विशेष रूप से विचारणीय यह है कि प्रत्येक रचना का सृजन अवरोध के एक मोड़ पर होता है। इस प्रकार प्रत्येक रचना कलाकार के अपने व्यक्तित्व का एक हिस्सा होती है तथा रचना के माध्यम से एक कलाकार जिन उपलब्धियों के उपार्जन को महत्वपूर्ण मानता है प्राय: जीवन में वे उतनी अधिक महत्वपूर्ण नहीं होतीं। अक्सर होता यह है कि रचना के क्षणों में उसके सचेतन मन के साथ-साथ उसका अचेतन मन भी सक्रिय होता है और इस स्थिति में एक ओर जहाँ वह प्रत्यक्षत: एक स्थिति विशेष पर या भाव अथवा अनुभव विशेष को उदात्तीकृत रूप में स्थापित कर रहा होता है, वहीं उसके अचेतन में सक्रिय अन्य समानान्तर एवं संयुक्त अनुभव भी उन्हीं भाषा-रेखाओं में उभर कर आकार ग्रहण करने लगते हैं। सृजन की यह प्रक्रिया कदाचित इतनी जटिल

हो उठती है कि विभिन्न रेखाओं के मध्य उसके अनेक रूप सहसा परिलक्षित हो नहीं होते ऐसी स्थिति में सृष्टा और दृष्टा दोनों ही अपनी मनः स्थिति विशेष के संदर्भ में जिस रूप का साक्षात्कार करना चाहते है उसका ही करते हैं । इस प्रकार रचना में रचना प्रक्रिया के दौरान अनेक अनुभवों यानी व्यक्तित्व-विकास के मार्ग के अनेक अवरोधों का अनेक रूपों में निरूपण हो जाता है जिसके कारण ही प्रत्येक रचना के पश्चात् सृष्टा अपने आप को संतुष्ट अनुभव करता है । उसके अन्तर्विरोधों के विरेचन की यह प्रक्रिया वस्तुतः मनश्चिकित्सा की कोटि तक पहुँच जाती है । इस दृष्टि कोण से रचना का अध्ययन उसके बहुआयामी फलकों का उद्घाटन है ।

उर्वशी में व्यक्तित्व के विकास की समस्या का रूप अत्यंत जटिल है । हमारे ~~xxx~~ समस्त चुनावों की पृष्ठभूमि में हमारा अचेतन सक्रिय रहता है । इस सक्रिय अचेतन की सबसे बड़ी विशेषता यह होती है कि इसके द्वारा संप्रेषित सुझाव जब चेतन के स्तर पर उभरते हैं तो उनके प्रत्यक्ष कारणों से उनकी संगति बैठती प्रतीत होती है । कृति की संरचना में ऐसे किसी कोने को या उसमें उसके ऐसी किसी रेखा को ऐसा नहीं माना जा सकता जिसमें दृष्टा का व्यक्तित्व समाहित न हो । शिल्पी की रचना में अनगढ़ पत्थर पर पड़नेवाली हथौड़े की प्रत्येक चोट और पत्थर की प्रत्येक तराश उसके अन्तर्मन में निरंतर चलनेवाली विचारधारा की अभिव्यक्ति होती है । यह अलग बात है कि दृष्टा की दृष्टि इसकी समग्रता पर ही जाती है । काव्य सृजन में उसके प्रत्येक स्तर पर, कथा-वस्तु, पात्र, संवाद, भाषा आदि, कवि अपने एकल रूप में विद्यमान रहता है । उर्वशी के संदर्भ में भी यह बात सरलता से देखी जा सकती है । समस्त उर्वशी में उर्वशीकार उसी प्रकार समाहित है जैसे जल में उसकी जलीयता ।

उर्वशी के कथानक के चयन में निश्चित रूप से उसके मानस की दो स्थितियाँ स्पष्ट होती हैं -- पहली स्थिति वह जिसे हम सरलता से रेखांकित कर लिया करते हैं यानी इतिहास मोह तथा दूसरी वह जिसे

रेखांकित करना सहल नहीं होता । इतिहास मोह कहकर कवि की अतीतोन्मुखी दृष्टि की सम्यक् व्याख्या नहीं की जा सकती । वस्तुत: इतिहास को किसी घटना विशेष से हमारा लगाव होता है इस कारण है क्योंकि हम उस अतीत में अपने वर्तमान को देखा करते हैं । हमारे वर्तमान का आन्दोलन, कदाचित पलायनवृत्ति से संयुक्त होकर हमें भविष्य की कल्पना में अतीतोन्मुखी बना देता है । ऋग्वेद तक फैली सुदूर अतीत की घटना को पुनर्रूजीवित करना स्वयं दिनकर का उद्देश्य नहीं था ।× किन्तु इस कथा के चयन के पीछे अनेक कारण अवश्य दृष्टिगत होते हैं । व्यक्तित्व विकास के स्तर पर हम देखते हैं कि रचनाकार के मानस में एक अन्तर्द्वन्द्व निरन्तर विद्यमान है । यह अन्तर्द्वन्द्व उसके अपने व्यक्तित्व का है जिसे वह अतीत के पात्रों पर स्यात् इसलिए भी आरोपित करता है क्योंकि अन्तर्द्वन्द्व एवं व्यक्तित्व के विकास समस्या मानव जाति की सनातन समस्या है । उर्वशी के कथानक में अनुस्यूत प्रमुख पात्रों में एक इस पृथ्वी लोक का है तो दूसरा स्वर्ग लोक का । स्वर्ग लोक की कल्पना अंतत: व्यक्ति की अपनी ही कल्पना है । सुख के समस्त साधनों का पुंजीभूत रूप एवं उसके अक्षय भोग की प्रवृत्ति की स्थूल कल्पना ही व्यक्ति का भौतिक स्वर्ग है । आध्यात्मिक स्तर पर इन सभी स्तरों पर जीकर इनका अतिक्रमण कर अपने प्रसार की भावना उसके दर्शन की वस्तु हो सकती है, किन्तु जैविक स्तर पर उसकी यह उपलब्धि संतानोपलब्धि के रूप में फलवती होती है । अप्राप्य

× इस कथा को लेने में वैदिक आख्यान की पुनरावृत्ति अथवा वैदिक प्रसंग का प्रत्यावर्तन मेरा ध्येय कभी नहीं रहा ।
-रामधारी सिंह दिनकर, उर्वशी : भूमिका "ख"

तथा

कहने भर को पुराचीन कथा,
पर इस कविता को मर्म व्यथा
आज के विलोल हृदय की है
सब की सब इसी समय की है ।
जब भी अतीत में जाता हूँ
मुरदों को नहीं जिलाता हूँ
पोछे हटकर फेंकता बान,
जिससे कंपित हो वर्तमान ।
खंडहर हो, भग्नावशेष,
पर कहीं बचा हो स्नेह शेष
तो जा उसको ले आता हूँ,
निज युग का दिया जलाता हूँ ।

-रामधारी सिंह दिनकर, मृत्ति तिलक : पृष्ठ-53

को प्राप्ति कामना उसके व्यक्तित्व के विकास में उद्देश्य निरूपण ।

। के रूप में देखी जा सकती है । उर्वशी के कथानक में उर्वशी-कार के स्तर पर इस सम्बन्ध में सबसे महत्वपूर्ण प्रत्यय है तुलना ।

तुलना : व्यक्तित्व-विकास की समस्या का परोक्ष आयाम :-

3.3.4.2.

तुलना के मूल में व्यक्ति की अपनी विकासेच्छा ही विद्यमान रहती है । यह विकासेच्छा जब अवरुद्ध हो जाती है तब इसकी परिणति हीनता की ग्रन्थि के रूप में देखी जा सकती है । हम सब कहीं न कहीं इस हीनता-बोध से ग्रस्त होते ही हैं इसीकारण तुलना और वरण की प्रक्रियायें हमारे जीवन में निरन्तर सक्रिय रहती हैं । इस प्रक्रिया में हम अपने प्रत्येक चुनाव को अपनी उपलब्धि मानने के मोह में रहते हैं कदाचित यह मानव जाति का सबसे बड़ा अभिशाप है ।×

तुलना : हीनता की ग्रन्थि का प्रत्यक्षीकरण :-

3.3.4.2.1

तुलना के मूल में मनुष्य की हीन भावना ही सक्रिय रहती है । वस्तुतः व्यक्ति तुलना करता ही उस समय है जब उसे कहीं गहरे में अपनी हीनता की पीड़ा सल रही होती है । इसके साथ ही तुलना के द्वारा वह किसी न किसी प्रकार अपनी, अपनी जाति की, अथवा फिर राष्ट्र की श्रेष्ठता स्थापित करना चाहता है । हम स्थापित उसे करते हैं जो नहीं होता । जो होता है उसे स्थापित करने का प्रयास भी नहीं किया जाता है । अभावात्मक स्थिति का यह भाव व्यक्ति मानस की ही अनुभूति है । यानी यह व्यक्ति का एक ऐसा अनुभव है जिससे वह परिचालित होता है तथा जिसके खिलाफ मुनासिब कार्यवाही करने के लिए वह सक्रिय हो उठता है ।

उर्वशी में पृथ्वी और स्वर्ग के मध्य तुलना आद्यान्त देखी जा

× The actualizing agent is choice, we are condemned to choose and our pain is called freedom. Octavio Paz, Sartre in our time, Dissent, Fall, 1980. page, 429.

सकती है । इस तुलना की विशेषता यह है कि इसके द्वारा कहीं पर पृथ्वी की महत्ता को स्थापित किया गया है तो कहीं पर स्वर्ग की न्यूनताओं को संकेतित । इस मनुष्यों और देवताओं दोनों कक्ष ही सीमाओं को सामने रख कर देवताओं की महिमा पर मनुष्य की श्रेष्ठता को वरीयता प्रदान की गई है । इसके साथ ही उर्वशी की प्रेमकथा की एक अन्य महत्व-पूर्ण विशेष-ता जो सहज ही परिलक्षित होती है -- इस दृष्टिकोण से -- वह यह कि स्वर्ग की अप्सरा उर्वशी धरती की गरिमा से आकृष्ट होकर भूतल पर आती है । जिससे वस्तुत: पृथ्वी की महिमा ही सिद्ध होती है । समस्या के इस स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए यहाँ पर कतिपय उद्धरणों को लिया जा सकता है ।

स्वर्ग लोक और पृथ्वी की तुलना :-

3.3.4.2.1.

उर्वशी काव्य का आरम्भ ही तुलना से होता है । अप्सराओं के पृथ्वी पर आने के कारण को स्पष्ट -सा करता हुआ सूत्रधार कहता है :-

" या सम्भव है कुछ कारण भी हो इनके आने का
क्योंकि मर्त्य तो अमरलोक को पूर्ण मान बैठा है,
पर कहते हैं स्वर्गलोक भी सम्यक् पूर्ण नहीं है ।[×]

कवि दोनों की अपूर्णता को इंगित करने से पूर्व ही उस धारणा की ओर संकेत करता है जो पृथ्वी के प्रति मनुष्य को प्रारम्भ से ही मिलती है तथा जिसके कारण वह स्वर्गलोक को पृथ्वी से महान तथा देवता को मनुष्य से श्रेष्ठतर मानता आया है ।

उर्वशीकार सबसे पहले दोनों लोकों की न्यूनताओं की ओर संकेत करता है [2] फिर उस कामना की ओर जो दोनों के अभावों को स्थापित करती है क्योंकि कामना का अर्थ है अभाव । यदि अभाव न हो तो

× रामधारी सिंह दिनकर, "उर्वशी", पृ. 3.

2. " पृथ्वी पर है चाह प्रेम को स्पर्श मुक्त करने की,
गगन रूप को बाहों में भरने को अकुलाता है ।

कामनाओं का अस्तित्व भी नहीं हो सकता । ×

पृथ्वी की महत्ता : यानी स्वर्ग का अपकर्ष :-

उ.उ.4.2.1.1.1.

उर्वशीकार के मानस में स्वर्ग और पृथ्वी को लेकर चलनेवाली तुलना रम्भा और मेनका के संवादों में सहज ही व्यक्त हो उठती है । वह कहीं पर पृथ्वी के सौन्दर्य के प्रति आकृष्ट होकर स्वर्ग को हेय प्रमाणित करता है तथा कहीं पर स्वर्ग तथा देवताओं की सीमाओं का उल्लेख करके पृथ्वी की महत्ता स्थापित करता है । उदाहरण के लिए पृथ्वी के सौन्दर्य के प्रति आकृष्ट ~~होकर~~ रम्भा कहती है :-

" बिछा हुआ है जाल प्रीति का, यहीं मग्न सोती है,
अभी मृत्ति को देख स्वर्ग को भी ईर्ष्या होती है ।"[2]

सम्भवत: इसी आकर्षण का समुन्नत रूप उर्वशी के मन में है जो जो पुरुरवा के प्रेम के कारण और तीव्र हो उठता है । पुरुरवा के प्रेम में उर्वशी स्वर्ग लोक की व्यर्थता को स्पष्ट करती हुई कहती है :-

" स्वर्ग स्वर्ग मत कहो, स्वर्ग में सब सौभाग्य भरा है,
पर इस महा स्वर्ग में मेरे हित क्या आज धरा है ?
स्वर्ग स्वप्न का जाल सत्य का स्वर्ग खोजती हूँ मैं
नहीं कल्पना का सुख जोखित हर्ष खोजती हूँ मैं । "[3]

× × ×

" स्वर्ण दे, सत्य हो, वह जिसमें ऊर्मियाँ नहीं स्वर ताप नहीं"[4]

तथा स्वर्ग की समस्त रमनीयता को नकार कर उसे निर्जीव [5] के

" गगन, भूमि दोनों अभाव से पूरित हैं दोनों के
अलग-अलग हैं प्रश्न और हैं अलग-अलग पीड़ाएँ । "--उर्वशी, पृ.3.

× " जो कामना खींच कर नर को धुर-धुर ले जाती है,
वही खींच लाती है मिट्टी पर अम्बर वालों को ।" वही, पृ.3.

2. 3. 4. रामधारी सिंह दिनकर, "उर्वशी", पृ. 5. तथा 14. एवं 42.

5. " निर्जीव स्वर्ग को छोड़ भूमि की ज्वाला में जीने आयी ।"
----- उर्वशी, पृ. 43.

के विशेषण से संयुक्त करती हुई उसे पृथ्वी की तुलना में अत्यंत निम्नकोटि का मानती है ।× तुलना के इस पक्ष में हमने उन स्थलों की ओर देखा जिनके माध्यम से पृथ्वी की अपेक्षा स्वर्ग को श्रेष्ठ ठहराया गया है अब प्रस्तुत है तुलना का वह पक्ष जो स्वर्ग की अपेक्षा पृथ्वी को श्रेष्ठ सिद्ध करता है । तुलना का यह पक्ष भी उर्वशी में आद्यान्त व्याप्त है जिसे उर्वशी के प्रारम्भ से ही देखा जा सकता है :---

" धुली चाँदनी में ज्योत्स्ना मिट्टी को जगाती है
कभी-कभी यह धरती भी कितनी सुन्दर लगती है
जी करता है यहीं रहें फूलों में बस जायें । "[2]

धरती के फूलों में बस कर रहने की कामना उन परियों की है जो अपेक्षाकृत श्रेष्ठतर लोक-- यानी- स्वर्ग की निवासिनी हैं । पृथ्वी पर उपलब्ध होने वाले समस्त सुख क्षणिक हैं[3] यह सत्य है किन्तु यह क्षणता ही इसका वरदान है[4] जिसके समक्ष स्वर्ग की शाश्वतता न्योछावर की जा सकती है ।[5] उर्वशी स्वर्ग लोक की अप्सरा है । मानवी धारणा के अनुसार समस्त सुख उसके लिए हस्तामलकवत् होने चाहिए किन्तु मानवी पौरुष के उद्-गाता को यह स्वीकार नहीं क्योंकि उसका अन्तः व्यक्तित्व अपने विकास क्रम में पड़नेवाली समस्त बाधाओं का अतिक्रमण करना चाहता है । हीनता की ग्रन्थि अपने उन्मेष बेला में कालकूट की समग्रता को अमृत में परिवर्तित कर लेना चाहती है । उर्वशी जैसी अप्सरा स्वर्ग के स्थान धरती की वन्दना करती है[6] क्योंकि उसका अतृप्त मन अपनी तृप्ति की उपलब्धि इस वसुधा पर

× " कितना कम स्वर्गीय स्वयं सुरपुर है इस वसुधा से "--उर्वशी", पृ.96.
तथा
" यह उद्दीप्त आनन्द कहाँ सुरपुर की शीतलता में
पारिजात द्रुम के फूलों में कहाँ आग होती है ?"-उर्वशी, 99.

2. रामधारी सिंह दिनकर, "उर्वशी", पृ.4.
3. " मर्त्यलोक की सुन्दरता तो क्षण भर की माया है ।" --उर्वशी, पृ.6.
4. " पर तुम भूल रही हो रम्भे नश्वरता के वर को
भूमा का जो आनन्द सुलभ है नहीं प्राप्त अम्बर को ।"-- वही, पृ.6.
5. " इन ज्वलंत वेगों के आगे मलिन शान्ति सारी है
क्षण भर की उन्मद तरंग पर चिरता बलिहारी है"---वही, पृ.6.
6. " स्वर्गवासिनी मैं, श्रद्धा से नमस्कार करती हूँ

हो कर सका ।[×] पृथ्वी की नश्वरता सत्य है किन्तु इस नश्वरता के क्रोड़ में उत्पन्न होने वाले सुखों का उपभोग अमरत्व को शाश्वतता नहीं कर सकती । इसलिए यह धरती और उसकी नश्वरता स्वर्ग की शाश्वत्ता की अपेक्षा श्रेष्ठतर है ।[2]

देवता और मनुष्य की तुलना : विभिन्न आयाम :-

उ.उ.4.2.1.2.

स्वर्ग और पृथ्वी लोकों की तुलना के पश्चात् मानवी बोध के उस आयाम को और भी देखना आवश्यक हो जाता है जो अपने से श्रेष्ठ-तर जाति की कल्पना देवता के रूप में करता है । देवता मानवी मेधा की ऐसी सृष्टि है जो विकास की चरम सीमा पर स्थित है । मनुष्य का सारा प्रयास देवत्व की उपलब्धि है । मानवी मेधा की मान्यता देवत्व के संबंध में उसके अपने सम्भावित विकास की चरम सीमा है :-

" देव कौन हैं ? शुद्ध दग्ध मल, श्रेष्ठ रूप मानव के ।" [3]

मानवों का यह श्रेष्ठ रूप अन्ततोगत्वा मानव की कल्पना का ही रूप है जो जल में उतरने पर भी जल से नहीं भीगता, जिसकी गरदन

× " अनिवर सौन्दर्यपूर्ण, नश्वर इस महामही को ।
कितना सुख ! कितना प्रमोद ! कितनी आनन्द लहर है !
कितना सम स्वर्गीय स्वर्ग उतरा है वसुधा से । " --उर्वशी, पृ.98.

×. "सखी स्वर्ग में जो अलभ्य है उस आनन्द मदिर का
इसी सरस वसुधा पर मैंने छक कर पान किया है ।"---वही, पृ, 99.

2. " किन्तु हाय री नश्वरता इन अतुल अप्रमेय सुखों को
अमर बनाकर उन्हें भोगना मुझको भी दुष्कर है
यद्यपि मैं निर्जर, अमर्त्य, शाश्वत पीयूषमयी हूँ ।"--वही, पृ.100.

3. रामधारी सिंह दिनकर, "उर्वशी, पृ. 115.

समुद्र को अभु ऊँचो लहरों से भी हाँथ भर ऊँचो दिखाई देतो है ।[×] देवत्व को यह कल्पना समय के साथ कुछ इतनो विराट हो उठो कि व्यक्ति अपनो कल्पना के तले बौनाने लगा । उसे अपनो कल्पना के सामने हीनता का शिकार होना पड़ा । आवश्यक था और है भी कि मनुष्य को उसको कल्पना के इस आतंक से मुक्त किया जाय । प्रारम्भ से मनुष्य के मन पर पड़ने वालो देवत्व को यह छाया कदाचित कभी इस आशय से भी निर्मित रहो हो कि विकास को संभावना उसे उसके उच्चतम् शिखर तक ले जा सकतो है किन्तु मनुष्य को समझ में जो आया उसका प्रभाव विपरीत हो अधिक रहा जिसके परिणाम स्वरूप वह अपने देवत्व के विकास को संभावनाओं पर सोचने के स्थान पर येन-केन प्रकारेण उसको सिद्धि में जुट गया तथा अपने इस काल्पनिक सम्भाव्य रूप के आगे बौनाता चला गया । कलाकार का सृष्टा मन विकास के इस अवरोध को सहार नहीं सका । उसके अन्तर को तुलना ने अन्ततोगत्वा इस तथ्य को प्रतिष्ठा करने का ही प्रयास किया कि मनुष्य को कल्पनाओं से मनुष्य श्रेष्ठतर है । उदाहरण के लिए देवत्व और मनुष्यत्व के मध्य चलनेवालो तुलना इसके प्रमाणस्वरूप देखो जा सकतो है ।

देवता और मनुष्य भौतिक तल पर : शरीर सौन्दर्य

3.3.4.2.1.2.1

सबसे पहले देवताओं के रूप के सम्बन्ध में यदि हम विचार करें तो पाते हैं कि ----

" ओमेट, स्निग्ध निर्धूम शिखा सो देवों को काया है " [2]

× × × ×

" रति को मूर्ति रमा को प्रतिमा, तृषा विश्वमय नर को
विधु को प्राणेश्वरी, आरती-शिखा काम के कर को ।"[3]

× × × ×

" जहाँ खड़े हो वहीं व्योम भर जाय श्वेत फूलों से ।"[4]

× रामधारी सिंह दिनकर, "उर्वशी", भूमिका, पृ. "च".
2. वही, पृ. 6.
3. वही, पृ. 8.
4. वही, पृ. 16.

" नहीं उर्वशी नारि नहीं, आभा है निखिल भुवन की
रूप नहीं, निष्कलुष कल्पना है सृष्टा के मन की । "×

× × × ×

" अंग अंग में लहर लास्य की राग जगाने वाली
नर के सुप्त, शान्त शोणित में आग लगानेवाली ।"2

------- यह देवी सौन्दर्य धरती के सौन्दर्य की वन्दना कर रहा है ---

" यह ज्योतिर्मय रूप ? प्रकृति ने किसी कनक पर्वत से
काट पुरुष प्रतिमा विराट निज मन के आकारों की,
महा प्राण से भर उसको फिर भू पर गिरा दिया है ;
स्यात् स्वर्ग की सुन्दरियों, परियों को ललचाने को
स्यात् दिखाने को धरती जब महावीर जनती है,
असुरों से बल चाहे, सुरों से भी मनोज्ञ होता है ।"3

देवता और मनुष्य सामर्थ्य सीमा पर :-

3.3.4.2.1.2.8.

देवताओं के रूप के पश्चात् जब उनकी क्षमता की बात आती है तो आश्चर्यजनक रूप से वे मनुष्यों से अश्रेष्ठ सिद्ध होते है । देवता सौन्दर्य का उपभोग भी स्पर्श के स्पंदनों के बिना ही करते हैं :-

" हम भी कितने विवश ! गन्ध पी कर रह जाते हैं,
स्वाद व्यंजनों का न कभी रसना से ले पाते हैं ।
हो जाते हैं तृप्त पान कर स्वर माधुरी श्रवण से,
रूप भोगते हैं मन से या तृष्णा भरे नयन से । "5

× रामधारी सिंह दिनकर, "उर्वशी", पृ. 17.
2. वही, पृ. 20.
3. वही, पृ. 59.
4. " पर, सुर बने मनुज भी, वे यह स्वत्व न पा सकते हैं,
गन्धों की सीमा के आगे देव न जा सकते हैं ।"- --उर्वशी, पृ.6.
× × × × × ×
" शमित वह्नि ये शीत प्राण पीते सौन्दर्य नयन से
घ्राण मात्र लेते, न कुसुम का अंग कभी छूते हैं ।"---वही, पृ.52.

मनुष्य जीवन के समस्त भोगों को उनकी इयत्ता में भोगने में समर्थ है । उसकी सामर्थ्य की सीमा वायवीय न होकर स्थूल है अस्तु अनुभूति की विश्वसनीयता में अधिक प्रमाणिक है । इसके साथ ही मनुष्य यदि चाहे तो वह देवत्व की वायवीयता को भी सरलता से उपलब्ध हो सकता है । देवताओं की सीमा रेखा उनकी गन्ध ग्राहकता है जो अनुभूति की विश्वसनीयता में प्रामाणिक सिद्ध नहीं होती जबकि मनुष्य इस सीमा का अतिक्रमण कर सकता है :---

" किन्तु मर्त्य जीवन पर ऐसा कोई बन्ध नहीं है,
रूखे गन्ध तक, जहाँ प्रेम पर यह प्रतिबन्ध नहीं है ।
नर के वश की बात, देवता बने कि नर रह जाये
रूखे गन्ध पर या बढ़ कर फूलों को गले लगाये । "×

× × × ×

" यह तो नर ही है जो एक साथ शीतल और ज्वलित भी है,
मन्दिर में साधक -सा तो पुष्प वन में कन्दर्प ललित भी है ।"[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि धरती का मनुष्य सामर्थ्य की सीमा पर देवताओं से श्रेष्ठ सिद्ध होता है ।

देवता और मनुष्य : कामोपभोग के तल पर :-
3.3.4.2.1.2.3.

कामोपभोग के क्षेत्र में भी देवताओं की अपेक्षा मनुष्य ही श्रेष्ठ सिद्ध होता है । देवता अपने भोग के लिए दूसरों का उपभोग तो करना जानते हैं किन्तु दूसरे की संतुष्टि की चिन्ता नहीं करते क्योंकि उनमें अपने साथी की जैविकता को संतुष्ट करने की क्षमता होती ही नहीं :-

" सहे मुक्त प्रहरण अनंग का, दर्द कहाँ वह तन में ?
विबुध पंचशर के बाणों को मानस पर लेते हैं ।
वश में नहीं सुरों के प्रशमन सहज स्वच्छ पावक का
ये भोगते परिधि भोग औरों में वह्नि जगाकर । " [3]

×-2. रामधारी सिंह दिनकर, "उर्वशी", पृ.6 तथा 43.
3. वही, पृ. 96.

----यानी देवता काम के दैविक उपभोग के दृष्टिकोण से शमित वह्नि हैं जबकि मानवों का मन गले पिघले अनल को धारे है ।"× अनल के इसी उत्ताप को उसकी समग्रता में जीने के लिए स्वर्ग की अप्सरा दिव्य लोक को छोड़ कर उस ~~xxx~~ मिट्टी में जिसमें रोग, शोक, सन्तापों आदि का निवास है तथा जहाँ की नारी जरावस्था को उपलब्ध होती है, जीने के लिए लालायित है :-

" मैं इसी अगुरु की ताप तप्त मधुमयी गन्ध पीने आयी,
निर्जीव स्वर्ग की छोड़ भूमि की ज्वाला में जीने आयी । "2

मिट्टी की यह ज्वाला कितनी शान्तिदायक है इसका अनुमान इस मिट्टी में जी रहे प्राणी को नहीं है :-

" तू नहीं जानता इसे वस्तु जो इस ज्वाला में खिलती है,
उर क्या सुरेश के आलिंगन में न कभी वह मिलती है ।
यह विकल व्यग्र विह्वल गृहत्व उर की सुन्दरी कहाँ पाये ?
प्रज्ज्वलित रक्त का मधुर स्वर्ग नभ की अप्सरी कहाँ पाये ?"3

अस्तु हमें इस दृष्टिकोण से उर्वशीकार के इस कथन से सहमत होना ही पड़ता है कि ----

" मर्त्य नर को देवता कहना मृषा है
देवता शीतल, मनुज अंगार है । "4

देवता और मनुष्य : अनस्तित्व की परम्परा में, दैविक तल पर :-
3.3.4.2.1.2.4.

दूसरे पर प्रेम करनेवाली नारी मातृत्व को धारण करती है जिसके कारण उसकी सौन्दर्य दीप्ति अस्तंगत हो जाती है । मातृत्व का बोझ, जीवन के सृष्टिक्रम को ढोने का दायित्व भोगशीला प्रवृत्ति को

× रामधारी सिंह दिनकर, "उर्वशी", पृ.41.
2.3. वही, पृ. 43.
4. वही, पृ. 41.

उद्दामता का शिथिल करता है[x] किन्तु मातृत्व हो तो यौवन के उजास को सार्थकता है । व्यक्तित्व को पूर्णता है तथा जैविक धरातल पर अमरत्व को उपलब्धि है ।[2] इस दृष्टिकोण से भी पृथ्वी देवताओं से श्रेष्ठ सिद्ध होता है ।

देवता और मनुष्य चारित्रिक तल पर :-
3.3.4.2.1.2.5

सामान्य चरित्र के दृष्टिकोण से विचार करने पर पृथ्वी का व्यक्ति सरल है उसके लिए दूसरों का अनिष्ट साम्य नहीं है[3] जबकि देवताओं का हृदय अत्यंत कुटिल है[4] अद्भुत चरित्र के दृष्टिकोण से भी देवताओं की अपेक्षा पृथ्वी का मानव ही श्रेष्ठ है ।

प्रत्यक्ष रेखांकन :-
3.3.4.3.

रचनाकार के परोक्ष दृष्टिकोण के कतिपय फलकों के उद्घाटन के पश्चात् अब "उर्वशी" के उन प्रत्यक्ष जगत् में व्यक्तित्व विकास की समस्या के स्वरूप को रेखांकित करना अधिक समीचीन प्रतीत होता है जिसमें उसके प्रमुख पात्र जी रहे हैं । "उर्वशी" कथानक की प्रमुख उर्वशी के सम्बन्ध में सबसे पहले इस समस्या के रूप को हम देखेंगे ।

उर्वशी :-
3.3.4.3.1

उर्वशी स्वर्ग की अप्सरा है किन्तु उसका व्यक्तित्व विकास के लिए आकुल है । वह स्वर्गलोक को होते हुए भी अपने आप में परिपूर्ण

× " गर्भभार उर्वशी मानवी समान ढोयेगी ?
यह शोभा यह गठन देह की, यह प्रकान्ति खोयेगी ?
× × × × ×
यौवन जी कर भस्म बनेंगी माता अप्सरियाँ भी
पुत्रवती होगीं शिशु को गोदी में हलरायेंगी
मदिर तान को छोड़ सांझ से ही लोरी गायेंगी ।"--उर्वशी, पृ.11-2.

2. " माँ बनती हो क्रिया कहाँ से कहाँ पहुँच जाती है ?
गलती है हिम शिला सत्य है गठन देह की खोकर,
पर हो जाती वह असीम कितनी पयस्विनी होकर" वही, पृ.12.

3. " नहीं बढ़ाया कभी हाथ पर के स्वार्थीन मुकुट पर "

॥ शेष अगली पृष्ठ पर ॥

नहीं है । उसका व्यक्तित्व अपनी पूर्णता की खोज में पृथ्वी पर आता है यानी स्वर्ग की अपूर्णता की तलाश पृथ्वी की नश्वरता में पलनेवाली जीवन्तता है । उर्वशी के व्यक्तित्व की अपूर्णता को समझने के लिए उसका यह आत्म परिचय महत्वपूर्ण सिद्ध होता है जिसमें वह कहती है ---

" प्रिय मैं केवल अप्सरा
विश्वनर के अतृप्त इच्छासागर से समुद्भूत । "[×]

विश्वनर के अतृप्त इच्छासागर से उर्वशी का उद्भव ही उसके व्यक्तित्व की अपूर्णता का परिचायक है । इच्छाओं का सागर ही वस्तुत: अपने आप में अभाव की विराटता का प्रतीक है, किन्तु इसके साथ जुड़ा विशेषण अतृप्त उसमें एक और आयाम यानी गहनता को भी रेखांकित करने लगता है । उर्वशी नारी की वह चरम कल्पना है[2] जो प्रत्येक नर के मन में अनुस्यूत रहती है इसीलिए प्रत्येक मनुष्य अपने अन्तर में बैठी उर्वशी की खोज बाह्य जगत् में किया करता है । उर्वशी अतृप्त इच्छासागर से समुद्भूत होने के कारण पूर्णत: अतृप्त है । व्यक्ति मन की यह अतृप्तता ही उसके व्यक्तित्व को आगे की ओर धकेलती रहती है । "उर्वशी" दैविक तल पर स्थित वे उन रोमांचक सुखों को जीना चाहती है जिनका स्वर्ग लोक में अभाव है । स्वर्ग लोक में रस भरे फल तो पैदा होते है किन्तु उनका भोजन उपलब्ध नहीं होता क्योंकि वहाँ के देवता रक्त हीन हैं ।[3] उर्वशी रक्त की आतुर पुकार से आकुल है ।[4] वह अपने अन्तरकी वह्नि में पूरी तरह डूबना चाहती है ।[5] उर्वशी अपने व्यक्तित्व के पूर्णत्व की खोज में

× रामधारी सिंह दिनकर, "उर्वशी", पृ. 75.

2. " नारी की मैं चरम कल्पना नर के मन में बसने वाली । "--उर्वशी, पृ.75.

3. " वे रक्तहीन, द्युति सौम्य पुष्प अम्बरसुर के शोणित, सुन्दर,
दे उन्हें, किन्तु क्या दान स्वप्न जिनके लोहित उत्तप्त प्रखर।"
---- उर्वशी, पृ. 43.

4. "तृप्ति नहीं अब मुझे जाँच कर सौरभ पीने से,
ऊब गई हूँ दबा कैद नीरव रह कर जीने से ।"--उर्वशी, पृ.14.

5. " डूबे तन की आग और मैं उसमें तैर नहाऊँ ।" -- वही, पृ.14.

अपने व्यक्तिगत मानापमान को भूल कर, मात्र अपने प्रियतम का अंक चाहती है । स्वर्ग का समस्त आकर्षण, वहाँ का वैभव उसे स्वर्ग में रोकने में समर्थ नहीं । प्रियतम की खोज में वह ललना की मर्यादा तक गवाँ कर× अयस्कान्त के निकट अयस की भाँति खिंची चली आती है ।[2]

पुरुरवा की विरक्ति उसके निकट एक अप्रत्याशित घटना है वह उसे पुन: राग में प्रवृत्त करती है जिसके लिए वह बहुविधि तर्कों का आश्रय लेती हुई भी मात्र इतना ही चाहती है कि ----

" पक्ष स्पक्ष पर इसी भाँति, मेरा व्योम रहने दो ।
कसे रहो, बस इसी भाँति, उर पर प्रेयस आलिंगन में
और लगाते रहो अधर पुट को कठोर चुम्बन से ।"[3]

उर्वशी प्रियतम का अंक पाकर पूर्ण नहीं हो जाती । उसके मातृत्व के साथ जुड़ा हुआ भरत शाप उसके व्यक्तित्व की अपूर्णता है । वह प्रेमिका बनने और माता होकर भी अपने व्यक्तित्व को उसकी समग्रता में जी नहीं पाती । पुत्र और पति को एक साथ देखते ही उसे दोनों से वंचित होना पड़ता है ।[4] वस्तुत: उसका शाप उसके व्यक्तित्व की अपूर्णता है । व्यक्ति का अपने अभिशप्त होना उसके व्यक्तित्व का खण्डित होना है । वस्तुत: व्यक्तित्व खण्डित होने के लिए अभिशप्त होने से उसे कोई भरत शाप दे अथवा न दे ।

× " मिले स्वर्ग में तुम, जब ललना की मर्यादा गवाँकर
स्वर्गलोक की ओर भूमि पर स्वयं चली मैं आयी ।"
--- उर्वशी, पृ. 32.

2. जो तो मैं आगयी, किन्तु यह वैसा ही आना है,
अयस्कान्त से खींच अयस को जैसे निज बाहों में ।---उर्वशी, पृ.33

3. रामधारी सिंह दिनकर, "उर्वशी", पृ. 50.

4. " हाय ! अंत में मुझ अभागिनी शापग्रस्त नारी को
न तो त्राण प्रिय पुत्र, न तो प्रियतम मिलने वाले हैं ।"
--- उर्वशी, पृ. 100.

पुरूरवा :-

3-3-4-3-2. पुरूरवा के समक्ष उसके व्यक्तित्व के विकास की समस्या अपने ढंग से उभरती है । प्रारम्भ में वह धन-धान्य, राज्य श्री एवं यश से सम्पन्न होते हुए भी पुत्राभाव से ग्रस्त है । उर्वशी की ओर उसके आकर्षण के मूल में कहीं राज महिषी औशीनरी से पुत्र न प्राप्त कर सकने की पीड़ा भी हो सकती है । त्रेयसे उर्वशी के साथ गन्धमादन पर पहुँचने के पश्चात् पुरूरवा औशीनरी के प्रति अपने संदेश में जिस पीड़ा को व्यक्त करता है वह उसके पुत्राभाव की पीड़ा है :---

" बहुत मग्न अतिशय प्रसन्न हूँ मैं तो इस मधुवन में
किन्तु यहाँ भी खटक रही है वही वेदना मन में ।
प्रतिष्ठानपुर में भू का स्वर्ग तेज लगता है,
एक बाँझ बिन किन्तु सब कुछ सूना लगता है । "×

" वही वेदना मन में " की अभिव्यंजना से सिद्ध होता है कि इस पीड़ा को अनुभूति इधर नहीं उभरी है । वह उसकी पूर्व पीड़ा है जो इस प्रसन्न वातावरण में भी नासूर बन कर टीस रही है । पुत्र के लिए उसकी विकलता, जैसा प्रतीत होता है, ऐसे क्षणों में क्रंदन करने लगती है तब वह कहता है -----

" पुत्र ! पुत्र ! अपने कुल में क्या दीपक नहीं जलेगा ?
देवि ! दिव्य क्या ऐल वंश क्या आगे नहीं चलेगा ?"[2]

पुत्र की प्राप्ति लौकिक तल पर व्यक्ति को आत्मोपलब्धि है । व्यक्ति अपने पुत्र में सदा जीवित रहता है शाश्वतता का यह भ्रम ही उसको अमरता है तथा इसका अभाव उसके अपने व्यक्तित्व का विखंडन ।

पुरूरवा के विखंडित व्यक्तित्व का एक अन्य पहलू उस समय हमारे सामने आता है जब गन्धमादन पर उर्वशी के साथ अनेक अभिसारों के पश्चात् वह विचित्र से गुत्थियों में उलझा दिखाई देता है । प्रत्यक्षत: वह सौन्दर्य के अन्त: स्वरूप का दर्शन चाहता है ; वह नाम रूपों से उत्पन्न आनन्द को क्षणता में जीने के स्थान पर उसको शाश्वतता में जीना चाहता है ।

×-2. रामधारी सिंह दिनकर, "उर्वशी", पृ. 28.

शाश्वतता को उसकी मानवी सहज उसे देवत्व के निकट ला खड़ा करती है अस्तु वह जीवन्त सौन्दर्य की अनुभूतता में देवत्व की कामना से आकुल हो उठता है । × देवत्व की उपलब्धि के मार्ग में वह कामनाओं को बाधक मानता है तथा कामनाओं के मार्ग से उनका अतिक्रमण करना चाहता है । उसकी कामना यह है कामनाएँ समाप्त हो जायें । कामना को समेटकर कोई कामनाओं से मुक्त नहीं हो सकता । पुरूरवा देवत्व और मनुजत्व के मध्य लटके खाता रहता है । उसे अपने निकट पूर्णत्व का उस क्षण होता है जब उसे अपने पुत्रवान होने का भान होता है । पुत्र प्राप्ति का उसका हर्ष अद्भुत है ऐसा प्रतीत होता है मानो उसको चिर शून्यता एकाएक पूर्णता को उपलब्ध हो गई हो ।[2] पूर्णता के बिन्दु पर हो रीतने का क्रम भी प्रारम्भ हो जाता है । पुरूरवा भी जैसे ही दैविक तल पर अमरत्व को उपलब्ध होता है वैसे ही उर्वशी पर भरत का शाप फलित होता है । उर्वशी के अन्तर्धान होते ही फिर एक खालीपन का एहसास उसे घेर लेता है उसका आक्रोश उफान वस्तुतः उस धक्के का प्रतीक है जो सहसा अनुभूति के क्षणों में स्थिर परिवर्तन पर अनुभव होता है । पुरूरवा की खोज मानव की शाश्वत खोज है अपने उस अंश की तलाश है जिसकी अभिव्यक्ति मानवी एवं उसका सौन्दर्य हुआ करता है । पूर्णत्व की स्थिति मानव मन की एक संकल्पनात्मक स्थिति है तथा भरते-भरते रीतने की प्रक्रिया का आरम्भ ही व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति यात्रा है । पुरूरवा अभिशाप के बहाने प्रव्रजित होता है जिसका अर्थ है अब तक जिस न्यास को वह सम्हाले बैठा था उसका उसके उत्तराधिकारी को सौंप दिया जाना । सन्यास का एक अर्थ मृत्यु

× " चाहिये देवत्व,
पर इस आग को धर दूँ कहाँ पर
कामनाओं को विसर्जित व्योम में कर दूँ कहाँ पर ?"
---- उर्वशी, पृ. 42.

2. पुत्र। अरे मैं पुत्रवान हूँ घोषित करो नगर में
जो हो जहाँ, वहीं से मेरे निकट उसे आने दो।
द्वार खोल दो कोष भवन का कह दो पौर जनों से
जितना भी चाहें सुवर्ण ले जा सकते हैं । --- उर्वशी, पृ. 110.

भी होता है । मृत्यु स्थूल रूप से जीवन का अंत प्रतीत होती है किन्तु वस्तुत: प्रत्येक मृत्यु एक नए जीवन की शुरुआत हुआ करती है । पुरूरवा का सन्यास इसी व्यक्तित्व यात्रा का प्रतीक है जो कभी पूर्ण नहीं होती ।

औशीनरी :-

3.3.4.3.

औशीनरी का व्यक्तित्व कई दृष्टियों से विकास की समस्या से ग्रस्त है । राज महिषी के रूप में वह पुरूरवा पर एकाधिकार चाहती है वह चन्द्रायन व्रत द्वारा स्वामी के प्रेम पर अपना पूर्णाधिकार चाहती है । पर जो इसे नहीं मिलता । इसकेसाथ ही पुत्र का अभाव भी उसके निकट उसके जीवन का सबसे बड़ा अभाव है । पुत्राभाव को उसकी पीड़ा पति-वियोग के दु:ख में डूब जाती है । उसका दु:ख परित्यक्ता का दुख है, नारी के आहत मन का दु:ख है । औशीनरी की पीड़ा के ये स्थल ही उसके व्यक्तित्व की अपूर्णता को सिद्ध करते हैं । औशीनरी को स्यात् अंत तक यही ज्ञान नहीं हो पाता कि उसके व्यक्तित्व की पीड़ा क्या है -- पति या पुत्र ? पति को खो कर वह स्वत्वहीन हो जाती है किन्तु पुत्र को पाकर वह पूर्णत: मुकुलित हो उठती है । × किन्तु क्या औशीनरी का व्यक्तित्व संतुष्ट व्यक्तित्व कहा जा सकता है ? नहीं । वह तो अपनी रिक्तता से भरी ही रहती है । उसका अपना व्यक्तित्व निरंतर अधूरेपन से ही ग्रस्त रहता है । औशीनरी आजीवन समर्पण की भ्रान्ति में जीवित रहती है[2] किन्तु अंत में जब उसका मोह भंग होता है तो वह

× हाँ, मैं अभी राज्यमोहिनी थी, चाहे जहाँ कहीं भी
इस पुत्राहा से दूर भाग्य ने मुझे फेंक रखा था ।
किन्तु नियति की बात सत्य ही अभी राजमाता हूँ ।
आ बेटा तू जुड़ा घ्राण तातों से तुझे लगा कर ।
--- उर्वशी, पृ. 120.

2. " प्रभु को दिया नहीं, ऐसा तो पास न कोई धन है । "
--- उर्वशी, पृ. 26.

अछता - पछता कर रह जाती है । × इस प्रकार हम देखते हैं कि औशीनरी का व्यक्तित्व भी खंडित व्यक्तित्व है ।

आयु :-
3.3.4.3.4

आयु का अपना व्यक्तित्व ना कुछ है । जो है उसका उदय भी अपार संकट में होता है । उसके विकास की रेखा उर्वशी काव्य में नहीं उभर सकी है फिर भी उसकी अपूर्णता का सहज अनुमान किया जा सकता है । माता पिता से वंचित बालक श्री और सौभाग्य का स्वामी तो हो सकता है किन्तु इससे उसके व्यक्तित्व की समग्रता और पूर्णता सिद्ध नहीं होती ।

च्यवन और सुकन्या :-
3.3.4.3.5.

च्यवन और सुकन्या के व्यक्तित्व के संबंध में भी यही बात कही जा सकती है । इन दोनों का व्यक्तित्व भी काव्य में नहीं उभर सका है । च्यवन पत्नी आरुषी के वियोग से दुःखी होकर समाधि में प्रविष्ट हुए थे और जब उनकी समाधि टूटी तो सामने अगाध रूप-राशि की स्वामिनी नवयुवती सुकन्या थी जिसे देखकर वे प्रार्थना सी करने लगते हैं :-

" कहाँ गया यह रूप, देखते ही जिसको पावक को
दाहकता मिट गयी, स्थाणु में पत्ते निकल रहे हैं ।
× × × ×
अब होगा क्या अपर स्वर्ग जिसका सन्धान करूँ मैं ?
हरि प्रसन्न यदि नहीं, सिद्धि बन कर तुम क्यों आयी हो ?"[2]

× " मुझे भ्रान्ति थी जो कुछ था मेरा सब चढ़ा चुकी हूँ ;
शेष नहीं अब कोई पूजा प्रसून डाली में ;
किन्तु, हाय, प्रियतम को जिसकी सबसे अधिक तृषा थी
अब लगता है मैं चूक गई वही सुरभि देने में -- उर्वशी, पृ.126.

2. रामधारी सिंह दिनकर, "उर्वशी", पृ. 87.

सुकन्या अन्य दृष्टियों से सम्पन्न होते हुए भी यशोलिप्सा से ग्रस्त है । उसका व्यक्तित्व अत्यंत सूक्ष्म रूप से अपने विकास का पथ तलाश करता है । वह तपस्वी के तप का वरण कर कीर्ति लाभ करना चाहती है । उसका अतृप्त मन बार-बार यही सुनना चाहता है कि---

" हरि प्रसन्न यदि नहीं सिद्धि बन कर तुम क्यों आयी हो ?"

वस्तुत: सुकन्या यश की अर्जित है यानी या उसके जीवन की न्यूनता है तथा इसके साथ ही उसके अन्दर कहीं गहरे में अनेक भोगों को न जानने की पीड़ा है ।[×] उसका मनुष्यत्व उसकी दृष्टि में मुक्त विहार में बाधक है ।[2]

अप्सराएँ :-

33.4.36

अप्सराओं के व्यक्तित्व की विखंडता को समझने के लिए एक ही सूत्र पर्याप्त है :---

" हम कुछ नहीं एषणाएँ हैं मात्र अभुक्त मदन की ।
हाय सुकन्ये ! नियति शाप से ग्रसित अप्सराओं की
कोई भी तो नहीं विषम वेदना समझ पाता है । "[3]

गत पृष्ठों में व्यक्तित्व के विकास की समस्या के स्वरूप निर्धारण में हमने प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों ही रूपों को स्पष्ट करने का प्रयास किया अप्रत्यक्ष रूप से समस्त रचना में अनुस्यूत व्यक्तित्व के विकास की समस्या को स्थापित करते हुए हमने एक ओर उर्वशीकार के मानस में चल रही उस विचारधारा को स्थापित किया जो एक ओर पूर्णत्व के खोज की तलाश में विभिन्न आयामों का उद्घाटन किया करती है तथा दूसरी ओर स्व-निर्मित संकल्पों के घेरे में घुटती रहती है तथा अपनी ही संभावनाओं को

× " एकाचारिणी मैं क्या जानूँ स्वाद विविध भोगों का "?
--- उर्वशी, पृ. 84.

2. " विगलित कभी कहाँ होता है यौवन तुम अप्सरियों का ?
पर यौवन है मात्र क्षणिक छलना इस मर्त्य भुवन में,
ले उसका आलम्ब मानवी कब तक जी सकती है ?"--उर्वशी, पृ.85.

3. रामधारी सिंह दिनकर, "उर्वशी", पृ. 96.

छाया में बौना जाता है । रचना समस्या को सीधी अभिव्यक्ति न हो कर उसकी उदात्तीकृत अभिव्यक्ति होती है तथा इस उद्दात्तीकृत रूप में वस्तु स्थिति का आमने-सामने होकर साक्षात्कार करना उन कलात्मक आवरणों के मध्य यथार्थ का साक्षात्कार करना है जिससे हम सब जूझने के लिए अभिशप्त हैं और रात-दिन जूझा करते हैं । प्रत्यक्षत: व्यक्तित्व के विकास को समस्या के स्वरूप निर्धारण में उर्वशी में व्यक्त प्रमुख पात्रों के व्यक्तित्व यथावत् ग्रहण किया गया है । उनकी उस विखण्डता को रेखांकित करने का प्रयास किया गया है जिसके दरारे हम सभी अनुभव किया करते हैं । अब तक हमने इसीकार मात्र इतना ही स्थापित किया है कि परोक्षत: उर्वशी रचना की समग्रता की पृष्ठभूमि में उर्वशीकार के अपने व्यक्तित्व के विकास की समस्या है तथा प्रत्यक्षत: उसके द्वारा निर्मित सभी पात्र अपने-अपने व्यक्तित्व में विखण्डित हो दृष्टिगत होते हैं ।

विश्लेषण :-

उपलब्ध तथ्यों को विश्लेषित करने पर यह सरलता से देखा जा सकता है कि उर्वशीकार के मानस में पूर्णत्व की उपलब्धि की एक अन्त: सलिला विचारधारा निरन्तर गतिमान है । पूर्णत्व का यह विचार उसे संश्लेषण के लिए प्रेरित करता है । उर्वशी कथानक के चुनाव में दो बातें स्पष्टत: महत्वपूर्ण हैं--- पहली यह कि यह प्रेम काव्य होने के कारण संश्लेषण का काव्य है ; प्रेम में -- भले ही वह जैविक तल पर चलनेवाला प्रजनन व्यापार जाने या अन्य सम्बन्ध क्यों न हो, -- दो विभिन्न इकाइयाँ --- जो मूल रूप से एक ही इकाई के दो भागहोने रूप के कारण पृथक - पृथक प्रतीत होतें हैं, एक में मिल जाने के लिए आकुल रहतें है ;,प्रेम में उठनेवाली आकुलता अथवा अथवा फिर प्रजन के क्षणों में एकमएक हो जाने की आकुलता के कारण को इस प्रत्यय से सहज ही समझा जा सकता है कि--- आपस में संयुक्त होते हैं । संयुक्तता के क्षणों का यह आभास मानव चिन्तना का सनातन दाय रहा है । शतपथ ब्राह्मण में उर्वशी को कथा में पुरुरवा गन्धर्वों से उनमें से एक हो जाने का वरदान माँगता

है । गन्धर्वों को श्रेणी तक उठकर देवत्व को उपलब्धि स्यात् मनुष्य द्वारा मानसी विकास की चरम उपलब्धि की परिकल्पना है । जीवन में रिक्तता का अनुभव, खोलेपन का आभास कहीं गहरे में उस पूर्णता का संकेत भी है जो सृष्टि के आदि में रही होगी तथा जिसकी अवशिष्ट स्मृति आज भी उस प्रयास की ओर मानव जाति को ठेलती रहती है । इसके साथ ही रिक्तता का अनुभव उन प्रयासों के लिए अवकाश भी निर्मित करता है जिसमें व्यक्ति के प्राणों की ऊर्जा अभिव्यक्त होती है । सौन्दर्य के तल पर यह एक ऐसे भाव एवं वस्तुपरक मूल्य की सृष्टि करती है जो अपनी आत्यन्तिकता में मनोदार्शनिक भूमि पर मनुष्य को स्थापित करता है ; किन्तु इसके साथ ही काम व्यापारों में सृष्टि के विकास के रूप में जहाँ एक ओर अमरत्व की ललक होती है वहीं स्वर्गीय संवेदनों की अनुभूति उसे एक ऐसे लोक में प्रतिष्ठित करती है जो नितान्त वायवीय होते हुए भी शक्य है । यहाँ पर सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रत्यय है समस्त अनुभवों का मानव कृति द्वारा ग्रहण किया जाना अर्थात् व्यक्ति का वह बोध जो इस समस्त व्यापार का साक्षी न रह कर हिस्सा बन जाता है । व्यक्ति को जीवन में अपने हिस्सेदारी ही उसका अस्तित्व बोध है जो उसे बार-बार काल की अखंडता में क्षण्ण अनुभवों के मध्य जीवित होने का एहसास दिलाता है और क्षणता के साथ-साथ चलती हुई अखंडता की यह महा यात्रा अपने क्षणों में व्यक्तित्व और उसके विकास की समस्याओं से टकराती रहती है । उर्वशी की रचना प्रक्रिया और उसके समस्त पात्र इसी विखण्डित मानसिकता की उपज हैं ।

संश्लेषण :-

उ३३८.

मनुष्य अपनी विकास यात्रा के अरबों वर्ष तय कर चुकने पर

पूरी तरह मनुष्य नहीं बन सका है, वह मनुष्य की सम्भावना मात्र है । नए मनुष्य के सृजन की परिकल्पना× इस सम्भावना को जहाँ और अधिक सुस्पष्ट करती है वहीं व्यक्तित्व के उस अधूरेपन की ओर संकेत भी करती है जो वस्तुत: किसी बिन्दु पर पूर्ण होने की संभावना में गतिशील है । आज का आदमी मूल्यवत्ता और पहचान खो चुका है । वह सुरक्षा की तलाश में बन्धनों को गले लगाता है तथा बन्धनों से मुक्त होने के लिए असुरक्षा में कदम रखता है । असुरक्षा से सुरक्षा की तलाश उसकी यात्रा की अनंतता है । यात्रा की यह अनंतता ही वस्तुत: उसकी मानसिक विखण्डता की अभिव्यक्ति है ।

=××××××××××÷

*

× " किन्तु, कभी यदि हमें मिला निर्बाध सुयोग सृजन का,
हम होकर निरपेक्ष सुकोमल ऐसा पुरुष रचेंगे,
कोलाहल कर्कश निनाद में भी जो श्रवण करेगा
कातर मौन पुकार दूर पर छूटी हुई करुणा की ;
और बिना ही कहे समझ लेगा, आँखों आँखों में,
मूक व्यथा की कसक, आँसुओं की निस्तब्ध गिरा को ।"
--- उर्वशी, पृ. 126.

खण्ड : तीन

विश्लेषण

8.3.7 सौन्दर्य बोध की समस्या

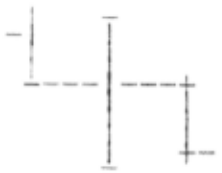

चिन्तन की लहरों के समान सौन्दर्य लहर में भी है जल
-- दिनकर, "उर्वशी" --

सौन्दर्य की शक्ति बुद्धि और सम्पत्ति की शक्तियों से भी बड़ी है ; क्योंकि उसका जनतंत्रीकरण संभव नहीं है ।

डॉ. देवराज - भीतर का घाव, राजपाल, 1973, पृ.71.

सौन्दर्य बोध की समस्या

सौन्दर्य बोध : और उसकी समस्या :-

३.३.१

सौन्दर्य सदा से मानव के आकर्षण का केन्द्र रहा है और उसका बोध उसकी शाश्वत समस्या रही है । आकर्षण के केन्द्र के आवरणों के अन्तर में झाँकने की मानवीय आकुलता उसके सामने गुह्य गुफाओं के अनजाने द्वार तथा गणित के उलझे प्रश्न सदा से रखती आयी है । अभीप्सित वस्तु की उपलब्धि तो अलग् नहीं उस अभीप्सा के मानवीय केन्द्र की तलाश भी मानवीय जिज्ञासा का कारण रही है जो उस अभीप्सा को युगों से जन्मती आयी है इसलिए " सौन्दर्यबोध आज मानव का, उसकी सम्पूर्ण इयत्ता इन्द्रियों के अनुभवों का ऐसा पुंज है जिसमें सामूहिक -वैयक्तिक, बहिर्मुखी-अन्तर्मुखी, रचनात्मक-उत्पादक, शारीरिक-मानसिक, व्यावहारिक-भावात्मक, अन्तर्ज्ञानात्मक-तर्कात्मक, स्तब्ध-उन्मुक्त आदि द्वन्द्वों का सामंजस्य है । इसमें आनन्द (सुख) तथा आतंक(यातना) की समकालिकता है । इसकी आस्वाद भूमि में साधारणता (लौकिकता) तथा चमत्कार (विस्मय) का समन्वय है । "× समन्वय की इसी भूमि पर प्रतिष्ठित होकर मानवीय प्रयास रूप के वातायन से उपलब्धि का साक्षात्कार करने के लिए उद्यमशील रहता है जिसके परिणामस्वरूप एक ओर उसके अन्तर्द्वन्द्व आकार ग्रहण करते हैं तथा दूसरी ओर आनन्द तथा आतंक की उसकी मनोरेखाएँ अपनी अभिव्यंजना का अवसर पाती हैं । उर्वशीकार भले ही बहुत निश्चित धारणा लेकर सौन्दर्यबोध के इस प्रयास में प्रवृत्त न हुआ हो किन्तु उसका सृष्टा मानस, जिस पर आदिम प्रवृत्तियों की छाया स्पष्ट रहती है ; निश्चित रूप से इस संधारणा से मुक्त नहीं था ।

× डॉ. रमेश कुन्तल मेघ, साक्षी है सौन्दर्य प्राश्निक, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली, 1980, भूमिका पृ. तेरह .

सौन्दर्य बोध को समस्या से जूझते हुए हम सरलीकरण को दृष्टि से इस दो आयामों में विभक्त करते हुए अपना मार्ग प्रशस्त करेंगे -- -- पहला आयाम होगा सौन्दर्य बोध को समस्या उर्वशीकार को दृष्टि से तथा दूसरा आयाम होगा रचना में उसको उपस्थिति के विभिन्न परिदृश्य । इस संदर्भ में उचित तो यह प्रतीत होता है कि इसके पूर्व हम अपने दोनों आयामों को स्पष्ट करें, सौन्दर्य, क्योंकि अभी भी इसकी अवधारणा भाववादी यानी आत्मवादी कोटि से निकलकर वस्तुवादी श्रेणी में बहुत स्पष्ट ढंग से स्थापित नहीं हो सकी है अर्थात् एक स्वतंत्र मूल्य के रूप में सौन्दर्य को लेकर आज भी दृष्टि स्पष्ट नहीं है ; के सम्बन्ध में कतिपय संधारणाओं को संक्षेप में स्पष्ट कर लें ।

सौन्दर्य की धारणा में आदिम मनुष्य को कब अपनी ओर पहली बार आकृष्ट किया होगा कहना असंभव है । प्राचीन भारतीय चिन्तना में सौन्दर्य के पर्यायों को ढूंढा तो देखी जा सकती है किन्तु उसमें उसका स्वतंत्र विवेचन नहीं मिलता । स्यात् सौन्दर्य और व्यक्ति का सम्बन्ध इतना घनिष्ट और अनिर्वचनीय रहा हो कि उसके सम्बन्ध में स्वतंत्र चिन्तन की आवश्यकता का अनुभव ही न किया गया हो । इसके साथ ही जो नितान्त आनन्द का विषय है × उसकी बौद्धिक विवेचना उस आनन्द को, उसकी अखंडता को[2] बाधित ही करेगी; इससे उसमें कोई अभिवृद्धि हो सकेगी इसमें सन्देह है क्योंकि बुद्धि विश्लेषण के द्वारा तोड़ती रहती है जिससे एकान्विति नष्ट हो जाती है ।

प्लेटो ने सौन्दर्य को सृष्टि के मूल तत्व के रूप में स्वीकार करते

× " Beautiful things are those which are apprehended with pleasure"— संत अक्विनास -- देखिए श्री श्यामकान्त द्विवेदी का लेख, " सौन्दर्य तत्व " सरस्वती , अप्रैल, 1965.

2. " सौन्दर्य एक अखण्ड तत्व अथवा चेतना है "- डॉ नगेन्द्र, भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की भूमिका, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1974, पृ. 133 तथा 156.

हुए उसे सत् का पर्याय तथा श्रेयस से अभिन्न माना है । इसके साथ ही उसकी मान्यता रही है कि सौन्दर्य और प्रेम एक ही तत्व के दो वास्तविक पक्ष हैं । प्लेटो की इस अवधारणा को और अधिक स्पष्ट किया उनके शिष्य प्लोटिनस ने । प्लोटिनस की मान्यता यह रही कि " जो हमारे अनुराग का विषय है वही अन्ततः सुन्दर है ।"× सुन्दरता की इस अवधारणा को दार्शनिक आवरण देते हुए उन्होंने कहा कि " मानव आत्मा अपने मूल उद्गम -- उस परम तत्व से मिलने के लिए व्यग्र रहती है जो शिव और सुन्दर का आधार स्रोत है । उस परम सुन्दर के साथ तादात्म्य की यही अभिलाषा सौन्दर्य चेतना का रहस्य है अर्थात् सौन्दर्य चेतना की भावना मूलतः एक आध्यात्मिक अनुभूति या रहस्यानुभूति है ।"[2] इसीलिए आत्मा का सौन्दर्य ही यथार्थ सौन्दर्य है । प्रकृति का सौन्दर्य तो आत्मा के शाश्वत सौन्दर्य की प्रति-छाया मात्र है । चेतना का व्यक्त रूप ही सौन्दर्य है (हीगेल) तथा " यह दिव्य चेतना परम सत्ता का ही प्रतिरूप है जो सम्पूर्ण सृष्टि की प्रेरक शक्ति है ।"[3] तर्कोपहित प्रमा का लक्ष्य सत्य है और ऐन्द्रिय प्रमा का लक्ष्य सौन्दर्य है । इन्द्रियाधिगम्य परम तत्व सौन्दर्य है । (आम गर्टेन - 1714-62) तर्काधिगम्य परमतत्व शिव है । सौन्दर्य पूर्ण सत्ता का सम्बन्ध तत्व है । सौन्दर्य का लक्ष्य आनन्द प्राप्ति है एवं कामनोत्पादन है । इच्छापूर्ति आनन्द का मूल आधार है परन्तु इच्छापूर्तिजन्य मानसिक आनन्द भी अंतर है, एक इच्छा की पूर्ति दूसरी इच्छा को जन्म देती है जिसका परिणाम होता है भितर अतृप्ति जो आनन्द को सबसे बड़ी बाधा है ।[4] इसप्रकार हमने सबसे पहले सौन्दर्य की भाववादी या आत्मवादी उस धारणा को स्पष्ट किया जो अन्ततोगत्वा एक परम मूल्य या ईश्वरीय सत्ता में विलीन हो जाती है । सौन्दर्य की

× डॉ. नगेन्द्र, भारतीय सौन्दर्य शास्त्र की भूमिका, पृ. 21.

2. वही, तथा Bertrand Russell, History of Western Philosophy, Page. 319.

3. डॉ. नगेन्द्र, भारतीय सौन्दर्य शास्त्र की भूमिका, पृ. 22.

4. वही, पृ. 162.

इस संधारणा के अनुसार सौन्दर्य को जिन कोटियों एवं स्तरों को रेखांकित किया जा सकता है वे इस प्रकार हैं :-

(1) सार्वभौम सौन्दर्य
(2) भौतिक सौन्दर्य
(3) चेतना का सौन्दर्य
(4) नियम और मर्यादा का सौन्दर्य तथा
(5) ज्ञान-विज्ञान का सौन्दर्य ।

सार्वभौम सौन्दर्य के अन्तर्गत भौतिक सौन्दर्य को समाहित कर देने पर निष्कर्ष यह निकलता है कि " सौन्दर्य की सत्ता व्यक्तिगत न हो कर सार्वभौम होती है अर्थात् व्यक्ति का सौन्दर्य विश्व सौन्दर्य का ही अंग होता है ।"× सौन्दर्य के इन स्तरों पर विचार करने पर हम पाते हैं कि सार्वभौम सौन्दर्य में जहाँ एक व्यापक अन्विति है वहाँ चेतना का सौन्दर्य उसकी अभिव्यक्ति ; तथा नियम और मर्यादा का सौन्दर्य पाने लौकिक सौन्दर्य की व्यक्ति दृष्टि की सामाजिकता के स्वीकार या अस्वीकार पर टिके रहते है । ज्ञान-विज्ञान का सौन्दर्य अन्ततः एक व्यापक वृत्त को पूर्णत्व प्रदान करता है । शुद्ध चेतना का स्तर अपने में सार्वभौमता में जहाँ सौन्दर्य की संधारणा को एक आध्यात्मिकता प्रदान करता है वहाँ उसके कुछ व्यक्तिवादी पहलू भी उजागर होते है कला के विशेष कर रचना के, संदर्भ में उन पर भी कुछ विचार करना अनुचित न होगा ।

व्यक्तिवादी सौन्दर्य की महत्वपूर्ण उपपत्ति यह है कि प्रत्येक बोध के मूल में मनुष्य का अपना होना निश्चित रूप से शामिल रहता है । इस अपने होने के बोध के साथ ही उसे अन्य प्रत्ययों का अभिज्ञान होता है । सौन्दर्य की भौतिक अथवा सार्वभौम या फिर चेतन और नैतिक संधारणाओं के मूल में मनुष्य के अपने बोध की अनिवार्यता अपरिहार्य है । इस वैचारिक भूमि पर ही, जहाँ ये संधारणाएँ आधारित रहतीं हैं, जो

× डॉ. नगेन्द्र , भारतीय सौन्दर्य शास्त्र की भूमिका, पृ. 21.

जो अधिमानसी स्तर से गुजरती हुई आध्यात्मिकता के चरम मूल्यों की दावेदार बनती हुई स्वतंत्र मूल्यों की सृष्टि का प्रयास करती है वहाँ इसी व्यक्ति परिप्रेक्ष्य से ऐसी दृष्टि भी विकसित होती है जो निरपेक्षता के तट पर, वस्तुवादिता का दावा पेश करती है । दृष्टि की वस्तुवादिता का प्रत्येक दावा वस्तुत: सापेक्षता का दावा ही हो सकता है, वस्तुनिष्ठता का नहीं क्योंकि इसके मूल में व्यक्ति की अपनी दृष्टि सक्रिय रहती है । अपने आप को निस्संगता की ओर ले जाता हुआ व्यक्ति मानस अपने प्रयास की महत्ता से निस्संग नहीं हो पाता इसलिए भी, दृष्टि सापेक्षता की सीमा का अतिक्रमण नहीं कर पाती । वस्तुत: इन्हीं व्यक्ति प्रयासों का प्रतिफलन कला सृष्टि में होता है । कला सृजन के क्षणों में निस्संगता और प्रतिबद्धता की विचार सरणियाँ समान रूप से सक्रिय रहती हैं । वस्तु में शिवत्व की कल्पना (जजर) जागरूक मानस की अभिव्यक्ति है तथा शिव से पूर्णत: स्वतंत्र एवं असंपृक्त सौन्दर्य को ही वास्तविक सौन्दर्य मानना (विकेल मैन) पूर्ववर्ती स्थिति की प्रतिक्रिया है । व्यक्ति का आना दोनों इसकी क्रियात्मक एवं प्रतिक्रियात्मक दोनों ही स्थितियों में समान रूप से निहित रहता है । सौन्दर्य को कला का लक्ष्य स्वीकारते हुए (बोसन्क) उसके द्वारा चेतना की जागृति की अवधारणा तथा इस प्रयास में उसका कदाचित शिवत्व से पृथक् होते हुए भी व्यक्ति मानस में आनन्द की सृष्टि (होन) तथा रुचि उत्पादन को कला का आदर्श स्वीकार करना वस्तुत: उसकी व्यक्ति सापेक्षता सम्मेलित वस्तुनिष्ठता का प्रतिपादन है । व्यक्ति सापेक्षता के इस रेखांकन में आने खतरे भी रहे हैं कदाचित इसी कारण सौन्दर्य को (एक) भ्रम के रूप में माना गया (बेरनुलोज) तथा उसकी स्थिति वस्तुगत न होकर आत्मगत स्वीकार की गई ; जब कि इस सम्बन्ध में वस्तु सन्निकर्ष को महत्वपूर्ण माना जाना चाहिए । सौन्दर्य का बोध शरीर के माध्यम से होता है (ग्राँट एलेन) किन्तु उसकी सत्ता न तो पूर्णत: " प्रभात की चेतना मे

रहती है न पदार्थ में । उसकी चेतना वस्तुत: दोनों के संवाद में है ।"×

सौन्दर्य में काम तत्व की सरसता, विह्वलता, रसवर्षणा सभी विद्यमान रहते हैं । इसीलिए फ्रायड ने भी सौन्दर्य के आस्वादन को मन के द्वारा काम रस का आस्वादन माना है । भेद केवल यही है कि भोग का माध्यम वास्तविक अनुभव से परे काल्पनिक हो जाता है ।

डॉ. नगेन्द्र ने अपने ग्रन्थ भारतीय सौन्दर्य शास्त्र की भूमिका में सौन्दर्य तत्व के सम्बन्ध में कतिपय निष्कर्ष प्रस्तुत किये हैं जिनका सार तत्व इस प्रकार है :---

(1) सौन्दर्य एक अखंड तत्व अथवा अखण्ड चेतना है ।[2]

(2) यह चेतना दिव्य है तथा संसार का समस्त सौन्दर्य इसके ही बहुविधि अभिव्यक्ति है ।[3]

(3) सौन्दर्य का कामचेतना के साथ अन्तरंग सम्बन्ध है, किन्तु यह कामभावना मृण्मय न होकर चिन्मय होती है ।[4]

(4) प्रकृति का सौन्दर्य इस चिन्मय रति का उद्दीपक है क्योंकि वह चिन्मय रति के विषयभूत भगवान के सौन्दर्य से मूलत: अभिन्न है ।[5]

यहाँ पर यह कहना चाहेंगे कि सम्पूर्ण अभिव्यक्ति से भगवान का प्रत्यय घटा देने पर भी इसमें अन्तर नहीं पड़ता क्योंकि भगवान अन्ततोगत्वा प्रमाता को प्रमा का एक ऐसा प्रमेय है जो उसकी चेतना की आत्यांतिकता को रेखांकित करता है । इसके साथ ही सौन्दर्यतत्व को

× डॉ. नगेन्द्र, भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की भूमिका, पृ, 26.

2. वही, पृ. 133.

3. वही, पृ. 64.

4. वही. 65.

5. वही, पृ. 65.

समस्त परिकल्पना अन्ततोगत्वा मानव का बुद्धि व्यापार ही तो है । मानव बुद्धि-व्यापार जब जब एक सन्तुलन बिन्दु से सृजन या पुनर्सृजन का मूल्यांकन करता है तथा एतत् सम्बन्धी मानकों का निश्चयन करता है जिससे कालान्तर में मूल्यों की सृष्टि होती है, तब उस बुद्धि व्यापार की स्थिति विवेकमय होती है । विवेक, बुद्धि व्यापार की स्थिति विशेष है जो मूल्यों का स्रोत है । सौन्दर्य मूलत: बुद्धि का व्यापार है । इसलिए वह एक स्वतन्त्र मूल्य भी है । कहा जा सकता है कि कला के समस्त प्रतिमान मानवानुभवोद्भूत एवं विवेक प्रतिपादित है किन्तु मात्र अनुभव प्रतिमान के रूप में प्रतिष्ठित नहीं हो सकता हाँ अनुभव की भूमि पर बुद्धि द्वारा प्रतिष्ठित तत्व प्रतिमान अवश्य हो सकता है और सौन्दर्य एक ऐसा ही प्रतिमान है । सौन्दर्य से मानव को आनन्द की उपलब्धि होती है अर्थात् जिस किसी व्यक्ति अथवा वस्तु से मनुष्य आनन्द की प्राप्ति करता है उसके लिए वह सुन्दर ही होती है । सौन्दर्य की व्यक्ति धारणा जब सामाजीकृत होती है तो उससे शिव तत्व की निष्पत्ति होती है उसको संज्ञा शिवत्व है । यही शिवत्व की भावना नैतिक सौन्दर्य का रूप ग्रहण करती है ; किन्तु व्यक्ति और सामाजिक धारणा में सौन्दर्य को लेकर इसी बिन्दु पर एक संघर्ष उत्पन्न होता है । नैतिकता और आनन्द की धाराओं में द्वन्द्वात्मकता हो सकती है, और प्राय: होती है, जो आनन्द का कारण है वह आवश्यक रूप से नैतिक नहीं भी हो सकता है इसीलिए इन दोनों के मूल्य अलग-अलग होते है ; परन्तु जहाँ कलाकार और उसकी कृति का सम्बन्ध उपस्थित होता है स्थिति भिन्न हो उठती है । कलाकार मूलत: एक सामाजिक प्राणी होता है । समाज में रहकर ही उसके कला, सौन्दर्य एवं नैतिकता के मानक विकसित होते हैं किन्तु सृजन की भूमि पर जब वह एक से अपना तादात्म्य स्थापित कर रहा होता है तो परोक्षत: दूसरा उसकी प्रतिगामी धारा के उत्स को कुरेदने लगता है इसीलिए इसे टाड हण्टर जैसे विद्वानों ने विरोधों का सामंजस्य कहा है ।× वस्तुत: आनन्द

× देखिए - श्री श्यामकान्त द्विवेदी का लेख- सौन्दर्यतत्व, सरस्वती, -- अप्रैल, 1965.

के साथ आतंक की समकालिकता (रमेश कुन्तल मेघ) ही सौन्दर्य बोध की मूल समस्या है । आनन्द की इच्छा के साथ-साथ नैतिकता, भय या मृत्यु यातना जैसे प्रत्ययों का प्रत्यक्षीकरण उसे सौन्दर्य के शुद्ध दिव्यत्व से एकीकृत नहीं होने देता । सौन्दर्य से विलगाव की यह स्थिति ही सौन्दर्यबोध की समस्या है ।

स्वरूप

समस्या का स्वरूप : उर्वशीकार की दृष्टि में :-

उ.उ.प.1.

सृजन के क्षणों में

स्रष्टा और सृजन अभिन्नत्व की स्थिति में होते है । एक से दूसरे को पृथक् किया ही नहीं जा सकता । सृजन के क्षणों में विचारों की सहगामिता या प्रतिगामिता के रूप में जो कुछ भी सृजित होता है उसका स्वरूप अविकल होता है । चेतना के अविच्छिन्न प्रवाह की दो धाराएँ कदाचित कृति में उभर सकती है किन्तु उनका मूल उद्गम भिन्न नहीं होता । कलाकार की चेतना कृति में उसकी समग्रता में ही देखी जानी चाहिए । खण्डानुभवों का आकलन विश्लेषण की दृष्टि से उपयोगी हो सकता है किन्तु समग्रता की ओर उन्मुख चेतना की सौन्दर्य दृष्टि कदाचित उसे स्वीकार नहीं करती ।

उर्वशीकार की सौन्दर्यवादी दृष्टि जिस अरूप छवि को आविष्कृत कर सकी है वह है रूपसी नारी ।× सौन्दर्य के इस साकारत्व का जैविक उपभोग काम है तथा उसे इन्द्रिय तल से ऊपर उठकर आत्मसात् करने का प्रयास वस्तुत: ऐसे मानस का उत्पादन है जो इस समग्रता की विद्युन्मय तरंगों को अपने वायवीय सम्पुट में भर लेना चाहता है । भरने की आकांक्षा एक ओर आत्मरिक्तता बोध का बोध है तथा दूसरी ओर

× " रूपसी नारी प्रकृति का चित्र है सबसे मनोहर " --उर्वशी.पृ.38.

तथा
" कुसुम और यामिनी, बहुत सुंदर दोनों होते हैं,
पर तब भी नारियाँ श्रेष्ठ हैं कहीं कान्त कुसुमों से
क्योंकि पुष्प है मूक और रूपसी बोल सकती है ।
सुमन मूक सौन्दर्य और नारियाँ सवाक् सुमन हैं ।"--उर्वशी,पृ.69.

सौन्दर्य को अनन्तता से एकीकृत होकर उसके नैरन्तर्य में उसका उपभोग अस्तित्वबोध के समानान्तर गतित व्यक्ति का आतंक बोध है । सौन्दर्य को उसकी जैविकता में भोगते हुए मनुष्य के अन्दर उसके अपने खंडानुभवों के कारण सौन्दर्य के चुक जाने का भय निहित रहता है । न तो वह स्वयं चुकना चाहता है और न ही उसे यह स्वीकार है कि उसके आनन्द का प्रत्यक्ष स्रोत निश्शेष हो जाय । निश्शेषता का यह भाव उसके मानस में आतंक को सृष्टि करता है । उसका यह आतंक अपने विस्तार में इतना फैल जाता है कि उसे अपनी उपभोग पद्धति पर संदेह हो उठता है ।×

व्यक्ति की बौद्धिक निर्मितियाँ उसे इस बोध से भरती जाती हैं कि बुद्धि के द्वारा सब-कुछ समझा जा सकता है । पुष्प के सौन्दर्य की अनुभूति करती दृष्टि जब बौद्धिकता से सन्निकर्षित होती है तो वह उसे प्रयोगशाला में उपकरणों द्वारा विश्लेषित कर समझने का प्रयास करने लगती है ।[2] कदाचित यही उसके तल से बहुत भूत सिद्ध होती है । विश्लेषण के प्रयास में एक ओर प्रमाता के निकट सौन्दर्य की अनुभूति चुक जाती है तथा दूसरी ओर प्रमेय की वस्तुनिष्ठता की अन्विति बिखर जाती है ।

सौन्दर्य को आत्मिसात् करने के प्रयास में प्रत्यक्ष का अतिक्रमण

× " दृष्टि का जो पेय है, वह रक्त का भोजन नहीं है ।
रूप की आराधना का मार्ग आलिंगन नहीं है । "
--- उर्वशी, पृ. 36.

2. "रक्त की उत्तप्त लहरों की परिधि के पार
कोई सत्य हो तो,
चाहता हूँ भेद उसका जान लूँ
पन्थ हो सौन्दर्य की आराधना का व्योम में यदि
शून्य की उस रेख को पहचान लूँ । "
--- उर्वशी, पृ. 36.

एक ऐसी स्थिति है जब वह स्वयं सौन्दर्यबोध की समस्या से ग्रसित हो जाता है । सौन्दर्य की ऐन्द्रिक अनुभूति बौद्धिकता से संस्पर्शित हो अपनी इन्द्रिजन्य विशिष्टताओं से च्युत होने लगती है । प्रत्यक्ष आनन्द के कारणों को छोड़कर उसका बौद्धिकतापूर्ण मानस कल्पना करता है कि प्रत्यक्ष सौन्दर्य सार्वभौम सौन्दर्य की आंशिक अभिव्यक्ति है ।× अस्तु यदि मूल तत्व का सन्धान पा लिया जाय तो निश्शेषता की समस्या से मुक्त हुआ जा सकता है । वह प्रत्यक्ष का अतिक्रमण कर परोक्ष की यात्रा पर निकल पड़ता है जिसके मार्ग में सौन्दर्यक की आत्यन्तिकता अन्य बौद्धिक प्रत्यय जैसे माया, प्रकृति और ईश्वर आ जाते हैं संसार की प्रत्यक्षता उद्भावित हो उठती है और रसकार आनन्द की स्थिति बदल जाती है । बहुत संभव है अब प्रमाता का आनन्द मात्र खोज का आनन्द रह गया हो और वह उस प्रयास के सौन्दर्य की बौद्धिक कल्पना से अपने आप को संतुष्ट मानने लगे किन्तु, यह पूरे को पूरे अवधारणा जिसकी यात्रा सौन्दर्य के बिन्दु से आरम्भ हुई थी बोध के प्रयास में वर्तुलायित हो उठती है । मानवीय प्रयासों की बहुविध गति अपनी महनीयता में जिन दो आयामों को उपलब्ध होती है उनमें से एकहै -- उसके प्रयासों की असफलता की स्वीकृति तथा दूसरा है प्रयत्नशीलता ।[2]

उर्वशीकार सौन्दर्य की प्रत्याक्षानुभूति को जब बौद्धिक प्रकोष्ठों में समाहित करने का प्रयास करता है तब वह अपने अनुभव व्यापारों से निकलकर बौद्धिक तन्तु जाल में फँस जाता है । सौन्दर्य जो मूलत: बौद्धिक

× " तुम अति सुन्दर हो, पर हो कोर मात्र हो केवल,
उस किरण सदृश जो, जो घन के नीचे अभी दबी है ।"--उर्वशी, पृ.49.

2. " मैं तुम्हारे रक्त के कण में समाकर
प्रार्थना के गीत गाना चाहता हूँ " -- वही, पृ.42. तथा
" साथ चलूँगा मैं सुगन्ध से खिंचे हुए मधुकर-सा
या कि राहु जैसे विधु के पीछे-पीछे चलता है ।" वही, पृ.80.

व्यापार हो है समस्या बोध के क्षणों में हो बनता है । व्यक्ति को बौद्धिकता उसे सौन्दर्य के विधायक रूप का बोध कराती है । इसके पश्चात् उसके सन्निकर्ष से प्राप्त आनन्द तथा उसके रस चर्वणा की प्रक्रिया में बुद्धि जो प्रारम्भ में उत्तेजित अवस्था में थी, सम अवस्था में आ जाती है तथा अनुभूति का कार्य आरम्भ हो जाता है । यद्यपि दोनो व्यापार बौद्धिकता से संबद्ध हैं किन्तु बुद्धि का यह अंश जो काल और अवकाश बोध से ग्रस्त रहता है सदा उत्तेजित रहता है तथा उसकी यह उत्तेजित अवस्था ही एकान्विति को नष्ट करती रहती है जिसके कारण बोध की स्थिति अखण्डित नहीं रह पाती । इसके विपरीत जब बुद्धि अपनी सम अवस्था में होती है तो प्रमाता पदार्थ के सौन्दर्य की सन्निकर्षता के क्षणों में काल और अवकाश (Space) के बोध से परे हट जाता है तथा आनन्द की एक अखण्ड प्रक्रिया घटित होने लगती है । कुछ समय पश्चात् जब पुन: इस प्रक्रिया में व्याघात उत्पन्न होता है तो दो स्थितियाँ प्रमाता के समक्ष अविर्भूत होती हैं-- एक तो पूर्ववर्ती आनन्द -प्रक्रिया की स्मृति तथा दूसरे उसके खंडित होने का बोध । प्रमाता उन खण्डों को पुन: जोड़ने के प्रयास में उसे समझने का प्रयत्न करने लगता है । समझ के उसके प्रयास उसे प्रकृति, भाषा तथा ईश्वर जैसे प्रत्ययों के निकट ले आते हैं किन्तु इससे उसके वस्तुनिष्ठ सौन्दर्य के मूल प्रत्यय की स्थिति जैसी की तैसी रहती है । दीक्षा में उर्वशीकार के दृष्टिकोण से सौन्दर्यबोध को भाव तथा वस्तु-वाद की यही समस्या है जो उर्वशी में घोषित हुई है ।

3.72 सौन्दर्यबोध की समस्या कृति में :-

"उर्वशी" में सौन्दर्यबोध की समस्या का स्वरूप पुरुरवा के सम्बन्ध में ही देखने को मिलता है । पुरुरवा इस पृथ्वी का मानव है जिसके निकट उसके अस्तित्व से सम्बद्ध उसका काल बोध अत्यंत उदग्रता से निरूपित हुआ है । वस्तुत: व्यक्ति का यह काल बोध ही उसे -- अपने खण्डित अनुभूतियों के कारण अखण्ड की यात्रा पर

पर अग्रसर करता है ।

पुरुरवा के समक्ष सौन्दर्य सम्बन्धी एक विशेष दृष्टि है जिसकी दो प्रमुख संधारणाएँ हैं --- पहली यह कि रूपसी नारी प्रकृति का सबसे मनोहर चित्र है[×] तथा दूसरी यह कि नारी का यह सौन्दर्य एक महत् सौन्दर्य या सार्वभौम सौन्दर्य की आंशिक अभिव्यक्ति है ।[2]

व्यक्ति का बाल बोध उसे त्रास से भरता है, उसके अन्दर एक आतंक को सृष्टि करता है । जीवन का सबसे बड़ा आतंक व्यक्ति के निकट उसका मृत्यु बोध है जिसे त्राण पाने हेतु वह नानाप्रकार के कार्य किया करता है ।[3] पुरुरवा के निकट भी उसका यह आतंक बोध बड़े ही छद्म रूप में व्यक्त होता है । सौन्दर्योपभोग से होनेवाले आनन्दोपलब्धि भी जब व्यक्ति के अन्दर आतंक बोध से संत्रस्तित होते हैं तो आनन्द की धारा विखण्डित हो उठती है, उसके विलीयन का यह बोध वस्तुत: रीत जाने का बोध है । सौन्दर्य का उपभोग नाम है । उपभोग की निरन्तरता अन्ततोगत्वा व्यक्ति को रीत जाने के बोध से भर देती है जिसके कारण वह जैव स्तर पर सौन्दर्य के उपभोग से कतराने लगता है । पुरुरवा का भोगी मन अपने प्रति क्रोधातु हो उठता है । वह सोचने लगता है कि जैविक तल पर सौन्दर्य का उपभोग उसका जैविक उपभोग नहीं है ।[3] ऐसी स्थिति में वह सौन्दर्य के प्रति जिज्ञासा से भर जाता है :---

> : रक्त की उत्तप्त लहरों की परिधि के पार
> कोई अन्य लोक है,
> चाहता हूँ भेद उसका जान लूँ ।

× " रूपसी नारी प्रकृति का चित्र है सबसे मनोहर ।" --उर्वशी, पृ.38.

2. " तुम अशेष सुन्दर हो पर हो कोर मात्र ही केवल,
उस विराट छवि की जो सब के नीचे अभी दबी है।" वही, पृ.49.

3. " दृष्टि का जो पेय है वह रक्त का भोजन नहीं है
रूप का आराधना का मार्ग आलिंगन नहीं है ।" --वही, पृ.36.

" विविध सुरों में छेड़ तुम्हारी तंत्री के तारों को,
बिठा-बिठा कर विविध भाँति रंगों में रेखाओं में,
कभी उष्ण उर कम्प, कभी मानस के शीत मुकुर में
बहुत पढ़ा मैंने अनेक लोकों में तुम्हें जगाकर ।
पर इन सबसे खुलीं पूर्ण तुम ? या जो देख रहा हूँ
मायाविनि ! वह बन्द मुकुल है महासिन्धु का तट है ।" ×

× × × × ×

" तुम अनन्त सौन्दर्य, एक तन में बस जाने पर भी
निखिल सृष्टि में फैल चतुर्दिक कैसे व्याप रही हो ?"[2]

सौन्दर्य की इस अनन्तता को पूर्णत: अधिकृत करने के लिए आकुल पुरुरवा उसे अपनी बाहों में भरने के लिए आतुर है किन्तु विराट को अंकस्थ करने के लिए जिस विराटता की आवश्यकता होती है पुरुरवा उसे उपलब्ध नहीं कर सका है अस्तु अपनी विफलता से विचलित हो उसका अति-क्रमण करना चाहता है[3] । अतिक्रमण से पूर्व भी उसकी चिन्ता उपभोग को बाधित करती है :---

टूट गिरती हैं उमंगें
बाहुओं का पाश ही जाता शिथिल है ।"[4]

× × × ×

" तन से मुझको कसे हुए अपने दृढ़ आलिंगन में
मन से किन्तु विक्षण दूर तुम कहाँ चले जाते हो ?

× × × ×

अभी दृष्टि युग-युग के परिचय से उत्फुल्ल, हरी -सी,
और अभी यह भाव गोद में पड़ी हुई मैं जैसे
युवती नारी नहीं प्रार्थना की कोई कविता हूँ ।" [5]

×-2. रामधारी सिंह दिनकर, "उर्वशी", पृ.60. तथा 61.

3. " तुम अनन्त सौन्दर्य कल्पना अंक चाहे जिस भाँति भरूँ मैं
एक किरन तब भी बाहों से बाहर रह जाती है ।"--उर्वशी, पृ.71.

4-5. उर्वशी, पृ. 36 तथा 35.

पुरूरवा प्रारम्भ में अपने इस चिन्तनात्मक स्थिति को अनासक्त भोग की स्थिति बताता है :--

" नहीं इतर इच्छाओं तक ही अनासक्ति सीमित है,
उसका किंचित स्पर्श, क्षण को भी पवित्र करता है । "×

तथा बाद में इस अनासक्ति भोग के द्वारा ही सौन्दर्य के अनन्त स्रोत तक यात्रा सौन्दर्य के अतिक्रमण द्वारा करना चाहता है -----

" कवि प्रेमी एक ही तत्व है, तन की सुन्दरता से
दोनो मुग्ध, देह से दोनो बहुत दूर जाते हैं,
उस अनन्त में जो अमूर्त धागों से बाँध रहा है
सभी दृश्य सृष्टाओं को अविगत अदृश्य सत्ता से ।"

× × × ×

" और जो द्युतिमान, मनोमय जीवन झलक रहा है,
उसे प्राप्त कर सकते हैं तन के अतिक्रमण से । "2

सौन्दर्य के दैहिक तट के अतिक्रमण की प्रक्रिया में उसके निकट उसको वह मानसी कल्पना है जिसका कल्पक रूप के अन्दर उस अरूप को खोज किया करता है जिसके सन्निध्य में आनन्द की अवस्था शाश्वत एवं अखंडित होने का व्यक्ति विश्वास कार्य करता है ----

" तन का अतिक्रमण , यानी मांसल आवरण हटाकर
आँखों से देखना वस्तुओं के वास्तविक हृदय को
और श्रवण करना कानों से आहत उन भावों को
जो सुनकर बोलते नहीं, गोपन इंगित करते हैं ।

× × × × × ×

अन्तरस्थ उस दूर देश में हम सबको जाना है,
जहाँ न उठते प्रश्न न कोई शंका ही जगती है ।

× × × × ×

अतिक्रमण इसलिए कि इन जलदों का घूंघट हटाकर
देख सकूँ मधुकान्तिमान सारा सौन्दर्य तुम्हारा ।"3

×-1-2-3. रामधारी सिंह दिनकर, "उर्वशी", पृ.34,48,49.

पुरूरवा के निकट सौन्दर्यबोध उसे अब उत्तरोत्तर उच्च सोपानों द्वारा उस मंजिल की ओर ले जाता है जहाँ पर व्यक्ति स्वयं के द्वारा अपने आप को पाना चाहता है ।[×] किन्तु सौन्दर्यबोध की समस्या उस समय जटिल से जटिलतर हो जाती है जब एक ओर पुरूरवा का मानस सौन्दर्य के भौतिक स्तर का अतिक्रमण करने को प्रस्तुत है तथा दूसरी ओर सौन्दर्य के भौतिक बिम्ब[2], तथा विगत आनन्द, जो सौन्दर्य का फल है, की स्मृतियाँ[3] उसे अपने में डूबने को बाध्य कर देती हैं ---

" फिर क्षुधित कोई अतिथि आवाज देता,
फिर अधर द्रुत खोजने लगते अधर को,
कामना हूक कर त्वचा को फिर जगाती है,
रेंगने लगते सहस्रों डाँस शोणित के रुधिर में,
चेतना रस की लहर में डूब जाती है । "[4]

पुरूरवा की यह आवश्यक नियति, जब वह सौन्दर्य के प्राकृतिक उपादान --उर्वशी " से एकरस हो उठता है, उसके अतिक्रमण की मानसिकता

× " यह अतिक्रान्त वियोग नहीं आलिंगित नर-नारी का
देह धर्म से परे अन्तरात्मा तक उठ जाना है ।"--उर्वशी, पृ.49,

2. इन कलियों की लताई देखते हो?
और अधरों की हँसी यह कुन्द-सी, फूली कली -सी ?
गौर चम्पक यौवन -सी यह देह इतने पुष्पाभरण से ,
स्वर्ण की पुतली कला के स्वप्न साँचे में ढली -सी ?
यह तुम्हारे जागरण है, प्यार कर लो ।" -- उर्वशी, पृ.38.

3. " याद आता है मोदकर उर्वशी से में फूला हुआ वन,
याद आते हैं तरंगित अंग के रोमांच चमन ;
स्वर्णवर्णा अंतरे में फूल से खिलते हुए मुख,
याद आता है निशा के ज्वार में उन्माद का सुख ।
चुम्बनों के चिह्न जब पड़ते त्वचा में
फिर किसी का स्पर्श पाने को तृषा चीत्कार करती ।"--वही, पृ.38.

4. रामधारी सिंह दिनकर, "उर्वशी", पृ. 39.

में अतीन्द्रियता को सृष्टि करते है :---

" देह मृत्ति, दैहिक प्रकाश की किरणें मृत्ति नहीं हैं,
अधर नष्ट होते, मिटते हैं चुम्बन को,
यह अल्प आभा तरंग अर्पित उसके चरणों पर,
निराकार जो जाग रहा है सारे आकारों में ।
× × × ×
द्वार स्वयं खुल गया और प्राणों का निभृत निकेतन,
अकस्मात् भर गया स्वरित रंगों के कोलाहल से । "×

--- तथा वह सौन्दर्य को उसकी विराटता में प्रत्यक्षीकृत करता प्रतीत होता है ---

" एक धर्म, अनुक्षण निरंतर उस सुषमा उस लतिका
को विकीर्ण सर्वत्र, केन्द्र बन तुम में झलक रहे है ।"2

पुरुरवा इस प्रत्यक्षीकरण के लिए किंचित संदेह के साथ प्रपत्ति को स्वीकार करता है --

" सत्य, स्यात् केवल आत्मार्पण, केवल शरणागत है
उसके पद पर, जिसे प्रकृति तुम, मैं ईश्वर कहता हूँ । "3

किन्तु उनके सौन्दर्यबोध की समस्या अन्तर्धान होकर यथावत् ही रहती है । पुरुरवा प्रत्यक्षत: ऐसा प्रतीत होता है मानो सौन्दर्य के बोध से भरा हुआ है तथा उसके प्रति सम्बन्धी समस्त जिज्ञासाएँ शमित हो गई है ----

" यह रहस्यमय तथ्य कहीं त्रिभुवन में और नहीं है,
सुर-किन्नर गंधर्व लोक में अथवा मर्त्य भुवन में
तुम कैसे, तब कहो, भला उस भाँति जन्म सकते हो
जैसे जग में अन्य अपर सौन्दर्य जन्म लेते हैं । "4

× रामधारी सिंह दिनकर, "उर्वशी", पृ. 58. 58.
2. वही, पृ. 70.
3. वही, पृ. 69.
4. वही, पृ. 72.

यहाँ पर ऐसा प्रतीत होता है मानो अब पुरूरवा को जिज्ञासा मात्र सौन्दर्य -- यानी उर्वशी के जन्म के सम्बन्ध में है, किन्तु सौन्दर्य की सृष्टि में की गई जिज्ञासा अन्ततोगत्वा सौन्दर्यबोध की ही समस्या है ।

---- किन्तु उसका आकुल मन बोध की उपलब्धि के लिए छटपटाता ही रहता है --- -

" तब भी, हो, गोधूलि कहीं तो उसका पटल हटाकर
आज चाहता हूँ समग्र दर्शन मैं उस सपने का,
शेष आयु के लिए पहले निज दीपक बना चुका हूँ ।"×

सौन्दर्यबोध की समस्या को लेकर पुरूरवा का प्रस्तुत स्वीकार समस्या के समाधान को रेखांकित न करके मात्र समस्या के प्रति समर्पण को स्पष्ट करता है । समर्पण समाधान नहीं है । समर्पण की बुद्धि का उदय मार्ग हो सकता है मंजिल नहीं । सौन्दर्य बोध की समस्या का यह रूप उर्वशी के समस्या संदर्भ का अत्यंत महत्वपूर्ण अंग है । कैसे ?

विश्लेषण :--
3.3.7.3.

जीवन और जगत् के सम्बन्ध मे आज यह सर्व स्वीकृत तथ्य है कि दोनों ही गत्यात्मक हैं तथा स्थिरता की अवधारणा मात्र सापेक्षता पर आधारित है जबकि मूलत: स्थिरता की स्थिति नहीं होती । प्रमाता की प्रमा जब पदार्थ से पहली बार सन्निकर्षित होती तो उसमें उत्तेजना की तरंगें उठने लगतीं हैं । पदार्थ से हमारा तात्पर्य यहाँ पर सौन्दर्य के आलम्बन से है, प्रक्षेपित तरंगें जब चेतना की तरंगों से संयुक्त होतीं हैं तो दो सम्भावित स्थितियाँ--- आकर्षण या विकर्षण की, जन्म लेतीं हैं । विकर्षण की स्थिति में, व्यक्ति चेतना की तरंगें लगातार उत्तेजित रहतीं है किन्तु आकर्षण की स्थिति में यह उत्तेजना कुछ समय के लिए सामान्य स्थिति में बदल जाती है । सामान्यता की यह स्थिति कदाचित

× रामधारी सिंह दिनकर," उर्वशी " पृ. 74.

इतने अधिक सामान्य हो जाते है कि दोनो की तरंगें एक दूसरे में प्रविष्ट होने लगतीं हैं । इस प्रक्रिया के दौरान व्यक्ति मानस का काल और अवकाश बोध शिथिल हो जाता है तथा इस शिथिलता की स्थिति में एक अन्य प्रक्रिया= रस वर्षण या आनन्द की उपलब्धि की स्वत: स्फूर्त ढंग से प्रारम्भ हो जाती है । इसके गहरे और ~~लम्बे~~ लम्बे क्षण, समाधि के भी हो सकते है, तब पुन: व्यक्ति के काल और अवकाश बोध यानी अस्तित्व बोध से बाधित होते हैं तो उसे अपनी पूर्व पूर्णता तथा वर्तमान की रिक्तता का बोध होने लगता है । पूर्व स्थिति के क्षणों की स्मृति हो उसके स्मृति के सौन्दर्यबोध में बाधक होती है किन्तु पूर्वस्थिति के यहीं क्षण उसके सौन्दर्यबोध के होते है जो प्रमाता और पदार्थ दोनों के सन्निकर्ष से उत्पन्न होते हैं । अनुभव का बोध अनुभूति के पलों में ही होता है । व्यक्ति का अपना समस्त बोध - एक खण्ड बोध ही होता है इसलिए उसके पूर्णत्व के प्रति क्षणांत क्षण उसे रीतते प्रतीत होते हैं । इस प्रकार प्रमाता अपनी चेतना को बार-बार उस आनन्दमयी स्थिति में ले जाने का प्रयास करता है किन्तु उसका प्रत्येक प्रयास उसके बोधत्व के क्षणों में सन्देह के हाथों बौना पाता है । उर्वशीकार को यह मानवीय दृष्टि पुरुरवा के दृष्टिकोण में प्रतिफलित हुई है । बहुत संभव है उसका अचेतन दृष्टिकोण सौन्दर्यबोध के इन आत्मसंघर्षों को रेखांकित करना नहीं भी रहा हो किन्तु रचना का अनुशीलन एवं आत्मोपलब्धि की जैवतत्वीय आवश्यकता से संदर्भित आत्मानव दृष्टि इसकी उपेक्षा सृजन के क्षणों में नहीं कर सकी और उसकी अभिव्यंजना उर्वशी में सौन्दर्यबोध की समस्या के रूप में हुई है ।

विश्लेषण :-

3.3.7.4

जीवन की सार्थकता की सुखमय अनुभूति का नाम आनन्द है जिसका गोचर रूप सौन्दर्य है । व्यक्ति जीवन में उसकी सार्थकता का

सुखानुभूतियों द्वारा करता है । यह सुखानुभूति उसे उसके जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में विविध रूपों में उपलब्ध होती है । वस्तुत: जिन क्षणों में वह अपने आप को भरा-पुरा अनुभव करता है, अपने जीवन को सार्थक पाता है और सार्थकता के इन पलों में उसका सन्निकर्ष जब उसके व्यक्तित्व को उन तरंगों से होता है जो पदार्थ की तरंगों से आकर्षित होती हैं, वह आनन्द के बोध से भर जाता है । चूँकि आनन्द सौन्दर्य का [illegible] परिणाम है तथा सौन्दर्य बुद्धि का व्यापार इसलिए आनन्द भी बुद्धि का ही व्यापार है । हाँ यह बुद्धि-व्यापार कुछ इस प्रकार का अवश्य है कि इसमें बुद्धि के समक्ष उसके प्रतिगामी तत्व [illegible] यानी व्यक्ति का अस्तित्वबोध, सक्रिय नहीं रहते । अस्तित्वबोध की बौद्धिक निष्क्रियता व्यक्ति को काल और अवकाश बोध से परे ले जाती है । व्यक्ति का काल और अवकाश के परे होने का अर्थ है अपने खण्डित कालबोध को सीमा से बाहर होकर उसके शाश्वतता में जीना । शाश्वतता में जीना काल की अनन्तता की सम्पूर्णता में जीना है यही वस्तुत: अमरत्व की उपलब्धि है जो जैविक तल पर परम्परा के रूप में सन्तानोपलब्धि के रूप में पाई जाती है । व्यक्तित्व अपने चरम विकास के बिन्दु का पार्थिव काल और अवकाश की सीमा से परे उसका अतिक्रमण करके ही कर सकता है ।

जीवन मानव व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति का दूसरा नाम है तथा मानव जैविक घटक मात्र न होकर चेतना की सम्पूर्ण बौद्धिक, रागात्मक तथा ऐन्द्रिय विभूतियों से सम्पन्न व्यक्तित्व का नाम है जिसकी सार्थकता उसकी आत्मोपलब्धि है । व्यक्ति चूँकि जीवन में अपने पूर्णत्व के आत्मबोध को ऐसी स्मृति होता करता है जो कभी परिवेश के एक कोने से तो कभी दूसरे कोने से आकांक्षा के रूप में फूटा करती है । हरबार जब यह स्मृति आकांक्षा बन अंकुरित होती है तो इसका रूप अलग होता है । व्यक्ति जीवन में इस आकांक्षा के विविध रूपों को भरने का प्रयास किया करता है । प्रत्येक प्रयास की सफलता उसके अन्दर एक परितृप्ति-मेन्द को अनुभूति छोड़ जाती है जिसे वह आनन्द के रूप में जानता है ।

व्यक्ति को अमरत्व उपलब्धि, उसका व्यक्तित्व विकास अथवा फिर चेतना को सार्वभौम सौन्दर्य से एकीकृत करना वस्तुत: उसके आत्मोपलब्धि की दिशा में किए गये प्रयासों वाले वे मील के पत्थर हैं जो अलग-अलग राहों पर बने हुए गढ़े हों किन्तु उन पर अंकित तीर के निशान एक ही दिशा को संकेतित करते हैं यह बिल्कुल अलग बात है कि हम अपनी आपेक्षता में अपनी सुविधा के लिए उसे किसी भी नाम से पुकारते रहें । नामों का परिवर्तन स्थिति का परिवर्तन नहीं है वह तो हमारी मानसिकता का द्योतक है ।

*

खण्ड : तीन

विश्लेषण

३.३.४. काम की समस्या

काम शरीर और मस्तिष्क का मनोजैविक समेकन है ।

-- डॉ. उमिला कपूर ।

वस्तुत: काम हमारे अस्तित्व की सुरक्षा के लिए अनिवार्य है ।

--- निकोलस राइट ।

न जातु काम: कामानामुपभोगेन शाम्यति
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ।

--- मनुस्मृति 2/94

मनुष्य को समाधि या ध्यान का जो पहला अनुभव मिला
है मनुष्य के इतिहास में, तो वह सम्भोग के क्षणों में मिला है ।

--- आचार्य रजनीश ।

काम की समस्या

काम : ज्ञात की अज्ञात भूमिका :--

3.3.8.

इस संसार में जितना कुछ जानने के लिए है, और जितना कुछ जाना जा चुका है उसके मध्य अनुपात से अंकों को निर्धारित करना असंभव है क्योंकि उस सबसे कहीं अधिक वह है जिसके सम्बन्ध में हम मनुष्य अभी तक कुछ भी नहीं जान सका है। जानने और न जानने की यह आँख मिचौनी भी बुद्धि-व्यापार का एक अंग है। इसके साथ ही जिन विषयों पर अभी बहुत अधिक चिन्तन नहीं हुआ है उनके सम्बन्ध में सरलता से कहा जा सकता है कि हम अधिक कुछ नहीं जानते किन्तु जिन विषयों को लेकर बहुत अधिक चिन्तन हुआ है उनके विषय में हम बहुत अधिक जानते हैं -- यह मान्यता एक भ्रम को प्रश्रय देने से अधिक कुछ नहीं है। भावनाओं के क्षेत्र में भ्रमों को पाले रहना कुछ लोगों के निकट शायद जिन्दगी को खतरे से मुक्त हो सकता है किन्तु ज्ञान के क्षेत्र में ऐसे किसी भी भ्रम को पाले रहना न तो बुद्धि स्वीकार ही करती है और न ही यह उचित हो सकता है। वस्तुतः जिस विषय पर जितना अधिक चिन्तन होता है उस विषय के सम्बन्ध में वह चिन्तन हमारे अज्ञानता और विषय की गहनता का एक प्रामाणिक दस्तावेज बन जाता है। अधिक चिन्तन से विषय के सम्बन्ध में अधिक जानकारी उपलब्ध होने के साथ ही यह भी सिद्ध होता है कि हर जानकारी समझ के सामने एक चुनौती रही है जिसे अभी स्वीकार किया जाना है। किसी विषय के सम्बन्ध में प्राप्त कुछ जानकारी उस विषय की गहन सम्भावनाओं का अंत नहीं होती। कुछ समय के लिए कदाचित व्यक्ति यदि यह मानकर संतुष्ट होना चाहता है कि उसने कुछ जान लिया है तो यह उसकी एक खूबसूरत मुगालता हो सकता है, विषय को जानकारी नहीं। ज्ञान के क्षेत्र में हर जानी हुई खिड़की अज्ञान की गहन गुफाओं की ओर खुलती है जहाँ

अन्धकार में अनन्त चुनौतियाँ झिलमिलाती रहती हैं और इन चुनौतियों की झिलमिलाहट हर किरन मनुष्य की मेधा को आपने ओर आकर्षित हुई एक मौन निमंत्रण देती रहती है । काम के क्षेत्र में भी स्थिति यही रही है । ऋगवैदिक ऋषि से लेकर आधुनिक चिन्तकों तक काम चिन्तन की एक परम्परा देखी जा सकती है फिर भी क्या आज भी हम काम को समझने में सफल हो सके हैं ? यद्यपि इसे ले कर अलग-अलग अनुशासनों में अलग-अलग ढंग से विचार किया गया है । फिर यह भी जा सकता है कि हम सभी कामोत्पन्न हैं, काम मय हैं किन्तु काम के सम्बन्ध में हमारी जानकारी न के बराबर है ।

ऋगवैदिक ऋषि से पूर्व भी काम व्यक्ति चिन्तन का विषय रहा होगा किन्तु उसके सम्बन्ध में आज हमारे पास प्रामाणिक रूप से कहने के लिए कुछ नहीं है । अनुमान के सहारे बहुत कुछ उस मनस्थिति का साक्षात्कार किया जा सकता है जो सृष्टि के आरम्भ की उस अवस्था की कल्पना करती है जब एक कुछ एक चिराट शून्य रहा होगा [x] तथा उस काल में भी परमतत्व के अन्तर्मन में काम बीज रूप से उत्पन्न हुआ ।[2] तर्क कहता है कि उत्पन्न होने के पूर्व जो उत्पन्न होता है उसके सत्व [सम्भावना] रूप से स्थिति अनिवार्य है किन्तु मानवीय की अनन्तता के आगे समस्त बौद्धिक निर्मितियाँ पराभूत हो उठती हैं ।[3] इसलिए वैदिक ऋषि ने एक ओर काम चिन्तन को लेकर सृष्टिपूर्व स्थिति की अद्भुत कल्पना की तथा दूसरी ओर यह घोषणा की कि बुद्धिमान मनुष्य बुद्धि के द्वारा अपने अन्तःकरण में विचार करके

---

x " नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद गहनं गम्भीरम् ।"
ऋगवेद 10/129/1

2. कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत
सतो बन्धुमसति निरविंदन्हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा । -वही, 10/129/4.

3. " अर्थ खोजते हो जीवन का? लघु कार्य कारण को
बहुत दूर तक बिछी हुई है पीछे अंधियाले में
चलो वहाँ तक भी, अतीत गह्वर में चरण-चरणधर,

[शेष अगले पृष्ठ पर]

अविद्यमान वस्तुओं से विद्यमान वस्तुओं का उत्पत्ति स्थान, कारण, निरूपित कर लिया करते हैं । कालान्तर में देववाद में विश्वास करनेवाले मेधा ने काम का दैवीकरण करते हुए उसे उत्पन्न (अथर्ववेद) देवता की संज्ञा से अभिहित किया ।

औपनिषदिक मनीषा ने चिन्तन को इस व्यक्ति यात्रा में प्रस्थान बिन्दु के रूप में व्यक्ति को ही रखा किन्तु उसके आत्यन्तिक रूप का "काममय एवायं पुरुष:"× कहकर विराटीकरण कर दिया तथा सृष्टि को उस विराट पुरुष की कामना का प्रतिफलन माना ।[2] चिन्तन की सरणियाँ ज्यों -ज्यों सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होती गईं सम्भावना की व्यवहार्यता को मानवीकरण का बिम्ब प्राप्त होता गया इसीलिए गीता तक आते-आते यह काम स्वयं परमात्मा का रूप बन गया;[3] किन्तु चिन्तन की इस समस्त प्रक्रिया में इस अद्भुत तर्क पद्धति के साथ-साथ चलती रही है ; मनु के श्लोकों में एक ओर उसकी व्यावहारिकता का प्रतिपादन, " अकामस्य क्रिया काचित दृश्यते नेह कर्हिचित यद्यद्धि कुरुते किंचित तत्तत्कामस्य चेष्टितम्"[4] कहकर किया तथा दूसरी ओर उसकी सूक्ष्म प्रवृत्तियों के व्यवहार को अर्धनारीश्वर के प्रत्यय द्वारा को ।[5]

मात्र प्रतीक्षानिरत प्रश्न मग में मिलते जायेंगे
और अन्त में अनाख्येय जो आदि भित्ति आती है
परे हाँकने को उसमें कहीं गवाक्ष नहीं है " -- उर्वशी, पृ. 65.

× बृहदारण्यक उपनिषद, 4-4-5.

2. " सो अकामयत् अभिदध्यो वै आत्मा जायते " तैत्तरीयोपनिषद, 1-2-4. महानारायणोपनिषद में कर्त्ता का स्थान गौण तथा काम का प्रमुख माना गया है :--
" काम: कर्त्ता न अहं कर्त्ता
काम: करोति न अहं करोमि
काम: कारयिता न अहं कारयिता" 14-3.

3. " धर्माविरुद्धो भूतेषु कामो अस्मि " गीता, 7/ 11.

4. मनुस्मृति, 2/4.

5. द्विधा कृत्वात्मनोदेहमर्द्धेनपुरुषोअभवत्
अर्द्धेन नारी तस्यां विराजमसृजत्प्रभु:--- मनुस्मृति, 1/32.

काम समस्या का अविर्भाव एवं उसके विभिन्न आयाम :--

3.3.8.1

किसी कृत्रिम कृत्य के घटित होने से पूर्व उसका मानसिक स्वरूप तो होता है किन्तु तत् सम्बन्धी चिन्तन की परम्परा घटना के बाद होने वाला बुद्धि व्यापार है। काम के सम्बन्ध में भी यही बात लागू होती है। व्यक्ति के मनोजैविक तल पर उदित, जैव तल पर व्यक्त मुक्त नाम द्वारा उपलब्ध आनन्दानुभूति का अनुभव आत्म तल पर होता है किन्तु यह अनुभूति जब स्मृति में आकर बार-बार अभिव्यक्ति की आकांक्षा बनने लगती है तो मानसी व्यापार बन जाती है जिसकी संतुष्टि जैव माध्यम से संभव है। आज का आम आदमी काम के सम्बन्ध में परम्परा से प्राप्त तेरों जानकारी के दावे के बावजूद काम के सम्बन्ध प्रमुख रूप से तीन बातें ही जानता है ----

(1) काम से आनन्द प्राप्त होता है, (2) काम की भूख बार-बार लगती है तथा (3) काम से सन्तति की परम्परा आगे बढ़ती है। प्राचीनों का ज्ञान सम्भवतः यहीं तक ही सीमित था। तीसरी का बोध उन्हें बहुत बाद में हुआ। इसीलिए पितृसत्तात्मक समाज से पूर्व मातृसत्तात्मक समाज की स्थिति पाई जाती थी। जैसे-जैसे मनुष्य का ज्ञान सन्तानोत्पत्ति के सम्बन्ध में पुरुष के योगदान की ओर गया समाज का ढाँचा अपने पूर्व रूप में न रह सका। किन्तु इस बहस में हम यहाँ नहीं पड़ना चाहते कि समाज के ढाँचे पर व्यक्ति की काम समझ का क्या प्रभाव पड़ा और समाज के बदलते ढाँचे ने उसकी काम समझ को कैसे प्रभावित किया तथा आगे चल कर उसके क्या परिणाम हुए। काम के सम्बन्ध में प्राचीनों की जो दो बातें ज्ञात थीं वस्तुतः उनसे काम समस्याओं का जन्म भी प्रारम्भ हो गया। काम से उत्पन्न आनन्द व्यक्ति का काम्य हो गया तथा उस आनन्द की इच्छा कामना से संयुक्त होकर काम की संज्ञा की अधिकारिणी बनी। जहाँ तक काम से प्राप्त आनन्द की बात थी समस्या के लिए कोई स्थान न था किन्तु इस कामना का बार-बार

प्रकट होना हो कालान्तर में काम की पहली और अंतिम समस्या बनी ।[×] कामना का बार-बार उदित होना एक ओर काम की अभुक्तता का प्रमाण था तथा दूसरी ओर इस स्पर्श जन्य आनन्द के लिए[2] जब साथी की जरूरत पेश आयी और इस जरूरत के लिए कभी-कभी तो एक ही साथी की जरूरत कई दूसरे साथियों को भी एक ही वक्त में महसूस होती होगी, (जानवरों में यह प्रक्रिया आज भी देखी जा सकती है ।) तो निश्चित रूप से सहयोगी साथी को उपलब्ध करने की आधार-भूमिका निर्णायक तत्व व्यक्ति का शरीर बल ही रहा होगा । पौरुष के इस आक्रामक रूप के कारण नर की संज्ञा पुरुष हुई जो उसकी प्राकृतिक परवशता के बहुत कुछ अनुरूप रही होगी, तथा मादा की सहज ग्राहकता (पैसिवनेस) ने उसे स्त्री संज्ञा के अनुरूप पाया । हुए भी तो पुनरावृत्तियों की इस प्रक्रिया के कारण ही काम का सामाजीकरण हुआ । सामाजीकरण की इस प्रक्रिया में गम्यागम्य विचार के साथ - साथ परिवार तथा विवाह संस्थाओं का उदय हुआ[3] तथा इनके साथ ही काम सम्बन्धों के साथ नैतिकता का तादात्म्य आ जुड़ा । काम नैतिकता आज जिन अर्थों में एक सभ्य समाज में रूढ़ि प्रचलित है वह दो विपरीत ध्रुवों के समेकन का प्रयास है जो दो विपरीत मन स्थितियाँ -- एक ओर मिलन की निश्चितता तथा दूसरी ओर मिलन के अतिरिक्त काम के पापपूर्ण होने का विश्वास -- द्वारा गृहीत है ।[4] काम पर नैतिकता के इस आरोपण ने मनुष्य को सामाजिक

× कामनाएँ प्राण की विकारें हैं ।
तुम्हारे ही मिलन की एक प्रबल त्वचा में ।
फिर किसी का स्पर्श पाने की तृषा को स्वीकार करती । --उर्वशी, पृ.38.

2. सम्भोग अपने मूल में गहनतम स्पर्श का दूसरा नाम है ।- लेखक

3. " Marriage, says Westermark," is rooted in family rather than family, in marriage." Bertrand Russel, Marriage and Morals, Unwin, Paper Back, 1976, Page 35.

4. " Sexual morality as it exists in civilized societies, has been derived from two different sources on the one hand, desire for certainty as to paternity, on the other ascetic belief that sex is wicked except in so far as it is necessary for procreation: Ibid. page. 193.

समझ को विकसित भले ही किया हो किन्तु उसके उपयोग पर इतने प्रतिबन्ध लगा दिए कि सम्भोग को यात्रा भुक्तता के मार्ग से अभुक्तता की ओर बढ़ चली नैतिकता के साथ जुड़े हुए पाप और पवित्रता के प्रत्ययों ने इस अभुक्तता को प्रश्न मानव मन में और गहरे उतार दिया जिसका परिणाम कालान्तर में यह निकला कि सभी प्रकार के काम सम्बन्धों -- हस्त मैथुन से लेकर नारी सम्भोग तक -- में जीता आज का व्यक्ति एक नितान्त अपरिचित अपराध बोध से भरा रहता है । जब उसका मन धरती पर फैली हुई नयी-नयी हरियालियों पर मुँह मारने के लिए ललचाता है, वर्जनाएँ उसके मुझे कस देती हैं । फूलों का सौन्दर्य उसे अपने ओर खींचता है लेकिन एक फल के साथ उसके बालोपन को खेलते हुए जीना उसके निषिद्ध बन जाता है ।

आनन्दानुभूति और काम की अभुक्तता का अपने आप में घनिष्ठ सम्बन्ध है । आनन्द की अनुभूति क्षण स्मृति में रच-बस जाते हैं तो वह बार-बार उभरना चाहते हैं । अनुभव एक सातत्य है, एक अखण्डता है जो जब घट रहा होता है उस समय व्यक्ति को अपने होने का बोध तक उसके निकट नहीं होता जब कि अनुभूति अनुभवों से चिपकता है । व्यक्ति के अस्तित्व का बोध उसका खण्ड बोध है, जो अनुभव के क्षणों में अखण्ड हो जाता है यानी व्यक्ति काल शाश्वतता से एकमेक हो जाता है इसीलिए उसे निकट कालबोध, अनुभव के क्षणों में चुक जाता है, जो कुछ को काल का अतिक्रमण लगा करता है जा सकता है । यदि यह क्षण में शाश्वत हो उठे तो, यह खण्डबोध आनन्द की अखण्डता बन बोधगम्य करता है जो खण्डित कर देता है जिसके कारण उसे उसके बोध के प्रत्येक परिधि निष्प्रभ होती प्रतीत होती है । अखण्डता में जीने के प्रयास में जब उसके भीतर में निकल पड़ता है जिसके परिणाम स्वरूप उसके वे क्षण जो पूर्णता के हो सकते थे बिल्कुल खाली रह जाते हैं तथा काम का आनन्द भी खण्डित हो जाता है यानी काम अभुक्त रह जाता है ।

काम का भोग जैव तल पर ही संभव है । मानसिक काम संतुष्टि की कल्पना हो सकती है संतुष्टि नहीं क्योंकि काम का समस्त चिंतन जैव गुणों द्वारा किया हुआ चिन्तन है । जैव तल पर कामांगों की अपनी क्षमता

या अक्षमता इस संतुष्टि में साधक या बाधक बना करती है । पुरुषत्व ही काम के उपभोग में सक्षम होता है । पुरुषत्वहीनता कामाग्नि को उद्दीप्त तो कर सकती है किन्तु शमित नहीं । इस अग्नि का शमन भोग की पूर्णता के क्षणों में ही संभव है ।

संतान की परम्परा वैयक्तिक पर व्यक्ति द्वारा अमरत्व की उपलब्धि है । यानी संतान काम का फल है । फल के अभाव में फूल की सार्थकता संदिग्ध हो उठती है इसलिये संतान का अभाव भी काम की अभुक्तता का ही सूचक है ।

संक्षेपत: हमने गत पृष्ठों में काम की समस्या यानी काम की अभुक्तता के उन आयामों को वैश्विक में उद्घाटित करने का प्रयास किया जिनके कारण काम की समस्या का प्रादुर्भाव होता है । काम समस्या के ये आयाम हैं ---

(1) दैहिक आयाम -- पुरुषत्व
(2) मानसिक आयाम -- काम नैतिकता
(3) मानसिक आयाम -- अपराध बोध
(4) दार्शनिक आयाम -- बोधोत्तिक्रमण तथा
(5) व्यावहारिक आयाम -- सन्तानोपलब्धि ।

---000---

उर्वशी में काम की समस्या का स्वरूप

3.3.8.2.

उर्वशी में काम समस्या के स्वरूप निर्धारण में हम यहाँ पर दोनों ही विधियों --- परोक्ष तथा प्रत्यक्ष -- का अनुसरण करेंगे । सबसे पहले परोक्ष विधि ।

उर्वशी में काम समस्या का परोक्ष स्वरूप :--

3.3.8.2.1

काम को अभुक्तता ही काम चिन्तन को जन्मती है । व्यावहारिक जीवन में काम कलित तो हो जाता है किन्तु मुक्त नहीं । कला की समस्त सर्जनात्मकता इसी अभुक्तता का प्रतिफलन है× तथा काव्य सृजन की प्रक्रिया बहुत ही गूढ़ जटिल और रहस्यपूर्ण है । रहस्यपूर्ण इसलिए कि इस काम की अभुक्तता की इतनी परतें काव्य में दिखती रहती हैं कि उनका उन्मोचन कदाचित दूभर हो जाता है । काव्यितर परतों को उघाड़ना हमारा यहाँ उद्देश्य नहीं, हमारा उद्देश्य तो मात्र इतना भेद कर देना है कि काम की अभुक्तता वस्तुतः जीवन की अनिवार्यता है, विकार के लिये हर कलाकार को न्यूनाधिक रूप में आत्मसात् करना पड़ता है क्योंकि वह अनृत है जिसका निर्माण जीवन का शिव शिव सिता ही कर नहीं सकता । यह बिल्कुल अलग बात है कि" कौन कवि युग अथवा जीवन के कितने विकारों को स्वान्त में लेकर शान्त कर देगा, यह उसके कद पर निर्भर करेगा होगा - - - - - यह प्रक्रिया कवि के अन्तर में ही होती है, अपनी कला के माध्यम से ही होती है, चाहे उसके विकार एक दम निजी हों चाहे युगव्यापी । "[2]

उर्वशीकार स्वयं विश्वास दे रहा है । उसका समस्त काव्य क्रोध और काम के दो ध्रुवों पर टिका हुआ है जबकि मनोवैज्ञानिक दृष्टि काम और

× " जीवन में सूक्ष्म आनन्द और निरुद्देश्य सुख के जितने भी सोते हैं कहीं न कहीं काम के पर्वत से फूटते हैं ।" --- उर्वशी, भूमिका, पृ. "च".

2. डॉ. हरिवंश राय बच्चन, नीड़का निर्माण फिर, राजपाल एण्डसन्ज, दिल्ली, 1973, पृ. 37.

क्रोध के भिन्न रूपों को मूलत: एक मानते है ।* तात्पर्य यह उसके गर्जन -तर्जन के सभी स्वर कला दृष्टि के अतिरिक्त भी काम तंत्रियों से ही निश्रत हैं ।

काम चिन्तन वस्तुत: काम की अभुक्तता का ही परिणाम है । उर्वशीकार की दृष्टि उर्वशी के अतिरिक्त भी काम चिन्तन में प्रवृत्त रही है । उसकी सामाजिकता न उसे एकाकारी विवाहित जीवन की श्रृंखलाओं में आबद्ध रखा यह एक तथ्य है किन्तु विवाहित जीवन के विषाद उसे यह सोचने पर विवश अवश्य किया कि " स्वादमय विवाहित जीवन संभव नहीं । "2

व्यक्ति का अस्तित्व बोध, वस्तुत: काल की उस धारा का बोध है जो जब बोध गम्य बनता है तो अपनी अखण्डता खो देती है । कहना अयुक्त तो यह होगा कि व्यक्ति बोध की कठिनाई के कारण अथवा, उसकी अपनी अस्तित्व सीमा उस अखंड समूची धारा को अखण्ड रूप से ग्रहण न करके उसे टुकड़ों में ही उपलब्ध कर पाती है । धारा की शाश्वतता का प्रभाव किसी भी टुकड़े को स्थिर नहीं रहने देता अस्तु उसे हर व्यक्ति चेतना द्वारा गृहीत हर प्रत्येक टुकड़ा निश्शेष होता प्रतीत होता है । निश्शेष होजाने का यह भाव उसे आतंकित कर देता है । मृत्यु से अधिक मृत्यु का भय भयानक होता है । वह सभी कुछ है उसे अनन्तकाल तक भोगना चाहता है किन्तु उसे लगता है कि अनन्तकाल तक यह सब रहनेवाला नहीं है फलत: वह उन साधनों और विधियों की खोज में भटकने लगता है जिनके द्वारा वह सुखों की अनन्तता को अपने अस्तित्व द्वारा ही उपलब्ध कर ले । भूल यह हो जाती है कि वह अनन्तता और खण्ड का विचार भी उसके बोध का ही अंग है और बुद्धि का अपना ढंग ही तोड़ कर देखना है । शाश्वतता की धारा से एकमएक हो जाने के क्षण में तो व्यक्ति अस्तित्व को भी अपने होने के बोध से मुक्त हो जाना होगा । अपने होने के बोध से मुक्त होजाने का बोध अरे ही उस अनन्त धारा में लीन हो जाना है । किन्तु पुरुरवा उर्वशी के सौन्दर्य से अभीभूत होते हुए भी उसके निश्शेष हो जाने के भय से आक्रान्त है इसी कारण उसका काम अभुक्त है वह काम के उपभोग के लिए सृजन को शाश्वतता के मार्ग को पाना चाहता है :---

" दृष्टि को जो पेय है, वह रक्त का भोजन नहीं है ।
रूप को आराधना का मार्ग आलिंगन नहीं है । "×

× × × × × ×

" पन्थ हो सौन्दर्य की आराधना का व्योम में यदि
शून्य को उस रेख को पहचान लूँ । "2

पुरूरवा के इस कथन से उसके काम की अभुक्तता ही सिद्ध होती है । सिद्ध इससे यह भी होता है कि यौवन नया नहीं है । सौन्दर्य को उसकी शाश्वतता में भोगने के आकांक्षी मन ने सौन्दर्य की समस्त जीवन्तता को अपने अन्दर उतार कर जब अनंग शिला खण्ड को तराशना शुरू किया होगा तो रूप की सारी राशि उस शिला में समा गई होगी ; या फिर जब अभुक्त मन ने भोग के लिए सृजन की परम्परा की अक्षुण्णता की उपेक्षना आरम्भ किया होगा तो कवि को खेलने के लिए लावण्यमयी का अविर्भाव हुआ उसको सार्थक संज्ञा उर्वशी ही दी जा सकती है । आराधना का यह भी एक मार्ग है जिसे कलाकार का सृष्टा मन सदा से अपनाता आया है किन्तु कठिनाई यह रही है कि जब सृजन के इन क्षणों में सृष्टा के अचेतन की अभुक्तता ही उभरती है तो अनायास ही पूरे रचना फलक पर किसी क्षुधित अतिथि के व्याकुल अधर-पुट अधरों की खोज में फैल जाते रहे हैं[3] और त्वचा की प्रत्येक कोशिका किसी के स्पर्श के लिए चीत्कार करती रही है ।[4] वस्तुत: उर्वशी में व्याप्त काम चिन्तन उर्वशीकार की काम अभुक्तता का परिणाम है जो आत्मोपलब्धि या व्यक्तित्व के चरम विकास में मे मार्ग में सौन्दर्य संवलित भोग की समस्या से ग्रस्त हो मुक्तिका खोजा रहा है ।

× रामधारी सिंह दिनकर, उर्वशी, पृ. 36.
2. वही, पृ. 37.
3. " फिर क्षुधित कोई अतिथि आवास देता,
फिर अधर पुट खोजने लगते अधर को,
कामना रचकर त्वचा को फिर जगाती है,
रेंगने लगते सहस्रों साँप सोने के रुधिर में
चेतना रस की लहर में डूब जाती है ।" --उर्वशी, पृ. 39.
4. " फिर किसी का स्पर्श पाने को तृषा चीत्कार करती"
--- उर्वशी, पृ. 38.

उर्वशी में काम समस्या का मूल्यांकन :--

3.8.8.2.2.

काम की अभुक्तता ही काम की समस्या है । इस अभुक्तता के विभिन्न आयाम हो सकते हैं यहाँ पर हम उर्वशी में उपलब्ध काम अभुक्तता के विभिन्न आयामों को रेखांकित करने का प्रयास करेंगे ।

(1) दैविक आयाम :--

3.8.8.2.2.1

उपभोग की स्थूलाभिव्यक्ति शैवतल पर ही संभव है । आत्मगत सार्वभौम सौन्दर्य जिसका चिन्तित रूप आनन्द होता है, मानसिक संवेगों से संचलित होकर अन्तर्लोकगत्या शैवतल पर ही व्यक्त होता है । शैवतल के अभाव में और मानस दोनों ही कल्पनारोपित मूल्य हैं क्योंकि कल्पना के लिए भी आधार अपेक्षित होता है इसलिए शैवतल मानस एवं आत्म तत्वों के लिए आधार भूमि प्रस्तुत करता है । व्यक्ति मानस के अवचेतन स्तर पर उभरनेवाली प्रत्येक आकांक्षा अपनी पूर्ति चाहती है यह पूर्ति विभिन्न होती है । इसमें एक ओर तो किसी सुदूर संतुष्टि का भेद होता है तथा दूसरे ओर उस संतुष्टि को पुनर्प्राप्ति का आदेश भी । सौन्दर्य की चाहना उपभोगिता । यह उपभोग ही काम है जिसका पूर्ण उपभोग शैवतल पर ही संभव है । कामोपभोग के सम्बन्ध में कामांगों की क्षमता तथा भोक्ता की मानसिक स्थिति दोनों ही महत्वपूर्ण तत्व हैं । इसलिए मुख्यतः दो कारणों से दैहिक अभुक्तता उभरती है एक ओर तुंगत्वहीनता के रूप में जाने जाते हैं वहीं नारी दृष्टिकोण से उसकी मानसिक अक्षमता - शीतलता (frigidity) के रूप में पाई जाती है । तुंगत्वहीनता के सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि यह न तो केवल मानसिक कारण है और न ही केवल शारीरिक । वस्तुतः यह शारीरिक तथा मानसिक दोनों ही स्थितियों का मिश्रण होती है । उर्वशी में काम की अभुक्तता के इन दोनों कारणों के संकेत मिलते हैं ।

(क) तुंगत्वहीनता :--

3.8.8.2.2.1.1.

उर्वशी में देवता तुंगत्वहीनता के प्रबलतम प्रतीक है :--

देखिए :--

" हम भी कितने विवश ! गन्ध पीकर रह जाते हैं,
स्वाद व्यंजनों का न कभी रसना से ले पाते हैं ।
हो जाते हैं तृप्त पान कर स्वर माधुरी श्रवण से
रूप भोगते हैं मन से या तृष्णा भरे नयन से ।
पर, जब कोई स्वाद जीभ को देता उमड़ आनंद है,
किसी अनिर्वचनीय क्षुधा में लोचन रहे जाता है
उस पीड़ा से छूट सकने को राह नहीं मिलती है
उसको तो देवता चाहिए, छुआ कर न कभी खिलती है ।"×

× × × × ×

" गन्धों को देवता से आगे देह न क्या लेते हैं । "2

× × × × ×

" . . . . . देवता गन्धों के घेरे से
निकल नहीं उड़ते हैं, या उन्मन से रहते हैं । "3

× × × × × ×

" देवता शीतल मनुज अंगार है । "4

× × × ×

" वे रक्तानन, शुचि, सौम्य पुण्य अम्बरपुर के शीतल सुन्दर । "5

× × × × × × ×

" रश्मित वह्नि ये शीतप्राण मरीचि सौन्दर्य नयन से ।
घ्राण मात्र लेते, न कुसुम का अंग कभी छूते हैं । "6

× × × × ×

" सहे मुक्त प्रहरण अनंग का, वज्र कहाँ वह तन में ?
विबुध पंचशर के बाणों को मानस पर लेते हैं ।
वश में नहीं सुरों के प्रशमन सहज स्वर्ग पावक का,

×-2. रामधारी सिंह उर्वशी, पृ. 6.
3. वही, पृ. 35.
4. वही, पृ. 41.
5-6. वही, पृ. 43 तथा 52.

" ये भोगते पवित्र भोग औरों में वह्नि जगाकर । "[x]

देवों को यह पुंसत्वहीनता ही अप्सराओं को जैविक उपभोग के लिए पृथ्वी की ओर आकृष्ट करती है ।

(ख) शीतलता (Frigidity) :-

3.3.8.2.2.1.2.

पुरुष की पुंसत्वहीनता के समान स्त्री में शीतलता की स्थिति पायी जाती है जिसके कारण वह सम्भोग में या तो रत्यानन्द का अनुभव ही नहीं करती अथवा असंतुष्ट रहती है ।[2] लेबर्ड ने इसे नारी में कामेच्छा का अवरोध माना है जिसके कारण स्त्री प्राय: असंतुष्ट एवं कुण्ठित रहती है ।[3] ई. ग्रोफेनबर्ग इसे एक स्त्री द्वारा एक पुरुष विशेष के सम्बन्ध में प्रेमित करते हैं यानी एक ही स्त्री एक पुरुष, जो उसका पति भी हो सकता है, के साथ सम्भोग के क्षणों में नितान्त ठण्डी हो सकती है जबकि दूसरे पुरुष के साथ सम्भोग करते समय कामक्रीड़ा में पूरी तरह अनुरक्त रह कर आनन्द प्राप्त करती है । कुछ भी हो निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है शीतलता नारी में रत्यानन्द का अभाव होता है जिसके कारण शारीरिक स्वास्थ्य कम तथा मनोजात अधिक होते हैं । नारी की कामजन्य घृणा तथा असंतोष की अभिव्यक्ति उर्वशी में औशीनरी के माध्यमसे होती है । औशीनरी का काम तुलनात्मक दृष्टि से लगभग शीतलता के स्तर पर ही है । काम के उद्वेलित क्षणों में वह आपेक्षित उत्सुकता का परिचय नहीं देती किन्तु बाद में विगत क्षणों की अपूर्णता के लिए पुरुष जाति को दोषी ठहराकर अपने कुंठा का परिचय देती है ---

" उस आतुरता से न प्यार आता नारी के मन में
रखा बाहों में समेटकर सागर को बन्धन में

---

x उर्वशी, पृ 96.

2. Frigidity refers broadly to disturbances in feminine sexuality ranging from lake of orgasm and dissatisfaction during coitus to a relative actions to desire for hetro sexual relations, or even an inability to participate in them at all. Dr. Daniel. G. Brown, Female orgasm and sexual inadequacy. An Analysis to Human sexual Response ed-Kelly and Broadcher. page 133.

3. देखिए - Seward. Gorgone M. Sex & Social order. Newyork. Mc Graw Hills 1946.

" किन्तु बन्ध को तोड़नेवाला नारी में तब जगता है,
तब तक नर का प्रेम शिथिल, प्रशमित होने लगता है ।
पुरुष चूमता हमें अर्ध निद्रा में हमको पाकर,
पर हो जाता विमुख प्रेम के जग में हमें जगाकर । "×

काम केलि में प्राक्तोदा और स्त्री के रत्योत्तेजन को लेकर कहा जासकता है कि औशीनरी की यह स्थिति नारी की सहज स्थिति है, शीतलता नहीं ; किन्तु ऐसी स्थिति में उसे अपने अधिकार सम्बन्धी मनोविज्ञान कारण के सिर पहले यह कह कर कि--

" पुरु को दिया नहीं, ऐसा तो पास न कोई धन है "2 बाद में यह कहने की आवश्यकता न थी कि ---

" मैं इसे दे सकी न आत्मसुख अब आधार पुरुष को
जिसको उन्हें प्यार चुधा, उतनी आवश्यकता थी । "3

इस सम्बन्ध में दो बातें ध्यातव्य हैं -- पहली यह कि औशीनरी पुरुरवा की पत्नी होने के साथ ही महारानी है जिसके कारण वह अपने महारानी पद की गरिमा के कारण इस ओर प्रारम्भिक शीतलता का परिचय देती है तथा दूसरी ओर इसी शीतलता के द्वारा उन्हें पूरे तरह अधिकृत करने का भी प्रयास करती है ; दूसरी बात यह कि औशीनरी के जीवन में काम सम्बन्धों को लेकर एक अन्य समस्या उसके सामने भी है जिसके कारण उसके मन में रति संबंधी उथल-पुथल का उठना नितान्त स्वाभाविक है । वस्तुत: यह मानोसेत उथल-पुथल ही सब कामोपभोग के क्षणों में सक्रिय हो उठते हैं तो नारी कामकेलि में पूरे तरह प्रवृत्त नहीं हो पाती और इस प्रकार उसका तथा उसके साथी दोनों का काम अतृप्त रह जाता है । इसके साथ ही औशीनरी अपने नारीत्व पर एक आदर्श ओढ़े रहती है जिसके कारण उसका काम नितान्त शीतल[4] स्निग्ध बन कर प्रार्थना भवन में पूजा-अर्चना की वस्तु तो हो सकता है

× रामधारी सिंह दिनकर, उर्वशी, पृ. 24.
2. वही, पृ. 26.
3. वही, पृ. 126.
4. " जहाँ प्रणय नीरव, अकम्प, कामना स्निग्ध शीतल है ।"
-- उर्वशी, पृ. 123.

किन्तु काम की उत्तप्त लहरों का भोग नहीं जब कि नर-नारी सम्बन्ध की मानस अभिव्यक्ति, प्रेम, में, एक ज्वाला का प्रादुर्भाव होता है जो देह संज्ञा से परे की वस्तु है तथा जिसकी उपलब्धि ही काम को भुक्तता है। जब तक इसकी उपलब्धि नहीं होती काम अभुक्त ही रहता है और यह अभुक्तता ही कालान्तर में काम की समस्या बन जाती है।

२ सामाजिक आयाम :--

3.3-B.2.2.2.

काम समस्या के सामाजिक आयाम का आधार बिन्दु वह मानवी चिन्तन है जो नर-नारी संबंधों को लेकर पुरुष दृष्टिकोण से सामन्ती परम्परा को टूटे अपने आप को देखता रहा है, तथा नारी के मन में सहजता के विरुद्ध समर्पण और एक रतोत्सव के सार्थक तथा अविछिन्न और अक्षत योनि की पवित्रता के मूल्यों को सृष्टि करते हुए अर्हताओं का निर्माण तथा पवित्र रस्मों द्वारा उनकी रक्षा करता रहा है।[2] इस प्रकार निर्धारित सामाजिक मूल्य भी आनी परम्परा में देर तक स्थिर नहीं रहते[3] क्योंकि समाज के कार्यों का निर्धारण उसकी सम्बन्धित आवश्यकताओं तथा तात्कालिक सांस्कृतिक एवं भौगोलिक परिस्थितियों द्वारा होता है।[4]

उर्वशी में काम समस्या के सामाजिक आयाम का एक छोर नारी के उस स्वच्छंद मन में निहित है जो प्रेम को अपना क्रीड़ा मानता है[5] तथा

× " एक बात पर, किन्तु राजा का रहता अंध विश्वास है ?
नारी क्रीड़ा कौशल प्रेम का करते ही रहते हैं,
नित्य नये सुन्दरताओं पर मरते ही रहते हैं।"--उर्वशी, पृ.15.

2. "Man has always surrounded sex with taboos and carefully guarded change in sex statues with sacred rites. - Havlock Ellis, Psychology of sex, page 521.

3. A transferrance of value is Constantly taking place, what was once the very standard of morality, becomes immoral, what was once without question immoral becomes new standard. Ibid. p. 373.

4. The actions of the community are determined by the vital needs of a community under the special circumstances of the culture time and land. Ibid - p. 369.

5. "प्रेम मानवी की निधि है, अनी तो वह क्रीड़ा है" --उर्वशी, पृ.9.

बहुआयामिता को जीवन की सहजता के रूप में स्वीकार करता है, तथा दूसरा छोर एकाधारिता के विश्वास से जुड़ा हुआ मौन समर्पण को अपना आदर्श मानता है। इन दो विभिन्न मूल्यों का संकट उस समय उत्पन्न होता है जब दोनों ही मानक अपनी मूल्यवत्ता खोते दृष्टिगत होते हैं। एक ओर एकाधारिता के विश्वास में न्यस्त औशीनरी विलाप-सा करते हुए कहती है :--

" गृहणी का तो हार हाँक सम्पूर्ण समर्पण करके,
जयन्ती रखती चली अप्सरा लोक हृदय में भरके।
पर क्या जाने लोक जगाना नर में गृहणी नारी ?
छोड़ गयी अप्सरा उसे में रानी बन कर हारे। "[1]

× × × ×

" छोड़ गयीं ये जो अप्सरियाँ पर पल-पल जलते थे
उन अंचलों में छुपे धूप में, मेघों भरे गगन में।
सारे में, जिधरकि मेरे छोड़ा चिह्न दृगों में
छुपे धूप को पूषा, किरण लोहाक्ष को गढ़ते थे।"[2]

× × × ×

" हार गये हैं आज ! अनुत्तम, आर्द्र हृदि लोचन को
प्राणों के प्रार्थना भवन में तेरे ध्यान लगाकर। "[3]

-- तथा दूसरे ओर अनासक्तता का जीवन जीनेवाली अप्सरा अपने लोचन को नियति शाप से गुंजित मानती है --

" हम तुम नहीं, धिक्कारें है मात्र अभुक्त मदन को।
हाय पुरुरवे ! नियति शाप से गुंजित अप्सराओं को
कोई पुरे तो नहीं विषम वेदना समझ पाता है। "[4]

इसप्रकार हम देखते हैं कि नैतिकता से बद्ध तथा नैतिकता से मुक्त दोनों प्रकार की काम सामाजिकता अन्ततः अभुक्तता की स्थिति से व्यक्ति

× रामधारी सिंह दिनकर, उर्वशी, पृ. 25.
2-3. वही, पृ. 125-126.
4. वही, पृ. 96.

को उबारने में सक्षम नहीं हो पाती जिसके फलस्वरूप काम को समस्या का निर्माण होता है ।

(3) मानसिक आयाम :--

3.3.8.2.3.

आत्मा को वाग्वरेण्यता को अभिव्यक्ति शरीर के माध्यम से हो संभव है । इसप्रकार आत्मा एक छोर है तथा शरीर दूसरा छोर किन्तु इन दोनों के मध्य मन सेतु की भाँति है ।[x] आत्मा की संवृत्तियाँ जब भी शरीर के तल पर उभरती हैं उनके मध्य मन की स्थिति अनिवार्य रूप से शामिल होती है यानी शरीर के तल पर किए गए प्रत्येक कार्य की अनुभूति जब आत्म तत्व तक पहुँचती है तो मन के द्वारा ही पहुँचती है । आत्मा और शरीर के मध्य से मन को पृथक किया ही नहीं जा सकता । शरीर के तल पर घटनेवाली घटना के क्षणों में मन अचेत भी हो जाता है किन्तु अनुपस्थित नहीं । अचेतनता अनुपस्थिति नहीं है । इसके साथ ही मन का स्वभाव तो अचेतनावस्था में भी सक्रिय रहने का होता है जिसका प्रमाण यह अनुभूति है कि अचेतन अवस्था में प्रतिबाधित किये गए कर्म की अनुभूति आत्मा भी कर लेती है । मन के अभाव में यह अनुभूति भी संभव नहीं । इसलिए मन की स्थिति अपरिहार्य है । स्मृति मन की एक विशेषता है । मन जो कुछ भी अनुभव करता है उसको ये स्मृति भी संजोलिया करता है । स्मृति अपनी अनुकूलताओं की पुनरावृत्ति चाहती है जिसके कारण एक ही प्रकार के कृत्य जीवन में व्यक्ति बार-बार करता है । मन की यह विशेषता, विशेषकर कामजन्य आनन्दानुभूतियों की, अनुकूल अनुभूतियों के अभाव में शरीर को एक आकुलता से भर देती है जिसके परिणामस्वरूप व्यक्ति चिन्तन के सागर डूबने - उतराने लगता है ।[2] इसप्रकार आत्मा के प्रसार और उपभोग की जो कामना शरीर तल पर काम बन कर पहली-पहली बार उभरती है वह मानसिक काम का रूप लेकर बार-बार उभरने लगती है जिसके परिणाम

x आचार्य रजनीश, गूँगे केरी सरकरा, ओ रजनीश आश्रम, पूना, 1975, पृ. 258.

2. जवानी जवानी में नहीं सताती बुढ़ापे में भी सताती है, जवानी में होने के कारण सताती है, बुढ़ापे में न होने के कारण सताती है । रह-रह के

स्वस्थ शरीर की आवश्यकताओं के अतिरिक्त चिन्तन के क्षेत्र में कामोपभोग की आवश्यकता रचन-पचने लगती है ।

काम की अभुक्तता का यह मानसिक आयाम एक ओर जब रक्त में उफान उठने लगता है तो इस सामाजिक शृंखला की समस्त कड़ियाँ कड़-कड़ा कर टूटने लगती हैं तथा व्यक्ति येन केन प्रकारेण समस्त नैतिक मान्यताओं --जिनका निर्माण भी काम काम के सामाजीकरण की अवस्था में व्यक्ति मानस की रचना होती है, तथा जो व्यक्ति को अपनी रचना होते हुए भी जब उसका अनजाना सा विश्वास बन जाती है तो उसके बड़े हो जाती है- यानी व्यक्ति अपनी नैतिकताओं का आप शिकार हो जाता है, उसकी अपनी मान्यताएँ उससे बड़ी हो जाती हैं ; जो मारने के लिए झपटा उठता है ।×

पुरुरवा का काम, एक ओर उस तिलतिले विश्वास से ग्रस्त है जो परम्परा से काम को अशुचि मानता आया है[2] तथा जिसे अनासक्ति के द्वारा परिष्कृत किया जा सकता है :--

" नहीं इतर प्राणों तक ही अनासक्ति सीमित है,
उसका विचित्र स्पर्श तृण को भी पवित्र करता है ।"[3]

वस्तुत: इसे मानसिकता के कारण अशुचि है । उसकी मानसिकता जो बहुत कुछ परम्परा की देन है, उसे चिन्तन की ओर प्रेरित करती है, और यह चिन्तन भी इसलिए कि मन की उलझी दूरी अन्तरंगता में सोया जा सके ।[4]

मुक्त पु. का खेल मन और से यहाँ लाता है । "
आचार्य रजनीश, गीता दर्शन परंपरा, पृ. 75.

× पर के फैले हुए पाश से पुरुष नहीं डरता है,
वह अज्ञात हो बाण फेंकता अपने लक्ष्य के बल से ।
पर फँस जाता स्वयं घोर अपने निर्मित उलझन में
निकल भागने को उसको तब राह नहीं मिलती है । "--उर्वशी, पृ. 127.

2. " बाद में चल कर धार्मिक, सांस्कृतिक प्रभावों ने लोगों में यह विश्वास उत्पन्न किया कि सेक्स केवल सन्तानोत्पत्ति के लिए होता है और यह कि वैयक्तिक तुष्टि के लिए सेक्स भोग पाप है ।"--डॉ. पूर्मिला मेहर, विवाह सेक्स और प्रेम, पृ. 292. देखिये, बर्टेन्ड रसेल, विवाह और नैतिकता, पृ. 25.

3. रामधारी सिंह दिनकर, उर्वशी, पृ. 34.

" इन प्रफुल्लित प्राण -पुष्पों में मुझे शाश्वत शरण दो,
गन्ध के इस लोक से बाहर न जाना चाहता हूँ ।
मै तुम्हारे रक्त के कण में समाकर
प्रार्थना के गीत गाना चाहता हूँ । "[1]

पुरुरवा की मानसिक कठिनाई यह है कि वह प्राण-पुष्पों में शाश्वत शरण का अभिलाषी है जिसके लिए वह अपने समूचे बोध के साथ प्रार्थना के गीत[2] गाना चाहता है । काम को भोगने के लिए ऐन्द्रिक स्तर पर पूर्ण अनासक्तता आकांक्षित होती है न कि खण्डित चेतना जो जीवन की एकाग्रता को छिन्न-भिन्न कर देती है ।

वस्तुत: काम की अभुक्तता का कारण मनुष्य का वह मानस है जो अपने चारों ओर विचारों का संसार निर्मित किया करता है और फिर अपने इस स्वनिर्मित संसार के कणों से कम्पित रहता है । वह अपने चारों ओर मकड़े के जाले के समान विचारों का ताना बाना बुना करता है जिसके कारण उसकी सहजता नष्ट हो जाती है :--

" वैचारिक सिलना सिलाया रहता दुश्चिन्ताओं से,
अपना चित्त नहीं रहता है सहज मनुष्य प्रकृति का । "[3]

मानव की विचार सरणियाँ उसे कामोपभोग से दूर करे उसके काम को अभुक्त रखने के लिए कारण बनती का अचेतन मानस एक ओर काम के पूर्ण उपभोग के लिए उसे उत्प्रेरित करता है तथा दूसरी ओर

---

1. रामधारी सिंह दिनकर, उर्वशी, पृ. 42.

2. उर्वशी पहले की प्रार्थना की कविता की उस निष्क्रियता का प्रतीक बना हुआ है जिसके कारण काम अभुक्त रह जाता है :-
" और अभी वह भाव, गोद में पड़े हुये मै जैसे
युवती नारी नहीं, प्रार्थना की कोई कविता हूँ ।"-उर्वशी, पृ. 35.

3. रामधारी सिंह दिनकर. उर्वशी, पृ. 66.

उसका अचेतन मानस विगत सुखों की स्मृतियों को संजोए बार-बार उन्हें प्राप्त करने के लिए काम-सामाजीकरण उस लक्ष्मण-रेखा का उल्लंघन किया करता है जिसे नैतिकता के नाम से जाना जाता है तथा सामूहिक देश-कालिक व्यवस्था जिसका उल्लंघन अपराध मानती है :---

" मन लंबे को आकुल काम से लभ्य अनेक सुखों पर,
चिन्तन में जो उन्हीं सुखों की स्मृति ढोये फिरता है,
विकल-वपु, फिर-फिर रस-मधु में अवगाहन करने को
जो शतकृत्वः नयन जो पलकों से, ओठ से, बाहु से भी,
सभी काम से आलिंगन से गया जन्म जैसे हैं,
सभी काम दुर्दांत वासना का जिसमें चारा बन जाता है।"[1]

उर्वशी को प्रेमिका रूप काम की अभूक्तता के इस मानसिक आयाम का निवारण अपनी सौन्दर्या से करती है इसी स्थिति को पुरुरवा भोगता है। उर्वशी के सुख का रूप उसके काम की अभूक्तता नहीं है। उसका पुरुरवा के साथ कोई शारीरिक संयोग भी उसके अभूक्तता को दूर नहीं कर पाता। वस्तुतः ऐसे ही उसे काम की अधिक होने की संभावना यथार्थ रूपों में प्रस्तुत होती है वह स्वयं अपने स्मृति की संभावनाओं द्वारा काम की अभूक्तता के उस मानसिक आयाम में पुरुरवा के सभी स्मृतियाँ अतीत को पुनरुज्जीवित कर उसे अधिकार करने लगती है :---

" वह अधरों, वह नयन, भुजों से भरे, वरे अंकों का बल,
वे क्षण, वे क्षण जब मैं सुख से मूर्छित हो पड़ी थी।"[2]

" तारिकाओं के -से ध्यान में खोई हुई होऊँगी
उर: देश पर तुम्हारे सुभग निःश्वास के वर्तुल का,
रोमांचित सम्पूर्ण देह पर चिह्न विगत चुम्बन के।"[3]

---

1. रामधारी सिंह दिनकर, उर्वशी, पृ. 67.
2. वही, पृ. 97.
3. वही, पृ. 99.

ऋषि च्यवन अपनी प्रथम पत्नी आरुषी की मृत्यु के कारण ही तपस्या करने के लिए समाधि में प्रवेश करते हैं । उनकी साधना के साथ-साथ उनकी काम अभुक्तता उनके अचेतन मानस में रच-पच जाती है । इसीलिए सुकन्या की चंचलता के कारण जब उनकी समाधि भंग होती है तो उनके अभुक्त काम की मानसिकता सौन्दर्य के समक्ष प्रार्थना के गीत गाने लगती है ।[×] वे अपनी समस्त तपस्या को दाँव पर लगाकर भी सुकन्या को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील हो उठते हैं ।[2]

(4) दार्शनिक आयाम :-

3-3-8-2-2-4

दर्शन एक मानसिक व्यापार है जो कि चिन्तन का परिणाम है । व्यक्ति की बौद्धिक वृत्ति आत्यंतिकता के जिस प्रत्यय की गवेषणा आज तक कर सकी है उसे अलग-अलग अनुशासनों में अलग-अलग संज्ञाओं से भले ही अभिहित किया गया हो किन्तु इससे उसकी आत्यांतिकता में कोई अन्तर नहीं पड़ता । " ओंकार" से "चेतना" तक ;"ऊर्जा" से परमात्मा या फिर तथा कथित नास्तिकों के"आत्मा" या"प्रकृति" जैसे समस्त प्रत्यय मानव बौद्धिकता के आत्यांतिक ध्रुव हैं । जैव स्तर पर व्यक्तित्व का चरम विकास उसकी अमृतोपलब्धि है । अमृत की यह कल्पना -- जिसके मूल में सागर मन्थन का मिथक भी सन्निहित है -- वस्तुत: वर्धित चिन्तन की आत्यांतिकता का वह प्रत्यय है जिसकी उपलब्धि के समस्त प्रयास उसे जहाँ गति प्रदान करते हैं वहीं उसे सहजता की धारा से काट कर असंज्ञ बना देते हैं । व्यक्ति का बोध बार-बार सहजता की उपलब्धि चाहता

× " हरि प्रसन्न यदि नहीं : सिद्धि बनकर तुम क्यों आयी हो ?"

-- उर्वशी, पृ. 87.

2. वरण करोगी मुझे ? तुम्हारे लिए जरा को तज कर
शुभे । तपस्या के बल से यौवन मैं ग्रहण करूँगा
प्रौढ़ मेघ पादप नवीन, मदबल किशोर कुंजर-सा । "

-- उर्वशी, पृ. 87.

है तथा इस सहज होने के प्रयास मे ही असहज होता चला जाता है । आत्यांतिकता के मानवी प्रयासों में सौन्दर्य का प्रत्यय भी महत्वपूर्ण है क्योंकि व्यक्ति का आनन्द बोध जब अपने मूर्ताधारों की खोज में निकल पड़ता है तब ज्ञानेन्द्रियों की स्थिति अपने अनुरूप आधारों का निर्माण कर लिया करती है । ये समस्त आधार अपने भुक्त क्षणों में व्यक्ति के निकट पुन: आनन्द की अवधारणा में मूर्तता से वायवीयता की यात्रा पर निकल पड़ते हैं जिनका अवगाहन मनुष्य का चिन्तक किया करता है ।

उर्वशी में मानवी चेतना के समस्त प्रत्यय पाए जाते हैं । ध्यातव्य है कि इन प्रत्ययों की उपस्थिति, जहाँ व्यक्ति चेतना की श्रेष्ठतम स्थिति तथा उच्चतम् स्तर का प्रमाण होती है वहीं उसकी अभुक्तता की गवाह भी ।

पुरूरवा की दृष्टि इसी सौन्दर्य को उपलब्ध करना चाहती है, तथा उसकी उपलब्धि के मार्ग में देवत्व को प्राप्त करना चाहती है । कदाचित् उसके निकट सौन्दर्य की दिव्यता को भोगने के लिए देवत्व द्वारा ही व्यक्ति की पात्रता सिद्ध हो सकती है । पुरूरवा का कल्पक इस और समस्त जैव स्पंदनों की परिणति को अदृश्य के चरणों में समर्पण के रूप में स्वीकार करता है क्योंकि प्रणय व्यापार की सीमा का प्रसार जैव तल से परे भी है[2] परन्तु पुरूरवा की

× " प्रणय -युग की निश्चेतनता में अधीर -बाहों के
आलिंगन में देह नहीं श्लथ यही विभा बँधती है ।
और चूमते हम अचेत हो जब असंग अधरों को,
वह चुम्बन अदृश्य के चरणों पर भी चढ़ जाता है ।
देह मृत्ति, दैहिक प्रभाएँ की किरणें मृत्तिल नहीं हैं,
अधर नष्ट होते, मिटती हुंकार नहीं चुम्बन की ;
यह अरूप आभा-तरंग अर्पित उसके चरणों पर
निराकार जो जाग रहा है सारे आकारों में । "--उर्वशी, पृ. 56.

2. " देह प्रेम की जन्म भूमि है, पर उसके विचरण की
सारी लीला भूमि नहीं सीमित है रुधिर त्वचा तक ।
यह सीमा प्रसरित है, मन के गहन गुह्य लोकों में
जहाँ रूप की लिपि अरूप की छवि आँका करती है,
और पुरुष प्रत्यक्ष विभासित सारी सुख मण्डल में
किसी दिव्य अव्यक्त कमल को नमस्कार करता है ।" वही, पृ.47-8.

दिव्यता को सारी समग्र उसे जिस अतिक्रमण के लिए बाध्य करती है उसका लक्ष्य तो है × किन्तु उसके प्राप्त करने का मार्ग - प्रेम- स्वयं मार्ग को बाधा है ?[2] उर्वशी प्रकृति और पुरुष के अद्वैत स्थिति को ही महत्वपूर्ण मानती है उसके निकट द्वैत को समाप्त करने का कोई प्रयास अद्वैत की उपलब्धि में बाधक नहीं हो सकता । क्योंकि वास्तव में जीवन और जगत् में द्वैत के लिए कोई स्थान ही नहीं है ।[3]

आनन्द को कर्म रूप मानते हुए[4] कर्म के माध्यम से आनन्द को उपलब्ध करना यानी स्वयं के द्वारा स्वयं को उपलब्ध करना है ।[5]

पुरुरवा की चिन्ता तथा उर्वशी का चिन्तन दोनों ही महान हैं किन्तु इस महान चिन्तन के मध्य मूल समस्या क्यों की त्यों रह जाती है । न तो पुरुरवा के प्रश्न समाप्त होते हैं न उर्वशी को प्यास ही बुझती है ।

× " ले जाना है यह समूल नगपति के तुंग शिखर पर,
वहाँ जहाँ कैलास प्रान्त में शिव प्रत्येक पुरुष है,
और शक्ति दामिनी शिखा प्रत्येक रमणियों नारी ।" -उर्वशी, पृ.50.

3. " किसने कहा तुम्हें, परमेश्वर और प्रकृति ये दोनों
साथ नहीं रहते, जिसको भी ईश्वर तक जाना है
उसे तोड़ लेने होंगे सारे सम्बन्ध प्रकृति से ;
और प्रकृति के रस में जिसका अन्तर रमा हुआ है
उसे और सब मिले, किन्तु परमेश्वर नहीं मिलेगा ? -उर्वशी, पृ.50.

मोह माल ही नहीं सभी ऐसे विचार बन्धन हैं
जो सिखलाते हैं मनुष्य को, प्रकृति और परमेश्वर
दो हैं ; जो भी प्रकृत हुआ, वह दूर हुआ ईश्वर से;
ईश्वर का जो हुआ उसे फिर प्रकृति नहीं पायेगी ।- उर्वशी, पृ.61.
क्योंकि प्रकृति औ पुरुष एक हैं, कोई भेद नहीं है ।" --उर्वशी, पृ. 66.

2. " बाधक है यह प्रेम आप ही अपनी ऊर्ध्व प्रगति का ।"- वही, पृ.50.

4. " है कर्म स्वयं आनन्द, कर्म ही फल समस्त कर्मों का ।" - वही, पृ.62.

5. " हम हैं जहाँ, वहाँ आने को कोई राह नहीं है" -वही, पृ.65.

' जब तक शेष प्रकृति, तब तक हम भी बहते जायेंगे
लीलामय को सहज, शान्त, आनन्दमयी धारा में"--वही, पृ.69.

शापिता उर्वशी अनागत की कल्पना से ही त्रस्त हो उठती है[x] तथा पुरुरवा पूर्णत्व के चरम क्षणों में रीत जाता है ।

(5) व्यावहारिक आयाम :-

3.38.2.26.

काम की अभुक्तता का व्यावहारिक आयाम सन्तानहीनता है जिसे अधुना काम अनुसन्धाताओं में प्रमुख डॉ. मास्टर तथा उनकी सहयोगिनी श्रीमती जान्सन ने भी काम की प्रमुख समस्या के रूप में स्वीकार किया है ।[2] पुरुरवा और औशीनरी दोनों ही समस्या के इस आयाम से ग्रस्त हैं, दोनों का काम व्यवहारिकस्तर पर अभुक्त है :---

" एक वंशधर बिना, किन्तु, सब कुछ सूना लगता है । "[3]

× × ×

" कुछ न कोई शस्य प्रकृति से जो भी अमृत मिला था,
घर भरता रहा टहनियों में, सूनी डालों में ।
किन्तु प्राप्त कर तुझे आज बस यही भान होता है
शस्य भार से मेरी सब डालियाँ झुकी जातीं हों ।"[4]

इससे स्पष्टकार हम देखते हैं कि उर्वशी में काम की समस्या का स्वरूप उर्वशीकार के अभुक्त काम का आद्यान्त निरूपण है जिसकी अभिव्यक्ति अभुक्तता के पाँचों आयामों -- जैविक, मानसिक, सामाजिक, दार्शनिक तथा व्यवहारिक -- में हुई है ।

× " किन्तु हाय री नश्वरता इन अतुल, अमेय सुखों की
अमर बनाकर उन्हें भोगना मुझको भी दुष्कर है,
× × ×
जो भी कहें सखी ! पर वह दिन आने ही वाला है
छिन जायेगा जब समस्त सौभाग्य एक ही क्षण में ।"--उर्वशी, पृ. 100.

2. देखिए, " एन अनालिसिस आफ ह्यूमेन सेक्शुवल रिस्पान्स", पृ. 96.
3. रामधारी सिंह दिनकर, उर्वशी, पृ. 28.
4. वही, पृ. 121.

विश्लेषण :-

3.3.8.3.

शायद ही कोई पेड़ ऐसे रहे हो, जिसमें सेक्सअत्यधिक रुचि का विषय न रहा हो ।[×] सेक्स की यह मानव अभिरुचि हो जब सभ्यता के वातावरण में संकोच के साथ प्रवेश करती है तो अपना नाम प्रेम बताती है । नाम से स्वरूप में कोई अन्तर नहीं पड़ता । इसकी बहुरंगी उठान इतनी ढेर -सी तरंगें अपने आप में समेटे रहती है कि मनुष्य अनन्तकाल से इनमें भोगता रहा है । भोगने का सुख जब चेतना में विश्लेषण का विषय बना तो सेक्स के साथ-साथ चलते अतीत और वर्तमान दोनों भयावह दिखाई पड़ने लगे क्योंकि अब सुख के साथ ~~साथ~~ मानव विवेक का प्रत्यय आ जुड़ा था इस सम्बन्ध में हेमिन्ग वेम्स का मत उल्लेखनीय है :---

> " अतीत की भयावह कठोरताओं तथा क्रूर विवेक ने सेक्स को, जिसे स्वास्थ्य तथा उल्लास का स्रोत होना चाहिए था, इतना उत्पीड़ित किया गया कि वह मानसिक पीड़ा तथा विक्षोभ का एक स्रोत बन गया । " [2]

आश्चर्य नहीं कि पश्चिम के ऐसे चिन्तकों ने इसे विक्षोभ के कारण इसे अतीन्द्रियता के दर्शन से आलोकित किया हो। आज का आदमी पश्चिम की धारणा लेकर नहीं जीना चाहता । जी भी नहीं सकता । उसके रक्त का उफान स्पर्श की जीवन्तता चाहता है ।

जीवन्त स्पर्शों की तलाश वस्तुत: काम की अभुक्तता का परिणाम है जो हमारे एतद् सम्बन्धी समस्त जानकारी के लिए एक चुनौती है । काम की अभुक्तता का उन्मेष दो में देखा जा सकता है किन्तु इससे अधिक यह अभुक्तता काम व्यापारिकता में देखे जा सकते है । वेश्यावृत्ति के रूप में फैले हुये स्पर्श की जीवन्तताओं की समूची हाट अपनी सारी समृद्धि के साथ

× डॉ. प्रमिला कपूर, विवाह सेक्स और प्रेम , पृ. 293.

2. हेमिन्ग वेम्स, इन्डिविजुअल मौरालिटी, पैन्थर बुक्स लन्दन, 1970, पृ. 126.

जिस बात की घोषणा करती है वह है, काम की अभुक्तता । इस अभुक्तता की प्यास लिए भटकने वाले ग्राहक और सौदागर दोनों ही व्यक्तित्व के असामान्य तल पर जीनेवाले प्राणी होते हैं ।× इसके साथ ही होता यह भी है कि यौन-घटता से ऊब जाने के कारण जब व्यक्ति की काम वासना मन्द पड़ने लगती है तब वह विगत पुलकों की खोज में औरों की ओर देखने लगता है ।[2] बासीपन से ऊबकर नई हरियालियों में मुँह मारने की आकांक्षा भी अंतत: काम की अभुक्तता ही है ।

मनु ने विवाह के आठ प्रकार निश्चित किये[3] तथा इनकी कोटियाँ निर्धारित करते हुए भी "स्वदार निरत: सदा"[4] की व्यवस्था दी जिससे प्रतीत यह होता है कि लोग अपनी-अपनी पत्नियों से प्राय: संतुष्ट नहीं रह पाते थे । यदि रह पाते तो ऐसे विधि व्यवस्था की आवश्यकता भी क्या थी ?

काम के सामाजीकरण से नैतिकता के विचार का प्रादुर्भाव हुआ अवश्य किन्तु यह नैतिकता अपने आप में सर्वकालिक नहीं हो सकी ।[5] हर युग में ऐसे लोग हुए हैं जो अपने ही बनाये हुए नियमों का उल्लंघन करते हैं ।[6]

× The relationship between the prostitute and her customers is like one between two abnormal individuals, as both show deficient integration in the structure of their personalities and their sexual behaviour is so far as no psychic defects and defects disturbances of a graver nature are present.' Dr Promila Kapoor, Marriage and Women of Call Girls in India page 225.

2. देखिए - बर्ट्रेन्ड रसेल, विवाह और नैतिकता, पृ. 93.
3. मनुस्मृति, 22/3.
4. वही, 45/3.
5. Every age or land has its own morality. Havelock Ellis, Psychology of Sex. p-369.
6. डॉ. प्रमिला कपूर, विवाह सेक्स और प्रेम, पृ. 293.

नैतिकता के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक पक्ष में बहुत कम सामंजस्य पाया जाता है क्योंकि सैद्धान्तिक पक्ष में भी एक ओर वह आदर्श नैतिकता होती है जिसका सम्बन्ध मानव जाति के भविष्य से होता है तथा जो अतीत के क्रिया-कलापों से पोषित होती हुई उसको जड़ता पर कुठाराघात तक करती है - वहीं पारम्परिक नैतिकता अपनी प्राचीनता का उद्घोष करती हुई अपने महत्व का आधार मात्र प्राचीनता को ही मानती है बिना इस बात की परवाह किये हुए कि उसकी प्राचीनता अब जर्जर हो चुकी है। इसी कारण उसकी स्वीकारोक्ति के सम्बन्ध में इतने व्यवधान उत्पन्न होते हैं कि उसके उसके अस्तित्व का अधिकांश प्रश्न चिन्हों से भर जाता है। व्यवहारिकता के क्षेत्र में लोगों को क्या करना चाहिए जैसे सवाल कदाचित इतने जटिल हो उठते है कि कभी-कभी युग का समूचा मानस अपने आप को दिग्भ्रमित अनुभव करने लगता है।

जीवन से काम को पृथक नहीं किया जा सकता।[x] ऐसी स्थिति में वस्तुतः काम नैतिकता, जो कि जीवन के तथ्यों पर आधारित होती है, समाज को दिशा निर्देशिका हो सकती है किन्तु दुर्भाग्य से ऐसी स्थिति अभी तक उपलब्ध नहीं हो सकी है।[2]

x "Sex is inseparable from the rest of our living" J. Ross Eshliman. The family an introduction page 38.

2. We have as yet no generally recoganze sexual morality which has been based on the specific sexual facts of life That becomes clear at once when we realize the central facts that the sexual relationship based on love, at the very least on sexaal desire on that basis is so deep has to be even physiological, for in the absence of such sexual desire it is physiologically impossible for a man to effect intercourse with woman. but our so called sexual morality so far from being based on the facts attempts to ignore it altogather. Havlock Ellis. Psychology of sex p. 374.

काम को भूख का बार-बार महसूस होना तथा उसको लेकर समाज में परम्परा से प्रचलित मान्यताएँ व्यक्ति मानस को इतना लुंज-पुंज कर देतीं हैं कि वह कभी-कभी किं कर्त्तव्य विमूढ़ हो जाता है । प्रचीनों की वर्जनाएँ वर्तमान पीढ़ी के विद्रोह का कारण बनतीं हैं । इसके साथ ही समाज की आर्थिक व्यवस्था के साथ बदलता हुआ मानस अँधेरे को कथा दिन के उजाले में बाँधने लगता है और इसके साथ-साथ लड़खड़ाते उसके सोच उसे चिन्तन के उस भँवर में ला पटकते हैं जहाँ और सब कुछ भले ही हो सन्तुष्टि जैसी किसी चीज का कोई पता नहीं होता । अं सागर मन्थन में मान्यताओं के मन्दराचल को काम की रज्जु से मथते हुए व्यक्ति का सामाजिक परिवेश असामाजिक शक्तियों के आत्मसंघर्ष को ऐसे अभिव्यंजना है जिसे "श्री" के साथ "रम्भा" और अमृत के साथ विष का भी प्रादुर्भाव होता है । मूल्यों की सृष्टि में व्यक्ति चुनाव का केन्द्र कुछ भी हो सकता है वह चाहे तो अमृत का घट उठाले या विष पान को ज्वाला में दग्ध होता रहे अथवा फिर वारुणी का पान करके सारी चिन्ताओं से अलमस्त रहे । "श्री" के साथ अप्सरा "रंभा" का संयोग नारी विजयक पुरुष दृष्टि का पुनर्विचार है । चिन्तन की ये सरणियाँ जीवन मूल्यों पर फिर से सोचने को विवश करतीं हैं ।

काम अभुक्तता के विभिन्न आयाम वस्तुत: व्यक्ति जीवन के कुछ ऐसे पहलू हैं जिनके कारण व्यक्ति का काम अभुक्त रह जाता है । ये समस्त आयाम अपने आप में न तो कोई पृथक प्रत्यय हैं न इनकी कोई स्वतंत्र सत्ता है हाँ इतना अवश्य है कि व्यक्ति अभुक्तता की समग्रता में यत्किंचित सभी का योग दान रहता है । इनकी महत्ता उनके सम्बन्ध में तो है ही जो प्रत्यक्ष रूप से अभुक्तता के शिकार दिखाई देते हैं, उनके सम्बन्ध में भी ये कम महत्वपूर्ण नहीं है जो पूर्णता का दावा पेश करके अपने को आदर्श सिद्ध करने के प्रयास में हैं क्योंकि हमारी व्यक्ति संधारणा समाज बाह्य मनुष्य की न होकर उस सामाजिक मनुष्य की है जो चाहे - अनचाहे अपनी सबलताओं और दुर्बलताओं को दाय के रूप में प्राप्त करता है, जिसकी क्रांति के मूल में घृणा, भाई-चारे के

मूल में भय तथा उदारता के मूल में स्वार्थ परता जैसी प्रतिगामी शक्तियाँ सक्रिय रहतीं है । ×

× " एकान्त में कोई नहीं मानता कि बुर्कापोश पहनना अच्छा है । किन्तु बाहर आते ही हर कोई उसे पहनना चाहता है, क्योंकि और लोग बुर्कापोश पहने हुए हैं । युक्ति तो यही कहती है कि नकाब पहन कर असली चेहरे को छुपा लेने से पुण्य नहीं बढ़ता होगा । फिर भी, हर आदमी नकाब लगाता है क्योंकि नकाब पहने बिना घर से निकलने को समाज की ओर से मनाही है । " --- रामधारी सिंह दिनकर, उर्वशी, भूमिका, पृ. "ङ".

संश्लेषण :-
3-3-84

भूख जब इतनी विराट हो जाय कि उसके सामने तृप्ति की हर कोशिश बौनाने लगे तो ये सोच को दोशीज़गी की अंगड़ाइयाँ फिर से निमंत्रण देने लगतीं हैं । प्राय: होता यह है कि समस्या को बिना पूरी तरह समझे समाधान प्रस्तुत कर दिया जाता है जिसके परिणाम स्वरूप मूल समस्या तो समाप्त नहीं होती हाँ परिणामों का भुगतान एक और समस्या बन जाता है । काम की भूख की यह विराटता मात्र शरीरों की युगलबंदी नहीं हो सकती । देखना यह होगा कि इस युगलबंदी का परिणाम क्या है ? जिसकी इतनी चाहत लोगों के दिलों-दिमाग पर छायी रही रहती है वह दरअस्ल चीज़ क्या है ? "आनन्द" कह कर हमारे हाथ " खुल जा सिम-सिम" की तिलस्मी तरकीब नहीं लग जाती क्योंकि आनन्द की खोज भी उसी मानस की खोज है जो अपनी चिन्तन यात्रा के पड़ाव में न जाने कितनी खूँटियाँ गाड़ता-उखाड़ता रहता है । यह अलग बात है कि आनन्द की संधारणा का साधारणीकरण कुछ इस अन्दाज़ से हो चुका है आम आदमी आसानी से इससे सहमत हो जाता है । जिस्म की दहलीज़ पर उठनेवाली दिमागी सनसनाहट न आनन्द है न आनन्द का पर्याय । सवाल उठता है कि जिन लोगों को मुँह भर- भर कर हरियालियों को चरने का अवसर मिला क्या वे सचमुच आनन्दित लोग थे ? " न जातु काम: कामानामुपभोगेन शाम्यति " का सूत्र क्या मात्र हवाई सूत्र था अथवा वस्तुस्थिति कुछ भिन्न थी और हम अपनी समझदारी में कुछ और ही समझते रहे ? सम्भोग के चरम क्षणों में कालातिक्रमण तथा जैविक तल पर उसके परिणाम स्वरूप सन्तति के रूप में आत्मोपलब्धि की संधारणा एक ओर वह अमृत कल्पना है जो व्यक्ति बोध के सातत्य को प्रबोधित करती है तथा दूसरी ओर क्षरण के क्षणों में ही पूर्ण संयुक्तता तथा पुनर्रचना की स्थिति व्यक्ति को उस आदिम अद्वैतता की मानसी पुनरोपलब्धि है जहाँ से एक ओर सृष्टि का विकास होता है तथा दूसरी ओर अव्यक्त को व्यक्त यात्रा का आरम्भ । उर्वशी की संरचना में व्यक्त और अव्यक्त का जो संगम स्थल है उस पर स्थित काम समस्या की यह निष्पत्ति इस दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण है ।

- - -0 0 0- - -

३.३.१. नारी स्वत्व की समस्या

भारतीय पुरुष जीवन में नारी का जितना
ऋणी है उतना कृतज्ञ नहीं हो सका --महादेवी वर्मा

"स्वप्न छोड़ विधि ने सिरजा क्या और भाग्य नारी का"
- - - दिनकर

much progress has been made in recoganising the rights of woman, even in the most advanced socities of today woman still occupies an unequal posirion. She is considered to be the plaything of man, has doll, bunny baby chick or house wife, but not his equal.

* * * * * * * * * * * * * * *

the primary function of the wife comes to be that of lucrative domestic animal.

3.3.9. नारी स्वत्व की समस्या

" सच पूछो तो प्रजा यज्ञ में क्या है भाग पुरुष का ?
यह तो नारी ही है, जो सब यज्ञ पूर्ण करती है । [+]

सचमुच इस बात को लेकर किसी बहस की शुरुआत नहीं की जा सकती कि प्रजा सृष्टि में पुरुष का भाग गौण तथा नारी का भाग मुख्य रहता है किन्तु "क्षेत्र" और "बीज" की सुविधा शास्त्रीय व्याख्या[x] की परम्परागत प्रभावों ने नारी के अस्तित्व को इतना कुचला है कि वह अपने स्वत्व के लिए आज तक छटपटा रही है । आज का सभ्य समाज " अर्धनारीश्वर" की मनोवैज्ञानिकता[2] को सकारते हुए भी कदाचित अपने व्यवहार जगत् में इतना उदार नहीं हो पाया है कि उसके स्वत्व को खुले मन से स्वीकार कर सके । नारी अधिकारों की लम्बी - चौड़ी बातें शयन कक्ष तक आते-आते अपनी समस्त वाग्मिता से शून्य होकर नि:स्व हो जाती है ।

पुरुष की परुषता जहाँ अपने लिए आए दिन आचार संहिताओं का निर्माण करती रही है वहीं उसकी मानवी संवेदनशीलता की तरलता इस परुषता को पूरी तरह कभी अंगीकृत नहीं कर सकी व्यवहार जगत् का उसका समस्त गर्जन-तर्जन जब कोमलता में भीगने लगता है तो नारी सुधा-चाँदनी और मन्दार की माला[3] भी बन जाती है तथा इसके साथ ही उसके अचेतन संस्कार अपनी पूरी परुषता के बावजूद उसके अधिकारों की वकालत करने लगते हैं । तथ्य यह भी है कि इस जागरूकता की संभावना को वास्तविकता में ढालने के लिए नारी से अधिक पुरुष का बदलता हुआ मानस उत्तरदायी है जिसका प्रमाण है उर्वशी में उभरनेवाली नारी स्वत्व की समस्या ।

+ From the reproduction point of view man's role is insignificant. Marie Bisco on All about Sex and Sex. P. 59.

8. क्षेत्रभूता स्मृता नारी बीज भूत: स्मृत: पुमान - - मनुस्मृति, 33/9 से 44/9

2. Every man carries," within him the internal image of woman not like of this or that particular woman but a definite feminine image. C.G. Jung. Marriage as Psychological Relationship. The Collected Works, P. 198.

3. रामधारी सिंह दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, पृ. 632.

समस्या का स्वरूप :--

5.391

उर्वशी में नारी स्वत्व की समस्या के स्वरूप को समझने के लिए तीन बातों को समझना आवश्यक है -- पहली यह कि नारी स्वत्व की समस्या को उठानेवाला पुरुष है जो कलाकार की संवेदनशीलता, तथा विचारक की चिन्तना से युक्त होते हुए भी अपने पुरुषत्व से मुक्त नहीं हो सकता ; दूसरी यह कि वह नारीत्व को ब्रह्मा की रचना न मानकर उस सभ्यता का आविष्कार मानता है × जिसके अन्तर्गत समाज पलता-पुसता रहता है तथा उसमें निर्माण के सारे काम पुरुषों के हाथों में हैं तथा नारियाँ पालतू जीव बन कर घरेलू उपकरणों की साज-सवाँर में लगी रहती हैं ।[2] इसके साथ ही तीसरी बात जो नारी स्वत्व के सम्बन्ध में विचार करते समय महत्वपूर्ण हो जाती है, तथा जिससे विचारक का अपना पुरुषत्व सिद्ध रहता है वह है "सभ्यता की आदिम अवस्था में नारी का पालतू जीव होना " ।[3] एनीटोमी की डेस्टिनी[4] मानने की प्रवृत्ति निस्संदेह नारी को उस सीमा का आख्यान है जहाँ पर वह मातृत्व-क्षमता के कारण पूरी तरह आत्म निर्भर नहीं रह पाती किन्तु "वोल्गा से गंगा" की "निशा" की मानसिक संरचना एवं तात्कालिक सामाजिक व्यवस्था, जो निश्चित रूप से अद्यतन सामाजिक व्यवस्था से पूर्व की स्थिति है तथा जिसमें नारी नर का पालतू जीव न सिद्ध होकर नर ही नारी का पालतू जीव सिद्ध होता है ; [5] की युक्ति पूर्ण व्याख्या नहीं हो सकती । निशा की मानसिकता

× "जिसे हम नारीत्व कहते हैं वह ब्रह्मा की रचना नहीं; सभ्यता का आविष्कार है ।"- - रामधारी सिंह दिनकर, विवाह की मुसीबतें, पृ. 11.

2. वही, पृ. 7.
3. वही, पृ. 45.
4. वही, पृ.12.
5. देखिए - राहुल सांकृत्यायन, वोल्गा से गंगा, किताब महल, इलाहाबाद, 1943, पृ. 13.

एवं मातृसतात्मक समाज की संरचना के ब्योरे जाने का न तो उर्वशीकार का ही प्रयोजन है न हमारा ही उद्देश्य किन्तु उसकी ओर संकेत करना इसलिए आवश्यक प्रतीत हुआ कि नारी के स्वत्व की समस्या पर, उसकी सांस्कृतिक स्थिति को सामने रखकर जब विचार किया जाय तब यदि इस आदिम स्थिति पर भी दृष्टि रहे तो विवेचन अधिक सम्यक् हो सकेगा ।

मातृत्व : नारी स्वत्व की समस्या का प्रथम आयाम :-

339.1.1.

आत्मा द्वारा महा सौन्दर्य की धरातलीय खोज जैविक तल पर जहाँ काम बनती है वहीं उसके स्पंदनों के मानसिक संवेदन एवं अभिव्यक्ति में प्रेम की संज्ञा पाते हैं किन्तु नारी पक्ष धरातल तक आते-आते इन संवेगों को लेकर नारी की अपनी स्थिति बहुत कुछ बदल जाती है । सृष्टि संरचना में नारी की संग्राहक स्थिति उसे ऐसे क्षेत्र में परिवर्तित कर देती है जिस पर आकर संभावनाएँ आकार ग्रहण करने लगती हैं । संभावनाओं का यह मूर्तीकरण ही सृष्टि निर्माण की प्रक्रिया यानी नारी का मातृत्व है और कदाचित नारी के आत्मनिर्भर न रह पाने का प्रमुख कारण भी, तभी तो उर्वशी में नारी स्वत्व को लेकर जो पहली विचार सरणि है वह नारी का माता बनना :--

" नहीं पुरुष को अहम् वहाँ कुछ भी जनना होता है,
जो भी करती प्रेम उसे माता बनना होता है ।"×

नारी का यह मातृत्व नारी के लिए दो दृष्टियों से घातक होता है, पहला इसलिए कि इससे वह अपने सौन्दर्य से हाँथ धो बैठती है[2] तथा दूसरा

× रामधारी सिंह दिनकर, उर्वशी, पृ. ।।

2. " तन हो जाता शिथिल दान में यौवन गल जाता है,
ममता के रस में प्राणों का वेग पिघल जाता है ।
रुक जाती है राह स्वप्न जग में आने -जाने की
फूलों में उन्मुक्त घूमने की, सौरभ पाने की ।" --उर्वशी, पृ.।।.

यह कि उसका समूचा स्वत्व उसका अपना नहीं रह जाता । इसप्रकार हम देखते हैं कि उर्वशी में नारी स्वत्व की समस्या का पहला आयाम है नारी का मातृत्व । मातृत्व के कारण ही नारी का स्वत्व उसका अपना नहीं रह जाता ।

गृहणीत्व : नारी समस्या का दूसरा आयाम :-

339.1.2

मातृ सतात्मक समाज में भी नारी के मातृत्व ने ही परिवार संस्था को जन्म दिया होगा इसे सामान्यत: स्वीकार किया जा सकता है । स्वीकार यह भी किया जा सकता है कि परिवार संस्था के उदय के साथ ही उत्तरदायित्वों की शृंखला में भूमिका की प्रमुखता ने कभी नारी को प्राथमिकता दी कभी नर को । किन्तु नारी की मातृत्वजन्य विवशता तथा नर की सौन्दर्यान्वेषी दृष्टि ने कालान्तर में नारी को थोड़े से उत्कोचों के साथ परिवार व्यवस्था में गौण भूमिका अदा करने पर सहमत कर लिया होगा । इसी व्यवस्था को अगले कदम विवाह संस्था उदय है जिसकी बड़ाई लोग यह कह कर करते हैं कि वह दो सम मानवों का मिलन का नाम है । किन्तु अनुभव यह बतलाता है कि विवाह दो मनुष्यों का मिलन नहीं, एक नर और एक मादा का मेल है ।[×] जो अन्ततः एक दूसरे पर अधिकार करने के प्रयास में एक कलह बन जाता है ।[2] उर्वशी में नारी स्वत्व की समस्या के इस आयाम पर औशीनरी के माध्यम से चिंतन मिलता है ।

पुरुरवा को पत्नी औशीनरी एक व्यवस्था के अंतर्गत अपने नारीत्व में पुरुरवा के पुरुष को पूरी तरह से पाना चाहती है । नारी स्व का समर्पण उसके अहं को भरने की खूबसूरत तरकीब है जिसके द्वारा वह पुरुष को अपने बस

× रामधारी सिंह दिनकर : विवाह की मुसीबतें : पृष्ठ 13

2. तुम विवाह से बड़ी कलह भी न खोज पाओगे, ...और सब कलह खत्म होती है, सब युद्ध समाप्त होते हैं, शांति की संधियाँ होती हैं विवाह की कलह शाश्वत है वह चलती चली जाती है ।
-आचार्य रजनीश : गूँगे केरी शरकरा : पृष्ठ 33

में करना चाहती है ।×

समर्पण के व्याज से ग्रहण का अद्भुत प्रयास विवाह व्यवस्था के अन्तर्गत देखा जा सकता है । औशीनरी समर्पण नहीं समर्पण का दावा भर करती है । इसीलिए उसे अन्त में और भी कठिन आघात उस समय लगता है जब पुरुरवा सन्यस्त हो कर बिना उससे मिले ही चला जाता है ।[2]

गृहणी बन कर नारी समर्पण की ओट में अपने अहं तुष्टि के लिए जो शरद सन्धान करती है उसकी असफलता ही उसके अपने अहं को ही आहत कर देती है । इस प्रकार नारी का गृहणीत्व उसके स्वत्व की समस्या का दूसरा आयाम सिद्ध होता है ।

काम : नारी स्वत्व की समस्या का तृतीय आयाम :-

काम नारी स्वत्व की समस्या का महत्वपूर्ण आयाम है । वस्तुत: काम की धार जब अपने उत्स से आगे मुक्तता तथा प्रतिबद्धता के उपकूलों के मध्य जा फँसती है तब नारी का काम उसके स्वत्व की समस्या का एक आयाम बन जाता है ।

जीवन की सहजता प्रतिबद्धता को स्वीकार नहीं करती । वह घन - शावकों, फूलों, हरियालियों, इन्द्रधनुषी रंगों के साथ - साथ प्रकृति के सर्वोत्तम सौन्दर्य - नारी - को समान रूप से पा लेना चाहती है ; आत्मसात् करलेना

× " अरी कौन है कृत्य जिसे मैं अब तक कर न सकी हूँ ?
कौन पुष्प है जिसे प्रणय वेदी पर धर न सकी हूँ ?
प्रभु को दिया नहीं, ऐसा तो पास न कोई धन है ।
न्योछावर आराध्य चरण पर सखि ! तन, मन, जीवन है ।
तब भी तो भिक्षुणी सदृश जोहा करतीं हूँ मुख को ," -- उर्वशी पृ.26.

2. " चले गये देवता बिना ही कहे बात इतनी सी,
हत भागी * ! उठ जाग, देख मैं मन्दिर से जाता हूँ ।
अकस्मात् ही मैं कैसे मर गयी कान्त के मन में ?" -- वही, पृ.124.

चाहती है किन्तु उसकी चयनाभिप्तता उसे अपनी इस समानधर्मिता को यथावत् कायम नहीं रहने देती जिसके कारण वह वरीयता के क्रमों का अन्वेषण एवं व्यवस्थापन किया करती है । नारी स्वत्व की समस्या पर चिन्तन करता पुरुष दृष्टिकोण उर्वशी में आकर प्रमुखत: उसके काम सम्बन्धों की उन्मुक्तता एवं प्रतिबद्धता के प्रसंग पर आकर अटक जाता है ।

उर्वशी में एक ओर वे अप्सराएँ हैं जो अपने काम सम्बन्धों को किसी एक व्यक्ति तक सीमित नहीं रखना चाहतीं, यानी काम अपनी सहजता में असीम होना चाहता है अर्थात् उनकी काम अस्मिता किसी भी प्रकार के बन्धनों को स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत नहीं :---

" खंड-खंड कर बह रहा मुक्त जो, कूल हीन वह जल हैं
किसी गेह का नहीं दीप जो, हम वह द्युति कोमल हैं ।
× × × ×
हम तो हैं अप्सर पवन में मुक्त विहरने वाली,
गीत नाद सौरभ सुवास से सब को भरने वाली ।"×

तथा दूसरी ओर व्यवस्था की वह तर्कशीलता जो काम की उन्मुक्तता को प्रतिबद्ध करना चाहती है भी सरलता से देखी जा सकती है :--

" शिखर -शिखर उड़ने में जाने, कौन प्रमोद लहर है ।
किन्तु एक तरु से लग कर सारी आयु बिता देने में
जो प्रफुल्ल, घन गहन शाँति है, वह क्या कभी मिलेगी
नये -नये फूलों पर नित उड़ती फिरने वाली को ।"2

जीवने में सुरक्षा चाहने वाले को निश्चित रूप से अपनी स्वतंत्रता से हाथ धोना पड़ता है तथा स्वतन्त्रता को जीवन मूल्य स्वीकार करने वाले के लिए आवश्यक है कि वह असुरक्षा में कदम रखे । सुरक्षा और स्वतन्त्रता का

× रामधारी सिंह दिनकर, उर्वशी, पृ. 10.
2. वही, पृ. 84.

समान रूप से उपभोग किसी भी व्यवस्था के अन्तर्गत असंभव है । पुरुष जब सुरक्षा चाहता है तो उसकी चरम परिणति अमृतोपलब्धि की प्राक्कल्पना में होती है और नारी जब सुरक्षा के लिए आकुल हो उठती है तो परिवार और विवाह जैसी व्यवस्था को स्वीकार कर लेती है । नारी का अपना सारा होना अधिकतर उसके शारीरिक अवयवों का होना ही होता है× । सुकन्या भी ऐसी ही नारी है जो जीवन की नश्वरता की पृष्ठभूमि में शारीरिक अवयवों के गठन सौन्दर्य पर ही विचार करती है --

" पर, ये चित्र अथिर ; भौंहों के धनुष सिकुड़ जायेंगे,
छूटेगी अरुणिमा कपोलों के प्रफुल्ल फूलों की ।
और वक्ष पर जो तरंग यौवन की लहराती है,
पीछे समतल छोड़ जरा में जाकर खो जायेगी । "[2]

--तथा उसकी समस्त सुरक्षा इन अवयवों की ताजगी पर निर्भर है ।[3] ऐसा प्रतीत होता है मानो वह सुरक्षा के लिए नारी को शारीरिक अवयवों की ताजगी की प्रत्याभूतियों को भुनाने का उपदेश देती हो तभी तो अवयवों की ताजगी कायम रहते ठिकाने की तलाश[4] स्वत्व सुरक्षा का नारी उपाय होने के साथ ही उसकी स्वत्व समस्या का आयाम भी है जिसकी पुरुष स्वीकृति उर्वशी में इस प्रकार मिलती है :-

" सचमुच, यह सुख अप्रमेय है मन ही नन्दि निलय है ।

× If you ask a woman, what kind of a person she is, she thinks of her body, how young, how beautiful she is. Obsessions All about love and sex. P. 52.

2. रामधारी सिंह दिनकर, उर्वशी, पृ, 84.
3. " तब फिर अंतिम शरण कहाँ उस हत भागी नारी की?
यौवन का भग्नावशेष वह तब फिर किसे रुचेगा ?"--उर्वशी, पृ.84.
4. " इसीलिए, कहती हूँ जब तक हरा भरा उपवन है,
किसी एक के संग बाँध लो तार निखिल जीवन का
न तो एक दिन वह होगा जब गलित, म्लान अंगोंपर
क्षण भर को भी किसी पुरुष की दृष्टि नहीं थिरकेंगी
बाहर होगा विजन निकेतन, भीतर प्राण तजेंगे
अन्तर के देवता तृषित भीषण हाहाकारों में ।"-- उर्वशी, पृ. 85.

" क्षण भर पा कर हृदय दान जब उतना सुख मिलता है,
तब कितना मिलता होगा यह सुख उन दम्पतियों को
जो सदैव श्री के लिए हृदय उत्सर्जित कर देते हैं । "×

पुरुष व्यवस्था : नारी स्वत्व की समस्या का चतुर्थ आयाम :-
3.39.1.4

व्यवस्था की बात गड़बड़ी को याद दिलाती है । गड़बड़ी के अभाव में व्यवस्था की बात बेमानी सी लगती है । व्यवस्था यह बात जब नारी जगत् में लागू होती है तो बिल्कुल स्पष्ट रूप से उसके मूल में जो वस्तु दिखायी देती है वह है काम का सामाजीकरण । काम का समाजीकरण वस्तुत: उस समय व्यवस्था अंग बना होगा जब पुरुष को सन्तानोत्पत्ति में अपने योगदान का ज्ञ ज्ञान हुआ होगा यानी पितृसत्तात्मक समाज की आधार शिला रखी गयी होगी । काम पर जब व्यवस्था ने हावी होना शुरू किया तो उसे प्रति-बन्धों की शृंखलाओं में आबद्ध होना पड़ा [2]। अब चूंकि सभी देशों में शास्त्रों के रचयिता पुरुष थे, इसलिए व्यभिचार की जिम्मेवारी उन्होंने नारी पर डाल दी । यह पाप इसलिए होता है चूँकि नारियाँ जादूगरनें हैं, मोहिनी हैं अहेरिन हैं । यदि शास्त्रों की रचना नारियों ने की होती तो यह सारी जिम्मेवारी पुरुष पर डाली गयी होती । [3] इसकेसाथ ही नारियों से वे सभी अवसर छीन लिए गये जिससे स्खलन की शंका हो सकती थी । किन्तु पुरुष के व्यभिचार पर कोई रोक न लगाई जा सकी, क्योंकि पुरुष के लिए व्यभिचार आसान था ..... उसे घूमने फिरने की पूरी छूट थी और पत्नी अथवा पड़ोसी यदि देख न ले तो उसके स्खलन को प्रमाणित करने का कोई उपाय न था न इस स्खलन से उस पर गर्भ का कोई खतरा ही आने वाला था परन्तु सेक्स पर अंकुश डालने का काम हवा को बाँधने के समान दुष्कर

× रामधारी सिंह दिनकर, उर्वशी, पृ. 86.
2. " पुरुष इस बात की गारंटी चाहता था कि जो बच्चा उसका बच्चा कहाजाता है वह ठीक उसी का बच्चा हो"-रामधारी सिंह दिनकर, विवाह की मुसीबतें, पृ. 25.
3. वही, पृ. 28.

सिद्ध हुआ । [×]

उर्वशी में नारी स्वत्व की समस्या के अनेक संकेत मिलते हैं । सेक्स की मुक्त रूप से जीनेवाली अप्सरायें उस देव व्यवस्था से आक्रान्त हैं जो दूसरों में भोग की आकांक्षा उद्दीप्त कर स्वयं पैसिव बनी रहती है[2] तथा जिसके विरुद्ध अप्सरायें कहीं दाद-फरियाद भी नहीं कर सकतीं हैं । इतना ही नहीं देव व्यवस्था का वह रूप भी अप्सराओं के अपने स्वत्व पर कम चोट नहीं करता जिसके तहत उन्हें अपने सहज मातृत्व से वंचित होकर [3], मात्र उनके मनोरंजन [4] का साधन बनें रहें । इसी व्यवस्था में ग्रस्त अप्सरा चित्रलेखा का हृदय यदि उत्पीड़न से चीत्कार कर उठता है[5] तो इसमें आश्चर्य भी क्या ? इसके अतिरिक्त वह देवव्यवस्था ही है जिसके अन्तर्गत पुरुष नारी को शाप देने का अधिकारी है । उर्वशी को इसी शाप के बदले ही अपने समस्त सुखों से वंचित होना पड़ता है । उर्वशी का अनूठा स्वत्व पुरुष-शाप के समक्ष कितना आहत हो उठता है :-

" और विवशता यह तो देखो, मैं अभागिनी नारी
दिखा नहीं सकती सुत का मुख अपने ही स्वामी को,
न तो पुत्र के लिए स्नेह स्वामी का तज सकती हूँ ।
× × × ×

× रामधारी सिंह दिनकर, विवाह की मुसीबतें, पृ. 28-30.

2. " ये भोगते पवित्र भोग औरों में वह्नि जगाकर । " - उर्वशी, पृ.96.

3. " कहते हैं अप्सरा बने यौवन हर प्रसव व्यथा से ;
और अप्सरायें इस सुख से बचती भी रहतीं हैं ।"- वही, पृ. 96.

4. " नाच-नाच कर कौन देवताओं को तपन हरेगी
काम लोल कटि के कम्पन, भौंहों के संचालन से ?"- वही, पृ.95.

5. " हाय सुकन्ये नियति शाप से ग्रसित अप्सराओं की
कोई भी तो नहीं विषम वेदना समझ पाता है । "
-- उर्वशी, पृ. 96.

कौन भामिनी है जो अंगज पुत्र और प्रियतम में
किसी एक को लेकर सुख से आयु बिता सकती है ?
कौन पुरन्ध्री तज सकती है, पति के लिए तनय को ?
कौन सती सुत के निमित्त स्वामी को त्याग सकेगी ? "×

मानवी अवस्था में औशीनरी का आहत स्वत्व पीड़ा के आठ-आठ आँसू रोता है । औशीनरी उस व्यवस्था में जीती हुई नारी है जो एक ओर अपने समक्ष काम क्रीडाओं को लेकर सतीत्व का आदर्श ढोती हुई अपने को वर्जनाओं के घेरे में बंद रखती है [2] तथा घोर पीड़ा के क्षणों में भी इससे अधिक कुछ नहीं कह पाती है कि :--

" रुदन छोड़ विधि ने सिरजा क्या और भाग्य नारी का ?"[3]

औशीनरी का यह समस्त संकट उस व्यवस्था का संकट है जो नारी को पुरुष की आश्रिता घोषित करती है, तथा जिसके अन्तर्गत पति ही नारी का आधार है :--

" पति के सिवा योषिता का कोई आधार नहीं है ।
जब तक यह दशा नारियाँ व्यथा कहाँ खोयेंगी ?
आँसू छिपा हँसेंगी, फिर हँसते-हँसते रोयेंगी । " [4]

वस्तुत: व्यवस्था की यह स्थिति जिसके लिए समाज का पुरुष वर्ग ही उत्तरदायी है नारी स्वत्व के लिए बड़ी समस्या है । उर्वशीकार का चिन्तक स्थिति का विश्लेषण करते हुए जिस प्राक्कल्पना और समाधान पर पहुँचता है वह उसके प्रजापीड़ित्व का अद्भुत ब्लूप्रिन्ट है :-

" कहते हैं, जिसने सिरजा था हमें प्रकाण्ड पुरुष था,
इसीलिए, उसने प्रवृत्ति नर में दी स्वत्व हरण की ।

× रामधारी सिंह दिनकर, उर्वशी, पृ, 95.

2. " पछताती हूँ हाय, रक्त आवरण फाड़ क्रीड़ा का
व्यंजित होने दिया नहीं क्यों मैंने उस प्रमदा को
जो केवल अप्सरा नहीं मुझ में भी छिपी हुई थी " - उर्वशी, पृ.125.

॥शेष अगले पृष्ठ पर ॥

" और नारियों को विरचा उसने कुछ इस कौशल से,
हम हो जातीं हैं कृतार्थ अपने अधिकार गवाँ कर ।
किन्तु कभी यदि हमें मिला निर्बाध सुयोग सृजन का,
हम होकर निष्पक्ष सुकोमल ऐसा पुरुष रचेंगी,
कोलाहल कर्कश निनाद में भी जो श्रवण करेगा
कातर मौन पुकार दूर पर खड़ी हुयी करुणा की,
और बिना ही कहे समझ लेगा, आँखों आँखों में,
मूक कथा की कसक, आँसुओं की निस्तब्ध गिरा को ।" ×

विश्लेषण :-
उ.उ.प.2.

सभ्यता के आदि से आधुनिक युग तक व्यक्ति क्रंदन की रेखा का प्रसार देखा जा सकता है । उसकी दिक्-काल सापेक्षता अपने विकास क्रम में अनेक अनगढ़ -सुगढ़ संस्कृति -प्रतिमाओं के सृजन-विघटन के लिए उत्तरदायी रही है । उसकी प्रबोधिता अपनी अस्मिता में अनवरता को शाश्वत व्याख्या है इसीलिये उसके किस उपकूल पर परुषता का कोमलता से मिलन हुआ था कहना कठिन ही नहीं असंभव भी है ।

शक्ति का छुई-मुई मन अपनी संग्राहकता में जब सृजन की आधार भूमि बन समस्त परुषता की वाडवाग्नि को छिगुनी पर लेकर मन्दस्मित बिखेरता हुआ भीत-चकित हिरनी के मुग्ध मदमत्त नयनों से आकाश निहारता सुगबुगा उठा

* पिछले पृष्ठ से :-

" रहो समेटे अलंकार क्यों लज्जामयी वधू सी ?
बिखर पड़ो क्यों नहीं कुट्टमित चकित ललित लीला में ?
बरस गयी क्यों नहीं घेर सारा अस्तित्व दयित का
मैं प्रसन्न, उद्दाम, तरंगित मदिर मेघ-माला सी ? " - उर्वशी, पृ.126.

2. रामधारी सिंह दिनकर, उर्वशी, पृ. 121.
3. वही, पृ. 28.
× वही, पृ. 129.

तो मेघमालाओं को चीरकर शंखाओं के विद्युन्मय पाटलों को गन्ध से दिशाओं का आँचल भर गया और उजास को किरणें संवलित हो नारी रूप में रूपायित हो उठीं। किन्तु इस नारी को समस्त परुषता अपने पूरे वेग को उद्दामता में जब प्रस्फुटित हुई तो विराटता को संज्ञा पुरुष कहलाई।

कोमलता और परुषता को विजातीयता को अनिवार्य परिणति पूरकत्व में होनी चाहिये थी- हुई भी - किन्तु कालान्तर में पूरकत्व का प्रतिमान स्थिर न रह सका, परुषता की मानसिकता ने अपनी श्रेष्ठता का उद्घोष अधिकारों को तुरही और स्वामित्व का शंख बजा कर किया जिसके परिणाम - स्वरूप आज भी व्यथित परुषता नारी कोमलता को अधिकृत करने के लिए लालायित रहती है।× कोमलता की स्निग्धता के मधुकणों में भोगती परुषता की संवेदनशीलता ने उसे कदाचित पूर्ण माना [2] किन्तु उसकी विराटतल्पता के समक्ष परुषता ने आश्चर्य नहीं यदि अपने आप को पुंसत्वहीन अनुभव किया हो [3] जिसके परिणामस्वरूप उसके निकट " स्वभाव एव नारीणांनराणामिह दूषणम्" ‖ मनु. 213/2‖ तथा नैता रूपं परीक्षन्ते ना सां वयसि संस्थितिः। स्वरूपं व विरूपं वा पुमानित्येव भुंजते। ‖ मनु, 14/9 ‖ की स्थिति का उद्घोष नारी के सम्बन्ध में अपने पुंसत्व की रक्षा के लिए सर्वाधिक निरापद प्रतीत हुआ हो। व्यवस्था के बन्धन कोमलता की काया पर कुछ इस तरह कस गये ‖ बाल्या वा युवत्या वा वृद्धया वापि योषिता न स्वातन्त्रेण कर्तव्यं किंचित कार्यं गृहेष्वपि ।। बाल्ये पितुर्वशे तिष्ठेत्पाणि ग्राहस्य यौवने पुत्राणां भर्तरि प्रेते न भजेस्त्री स्वतन्त्रताम् ।। - मनु. 47-48/5. तथा पिता रक्षति

× " men with social position of consequience and past their physcial prime did, snd still do, desire to have women over whom they could exercise absolute authority. Dr.William Devenport 'Sexual Patterns in a South West Pascific Socity, An Analysis to Human Sexual Response ,p.196.

2. यत्र नार्यास्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता। यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफला क्रियाः" - मनु. 56/3.

कौमारे भर्ता रक्षति यौवने ।। रक्षन्ति स्थाविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ।। -- मनु. 3/9 ॥ कि उसे एक ओर अपने लिए अपनी नैसर्गिक सृजनशीलता का उपयोग करने की छूट न रही ॥ अपत्य लोभाद्या तु स्त्री भर्तारमतिवर्त्तते ।। सेह निन्दामवाप्नोति पतिलोकाच्च हीयते ।। - मनु. 61/5॥ तथा दूसरी ओर उस नियामक परम्परा, जो अपने उपभोग के लिए हर तरह की छूट का विधान करती रही है, ॥ देखिये मनुस्मृति 240/2॥ के इंगित मात्र पर अपनी इच्छा के विरुद्ध भी सन्तति के लिए पर पुरुष को अपनी शैय्या पर झेलने के लिए विवश होना पड़ा ॥ देखिये - विधवायां नियुक्तस्तु घृताक्तो वाग्यतो निशि । तथा विधवायां नियोगार्थे निर्वृत्ते तु यथा विधि ।। मनु60 तथा 63/9 ॥ पुत्र उत्पन्न करने में अक्षम पति के रहते हुए भी स्त्री को विधवा ही माना गया है

3. He is easily excited and and quickly finished., Marie Biswas, All about Love and Sex, p. 59. also see ---

"..... of all animals the human female is the only female which is sexually resceptive at all times and in all seasons . Her capacity for sexual enjoyment is even superior to man's . Ibid. page 90 and on page 123 she cites Dr. Master and Mrs. Johnson's case __ A number of competent males engaged a womean in coitus one after the other..... Twenty males one after other had intercourse with the the lady who did not stop and rest but continued to take the next man on immediately as one finished.

The woman experienced 50 orgasms during the experiment and when the twentieth man finished his performance, the Lady was still willing and eager for more though ofcourse she was tired. The woman in experience was an ordinary person not any siron or nymphomaniac.

Dr. Master and Johnson have confirmed the fact of multiple orgasm thus ----

" If a female who is capable of having regular orgasm is properly stimulated within a short period after her first climex she will in most instances be capable of having a second, third, forth and even fifth orgasm before she is fully satiated. " --- Master W.H. and Johnson Virgina, 'The Sexual Response Cycle of the Human Female III The Clitoris Anotomic and Clinical Considerations ; Western Journal of Surgery Obstetrics and Gynecology, Vol. 70 1962, pp. 248 - 257.

महाभारत काल तक आते-आते विधवा की दोनो स्थितियों में नियोग देखा जा सकता है। इस व्यवस्था का प्रभाव नारी स्वत्व पर इतना घातक सिद्ध हुआ कि एक ओर वह " पुरुष की क्रीड़ा का विषय बने रहने के लिए अपने आप को भड़कीले रंगों में रंगकर अस्वाभाविक चंचलता में जीने लगी और दूसरी ओर पुरुष के निश्चित आदर्शों तक पहुँचकर दिव्य बनने के लिए अपने अणु-अणु में स्फटिक की स्वच्छ निर्जीवता भरने लगी । [x] स्थिति को स्पष्ट करते हुए स्वयं उर्वशीकार ने लिखा है कि --

> " समाज में अनन्त काल से प्रेम के प्रति सन्तों, चिन्तकों और ईश शास्त्रकारों का व्यवहार पुलिस का सा रहा है । और उन्हीं के भय से मनुष्य ने अपने चेहरे पर पवित्रता का नकाब लगाना मन्जूर कर लिया यद्यपि इस नकाब का उसे अभ्यास नहीं था । "[2]

यहाँ पर यह कहना अनुचित न होगा कि समस्त काम वर्जनाओं और विधि-निषेधों का गुरुतर भार अधिकांश में नारी को ही ढोना पड़ा । उसका अनअभ्यस्त मानस नकाब होते हुए भी उसे नोच फेंकने के लिए अवसर की प्रतीक्षा करता रहा । इस नकाबपोशी के कारण एक ओर उसके स्वत्व के साथ ही उसका काम भी तिल-तिल टूटता रहा [3] तथा दूसरी ओर उसके मानस में पारम्परित व्यवस्था के प्रति इतना क्षोभ भर गया कि वह समूची व्यवस्था -- विशेष कर विवाह की पारम्परिकता -- को एक बारगी ही नकारने लगा।[4]

---

2. रामधारी सिंह दिनकर, विवाह की मुसीबतें, पृ. 22.

3. Society culture and religion have tried very hard to make her totally sexless and it is wonder that she agrees to sex at all. For centuries women have been forced to play this sexless and sub
- Marie Biswas, 'All about Love and Sex. p. 68.

4. If you can use your brain to teach or do research in order to make your living, why cannot another girl use the private part of her body-- her physical asset -- to make living for herself and her people.Dr. Promila Kapoor, 'The Life and World of Call girls in India, page. 122. and also --
"people say we do prostitution, but what else is a woried women doing. She has also to perform the same sex function for pleasing the husband who gives her food and shelter in return." Ibid, page 236.

x. महादेवी वर्मा, साहित्यकार की आस्था तथा अन्य निबन्ध, पृ. 185.

नारी का यह समूचा आक्रोश वस्तुत: उस व्यवस्था के प्रति विद्रोह है जिसने सदियों से उसके स्वत्व को कुचला है । नारी की प्रजनन एवं संतति पोषणकालीन पराधीनता तथा कोमल काया ने पुरुष व्यवस्था को अनेक उत्कोचों सहित स्वीकार किया अवश्य, किन्तु इस स्वीकार को होने की प्रक्रिया में वह स्वयं स्वत्वहीन होकर कहीं गहरे अतल में डूबने लगी । व्यवस्था कालान्तर में परम्परा और आदर्श बनकर उस पर छा गयी । कल्पित मूल्यों के लिये समर्पण का प्रशिक्षण उसकी स्वत्व संभावना को शव पेटिका में अंतिम कील सिद्ध हुआ परन्तु समूची व्यवस्था से भी नारी मुकम्मिल तौर पर मरी नहीं ; उसका स्वत्व कफन फाड़ कर बोल उठा और बाहरी व्यवस्था को अपने नैतिक मानदण्डों को लेकर फिर से सोचने के लिए विवश होना पड़ा । ×

गत पृष्ठों में हमने नारी स्वत्व की समस्या के जिन आयामों को रेखांकित किया है वे वस्तुत: उस पुरुष-व्यवस्था की ही ओर संकेत करते हैं जो नारी स्वत्व को अपने हित में कुचलती आयी है । निस्संदेह नारी की सृजनात्मक शक्ति, यानी- काम, समूचे चिन्तन के केन्द्र में रही है किन्तु यह काम जब नारी की स्वभावज कोमलता तथा आवयविक संरचना की भिन्नता एवं सुरक्षा प्रियता के आधार पर पारुषी संस्पर्शों के संयोग से व्यवस्था की तन्तुल अहेरी बन नारी स्वत्व का आखेट करने लगी तो नारी स्वत्व की समस्या उठ खड़ी

× Sexual morality is the last field of morality to be brought within the sphere of personal responsibility. The community the most varied, complicated and artificial codes of sexual morality on its members specially its feminine members and naturally enough it is always very suspicious of their abilities to abouse the codes, where as the facts remains that sexual union, for a woman as much for a man, is a physiological fact, it may also be a spritual fact, but it is not a social act ..... it is not until a child is born or conceived that community has any right to intrest itself in the sexual acts of its members."
---------- Havlock Ellis, Psychology of Sex, Part, 3, page, 406- 417.

हुयो । उर्वशी में अप्सरा देवो- जो देवो बन कर जो नहीं सक्तो क्योंकि यह देवो भो मानवो-मानस को संरचना है- मानवो, आधुनिका, गृहणो तथा माता सब को सब स्वत्व को समस्या से ग्रस्त हैं । उनका आना आहत अहं आहत होकर कभो ~~xxxxx~~ नियतिवादो चिन्तन का प्रश्रय ग्रहण करता है तो कभी समूचो मानव सृष्टि के पुनर्सृजन को आकांक्षा में अपने चुटोलेमन का दर्द डुबोने का प्रयास करता है ।

संश्लेषण :-

3.3.9.3

संश्लेषण एक अन्विति है उस विखराव को जो विश्लेषण के क्षणों में अपरिहार्य होता है अस्तु विवेचन को तर्कना यह माँग करतो है कि उपलब्ध प्रश्नों के हल प्रस्तुत किये जाँय किन्तु चिन्तन को भूमि पर प्रश्नों के उत्तरों का अर्थ है वेतना को उस धारा को बाँध देना जो किसो बंधन को कदाचित स्वोकार नहीं करतो इसोलिए उसके मार्ग में सन्तोष का हर बाँध अगले हो पल बालू को वह दोवाल सिद्ध होता है जो धार को प्रखरता में खुद तो दहतो हो है साथ हो अपने कछारों को मिट्टो से देर से सवालों वालो ऐसो फसल भो उगा देतो है जिसे काटने के प्रयास में बुद्धि को हँसिया को धार भोथराने लगतो है लेकिन भोथराने को इस प्रक्रिया में उसके रेत होते परमाणु उस पर एक शान चढ़ा जाते हैं और फिर शाश्वतता को कथा हवाओं के साथ-साथ चल पड़तो है ।

प्रस्तुत संदर्भ में कदाचित यह स्वोकार कर लिया जाय कि, " परम्परागत हिन्दू समाज का सामान्य सांस्कृतिक ढाँचा अव्यवस्थित है क्योंकि आज- विशेष रूप से पुरुष, जो लड़कियाँ उनके साथ खुल कर मिलतो जुलतों हैं उन्हें वे केवल मौज उड़ाने का साधन समझते हैं और उनका लाभ उठाना चाहते हैं । सेक्स के मामले में स्त्रियों को स्वतन्त्रता के प्रति उनको अभिव्यक्ति भो अस्थिर है । उनके मन में आदर्श स्त्रो का जो चित्र है वह न्यूनाधिक रूप में एक परम्परागत नारो का चित्र है -विनम्र, संकोवशोल, सतो-साध्वो, भोरू, लजोलो तथा अछूतो स्त्रो× क्योंकि " जबों हो पिता यह समझने लगता है कि बच्चा उनका

× डॉ. प्रमिला कपूर, विवाह सेक्स और प्रेम, पृ. 287.

अंकुर है, बच्चे के प्रति उसके मनोभाव को दो तत्वों द्वारा बल मिलता है : शक्ति को प्रेम और मृत्यु के बाद जीवित रहने की इच्छा । किसी व्यक्ति की सन्तान की उपलब्धियाँ एक अर्थ में उसकी अपनी उपलब्धियाँ होती हैं और उनका जीवन उसके अपने जीवन का ही प्रवाह होता है । आकांक्षा का अंत अब उसके अपने अंत के साथ नहीं होता बल्कि उसे वह अपनी सन्तान के कृत्यों के माध्यम से अनिश्चित काल के लिए जारी रख सकता है । इसप्रकार शिशु पुरुष के अहंका प्रसार है× जिसके द्वारा व्यक्ति एक ओर जैवतल पर अमरत्व को उप - लब्धि करता है तथा दूसरी ओर उसकी यह प्रसार प्रक्रिया उसके व्यक्तित्व की अनंतता है जो आत्मिक स्तर पर जाकर आत्मोपलब्धि की संज्ञा प्राप्त करती है । मार्ग की बाधायें ही उसकी समस्यायें हैं । व्यक्ति ने जब अपने होने की ठीक - ठीक प्रत्याभूति चाही तो समूची नारी इस प्रत्याभूति के नीचे स्वत्वहीन हो उठी । प्रश्न उठता है कि आत्मोपलब्धि और व्यक्तित्व विस्तार की संयुक्त प्रक्रिया का संयोजक धाम- ब्रह्म व्यवस्था - जो अन्ततोगत्वा अपने नैतिकत्व में नपत्व की भूमिका का निर्वहण ही करती है, के कान्तार में अभुक्तता की सुरसा के मुँह में समाकर लक्ष्यहीन कैसे होगया ? क्या काम के मूर्ताधार शिव मदन -दहन की भूमि पर मात्र रौद्र रस हो रह गये या उनके अद्भुत रूपान्तरण की वाचाल्य पवमानता आंजनेय रूप को उपलब्ध कर सुरसा का अतिक्रमण कर सकी ? यदि हाँ तो उसकी संभावित आत्यांतिकता क्या है? इस संभावित आत्यांतिकता की ओर किये गये अस्पष्ट संकेत ही सम्पूर्ण शोध -यात्रा की उपलब्धि के किस स्वरूप को स्पष्ट करते हैं ?

× बर्ट्रेन्ड रसेल, विवाह और नैतिकता, राजकमल प्रकाशन दिल्ली, [तृतीय संस्करण] पृ. 15-16.

खण्ड : तीन

3.4 संश्लेषण

3.4.1 समस्या/ समस्यायें .....

3.4.2 व्यक्तित्व संश्लेषण की समस्या का काव्य उर्वशी .....

3.4.3 आत्मसाक्षात्कार की समस्या का काव्य उर्वशी .....

आज के आदमी की लड़ाई तेरे सारे मोर्चों पर है । हर मोर्चा एक समस्या है किन्तु युद्ध एक ही है । एक ही युद्ध में मोर्चे तेरों होतें लेकिन हर मोर्चे पर लड़ाई एक ही होती है । अस्तित्व की अस्तित्व के साथ । अस्मिता की अस्मिता के साथ । अपने बने रहने के लिये । खुद के जीने के लिये । मृत्यु के पलों में भी जीवन की स्मृति और लालसा व्यक्ति प्रवृत्ति का अन्यतम प्रतीक है ।

--- इसी अध्याय से ।

३.५.३ समस्या / समस्याएँ

यह कहना गलत न होगा कि आज का व्यक्ति समस्याओं में जीता है, जूझता हुआ, भोगता हुआ । वह आज लड़ाई में है अपने अनूठे अस्तित्व को अस्मिता के साथ उन समस्याओं के खिलाफ उनके अंतरबंद मोर्चों पर जिनके पिलबॉक्स हर पल उन पर मृत्यु बरसा रहे हैं । हर गुज़रता लमहा उसके खुले सीने पर अपने अदृश्य हाथों से मौत का पैगाम लिखता जा रहा है । और वह है कि विजय की आकांक्षा, आशा की चमक, असफलताओं का अंधेरा और संघर्ष की थकान को पस्तहिम्मती के कटे दामन में समेटे सदानीरा के जवान कदमों से लेफ्ट-राइट कर रहा है । कहते हैं चक्रव्यूह में अभिमन्यु को सात महारथियों ने मिलकर मारा था लेकिन आज के अभिमन्यु के सामने इतने महारथी हैं कि उनकी गिनती नामालूम तक जा पहुँची है । आज का व्यक्ति एक साथ इतनी समस्याओं से जूझ रहा है कि उसे खुद भी नहीं मालूम कि वह कब किसके खिलाफ वार कर रहा है और कौन उसके खिलाफ ठीक उन्हीं क्षणों में एक और चक्रव्यूह का निर्माण । यानि आज के आदमी की लड़ाई ढेर सारे मोर्चों पर है । हर मोर्चा एक समस्या है किन्तु युद्ध एक ही है । एक ही युद्ध में मोर्चे ढेरों होते हैं लेकिन हर मोर्चे पर लड़ाई एक ही होती है । अस्तित्व को अस्तित्व के साथ । अस्मिता को अस्मिता के साथ । अपने बने रहने के लिए । खुद के जीने के लिए । मृत्यु के पलों में भी जीवन की स्मृति और लालसा व्यक्ति प्रवृत्ति का अन्यतम प्रतीक है ।

कहना ग़लत यह भी न होगा कि यह समूची लड़ाई व्यक्ति को अपनी नासमझी को लड़ाई है अपनी ही नासमझी के खिलाफ, क्यों कि समझदारी में लड़ाई की कोई गुंजाइश होती ही नहीं , जो दरअसल उसकी समझ का नतीजा है हैवानी व्यक्ति मानस ही समस्त सकारों और नकारों का मूल है । और फिर सकारों या नकारों का हो क्यों ? व्यक्ति मानस ही वस्तुत: व्यक्ति के अपने होने के साथ-साथ विश्व के होने का भी बोध कराता है । यदि व्यक्ति से उसका मानस अलग कर दिया जाय तो उसके निकट न अपना कोई अर्थ रह जायगा और न विश्व के किसी प्रपंच का । बोध विस्तार के इस क्रम में जीव-जगत प्रकृति और ब्रह्म सब व्यक्ति मानस की ही उपज है । कदाचित तर्क के लिए यह कहा भी जाय कि व्यक्ति के न होने पर भी प्रकृति रहती है , उसके उपादान रहते हैं । प्रश्न उठता है कि ये रहते हैं इसका प्रमाण क्या है ? व्यक्ति के अर्थ में किसी "अ","ब" ,"स" या "क","ख","ग" को ही लिया जाता है तो उसका कोई अर्थ नहीं होता क्यों कि "अ","ब","स" या "क","ख","ग" के न होने पर भी प्रकृति विद्यमान रहती है यानि भौतिक जगत के प्रपंच रहते हैं इसे बताने के लिए भी तो कोई व्यक्ति शेष रहता ही होगा । यदि कोई व्यक्ति शेष नहीं रहता तो उसका मानस नहीं हो सकता और व्यक्ति मानस के अभाव में किसी भी प्रत्यय की कल्पना नहीं की जा सकती । इसलिए भी क्यों कि समस्त कल्पनाओं का कल्पक व्यक्ति मानस स्वयं है । यानि निष्कर्षत: यह स्वीकार किया जा सकता है कि संसार और उसके सारे प्रत्यय व्यक्ति मानस की संरचना है जिसमें उसका

अपना होना भी अनाहूत ढंग से शामिल है । इस पूरी संरचना की कदाचित विशेषता यह है कि इसका सर्जक स्वयं अपने आपको उससे काट कर अलग एक इकाई मान लेता है और फिर अपनी मेधा से एक पुरुष , प्रकृति , ब्रह्म आत्मा या परमात्मा की सृष्टि करके सबका मूल उसे मान लेता है । इसके साथ ही इसकी दूसरी विशेषता यह है कि व्यक्ति अपनी संरचना को स्वयं प्राप्त करने के लिए लालायित हो उठता है अर्थात स्वयं के द्वारा स्वयं को पाना चाहता है । इस पाने की प्रक्रिया में निवृत्ति और प्रकृति जैसी प्रवृत्तियों की अद्भुत भूमिका रहती है वहीं "सहज" जीवन से लेकर हठयोग तक के विचित्र अनुष्ठान भी । इस प्राप्ति प्रक्रिया में ही वह मोक्ष और निर्वाण जैसे प्रत्ययों को सम्मिलित कर जब उन्हें प्राप्त करना चाहता है तो अपने आपको यथावत् बनाये रखना चाहता है । और तो और प्रपत्ति के "समर्पण" में भी वह विसर्जित होकर रहना चाहता है । इस सारे प्रयास में उसकी स्थिति एक बोध के रूप में रहती है । तभी तो बुद्धत्व की उपलब्धि के बाद 'अमिताभ' सद्धर्म की आयु से अत्यन्त व्याकुल हो उठते हैं । व्यक्ति की धार्मिक बुद्धि इस चिन्ता के साथ सात्विक विशेषण जोड़कर संतुष्ट हो जाती है किन्तु इसके बाद भी जो प्रश्न शेष रहता है वह यह कि क्या बुद्धत्व की स्थिति में किसी चिंता के लिए कोई स्थान शेष रहता है । श्रद्धा कदाचित् ऐसे प्रश्नों पर कान मूंदना ही पसंद करती है किन्तु इस शुतुरमुर्गिता से ऐसे प्रश्न की अपनी स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं होता ।

व्यक्ति की मानसी संरचना और उसके बोध को लेकर एक और

स्थिति जो हमारे सामने ढ उभरती है वह उसके बोध पर सीधा आक्रमण है । व्यक्ति को अपना दृष्टि जब अपने ही प्रत्ययों को देखता है तो उनके संबंध में व्यक्ति का समूचा ज्ञान, चाहे वह मात्र अनुभूति जन्य हो अथवा प्रयोगशाला परीक्षित, उपकरण-साध्य विज्ञान संवलित - विज्ञान वस्तुत: सार्वभौमता के निकट पहुचने का प्रयास अधिक करता है किन्तु वैज्ञानिक प्राय: ज्यों-ज्यों बोध के निकट पहुँचते हैं उनकी सार्वभौमता तथा तार्किकता चुकने लगती है - व्यक्ति मानस की प्रतिक्रिया के संबंध में अधिक प्रमाणिक होता है - यानी उसमें व्यक्ति सापेक्षता ही अधिक होती है वस्तु सापेक्षता कम । व्यक्ति और वस्तु के साथ सापेक्षता का प्रत्यय संयोग ही वस्तुत: इस संबंध में प्रमाण है । इस कथन से कदाचित विज्ञान के अनेक सूत्र तथा वस्तु जगत की ढेरों जानकारियों की प्रामाणिकता खटाई में पड़ती प्रतीत हो सकती है किन्तु इस संबंध में व्यक्ति के सामान्य मानस या आद्य रूप × जिसकी पृष्ठभूमि में उसका सामूहिक अवचेतन सक्रिय रहता है तथा जिसके कारण ही साधारणीकरण की प्रक्रिया संभव हो पाती है, के अद्भुत योगदान को नहीं भूलना चाहिये ।

मानस संरचना के इस व्यक्ति बोध में कदाचित सबसे बड़ी कठिनाई उस समय उठ खड़ी हुयी जब व्यक्ति मानस ने अपने चिन्तन से एक ओर आत्यान्तिकता की खोज में आध्यतात्म जगत और उसका परमात्मा आविष्कृत कर

× An archetype is a universal thought from which contains a large element of emotion. The collected works of C.G. Jung. page 84.

लिया तथा दूसरी ओर अपनी यात्रा के प्रस्थान बिन्दु को अपनी ही दृष्टि में निकृष्ट ठहरा कर उसे भौतिकता की गाली दी । (आज भी तथा कथित महात्मा लोग भौतिकता के नाम से भड़कते हैं) यद्यपि इस सारे प्रयास में भौतिकता उससे छूटी नहीं । छूट भी नहीं सकती क्योंकि आत्यान्तिकता के जिस आध्यात्मिक जगत का बखान उसकी बुद्धि पूरे जोरों से कर रही थी तथा जिसमें उसने अपनी सुविधा के लिये बुद्धि का भी खंडन करके अन्तर्ज्ञान या इलहाम को शामिल किया, वहवस्तुत: वायवीय था और है । इस वायवीयता को भी यदि व्यक्त होना है तो उसे भौतिक आधारों का प्रश्रय ग्रहण करना ही होगा । कदाचित परम सत्ता की अभिव्यक्ति के लिये अवतारवाद की संकल्पना के मूल में भी ऐसा ही कोई चिन्तन सक्रिय रहा हो । विज्ञानवादियों की ऊर्जा का समस्त विचार तब तक सिद्ध नहीं होता जब तक उसकी अभिव्यक्ति गति के रूप में दृष्टिगत नहीं होती । ऊर्जा के कतिपय ऐसे रूप जो स्पर्श जन्य हैं जैसे ताप की हल्की मात्रा इत्यादि किन्तु इन्हें भी कहीं कहीं गति के रूप में प्रकट होना पड़ता है । इसके साथ ही ऊर्जा के आत्यान्तिक स्वरूप के निकट पहुँचता वैज्ञानिक निश्चिन्तता की सामान्य लोक से हटकर रहस्य चिन्तक हो जाता है तथा उस समय यदि उसके पास कोई निश्चित धारणा रह जाती है तो मात्र यही कि निश्चित कुछ भी नहीं होता, जो प्राय: स्यादवाद में डूबी रहती है । इस अनिश्चितता और स्यादवादिता का अर्थ उपलब्ध ज्ञान के प्रति अवज्ञा या एतत् सम्बन्धी प्रयासों का उपहास न होकर उस सब का स्वीकार है जो कदाचित उपलब्धि की प्रक्रिया में उपेक्षित रह जाता है ।

मानस चिन्तन की इस प्रक्रिया में बोध यात्रा के प्रस्थान विन्दु के रूप में आत्यान्तिकता के किसी न किसी विन्दु को स्वीकार करने की बाध्यता विज्ञान एवं मानविकी के समस्त चिन्तकों के सम्मुख समान रूप से रही है, इससे कोई तात्विक अंतर घटित नहीं होता कि आदि विन्दुओं की संज्ञा किसी अनुशासन के किस चिन्तक ने किस रूप में दी या उसे व्यापक रूप में किस में स्वीकृति मिली। शब्दों का परिवर्तन मूल के रूप में कोई परिवर्तन उपस्थित नहीं करता। यद्यपि इस सम्बन्ध में चिन्तक विशेष की अपनी परिस्थिति एवं उस अनुशासन की स्थिति, जिसके अन्तर्गत वह अपनी चिन्तन यात्रा का आरम्भ करता है, भी महत्वपूर्ण होती है। चिन्तन यात्रा के प्रस्थान विन्दु की आत्यान्तिकता के रूप में ब्रह्म, आत्मा, परमात्मा, चेतना, प्रकृति और ऊर्जा के समस्त प्रत्यय वस्तुतः एक ही विन्दु की ओर संकेत करते हैं। कदाचित व्यक्ति को ही आधार मान कर अपनी चिन्तन यात्रा के प्रस्थान विन्दु के रूप में यदि परमात्मा या आत्म बोध को स्वीकार कर लिया जाय तो इससे व्यक्ति - समस्या के समूचे स्वरूप को उसके व्यक्तित्व संदर्भ में समझा जा सकता है।

समस्या व्यक्ति जीवन से सीधे संबंधित होने के कारण उसके व्यक्तित्व से जुड़ी होती है या उसके व्यक्तित्व का ही अविभाज्य अंग होती है। हम व्यक्तित्व की मनोदार्शनिक पृष्ठभूमि वाले अध्याय में यह स्पष्ट कर चुके हैं कि व्यक्तित्व यात्रा का प्रस्थान यद्यपि उसके वर्तमान विन्दु से ही संभव है किन्तु इस यात्रा के गन्तव्य के रूप में उसके उस आदिम रूप की दृष्टि पथ से ओझल नहीं किया जा सकता जिसका आकर्षण उसे विभिन्न रूपों में अपनी ओर

आकृष्ट किया करता है । आकर्षण की यह रूप-श्रेष्ठ भिन्नता भी वस्तुत: उस पर्यावरण के कारण होती है जिसके निकटतम बिन्दु से व्यक्ति अपनी यात्रा से गुजरता है । ×

व्यक्तित्व पूरी तरह से गतिक होता है और उसकी यह गतिशीलता उसके चारों ओर फैले उस महाशून्य को रूपायित करती है जो उसे पूरी तरह से अपने अंक में लिये रहती है या जो व्यक्ति के अन्दर और बाहर भरी रहती है । इस शून्यता के कारण ही वह गतिक दृष्टिगत होता है । स्वीकार किया जा सकता है कि इस विराट शून्यता में गति करते हुये व्यक्तित्व के अचेतन मानस में कहीं पूर्णत्व की वह संयुक्तावस्था भी विद्यमान रहती है जिससे उसकी यात्रा का आरम्भ हुआ था । पर्यावरण की विभिन्नता उसके चारों ओर इतने छद्म खड़े कर देती है कि वह इस छद्म शून्यताओं को भी सत्यवत् ही ग्रहण करता है । दर्शन की भाषा में इसे ही माया कहा गया है । माया का अर्थ असत्य नहीं ही होता । माया वह है जो है भी और नहीं भी । तुलसी इसे " केसव कहि न जाय का कहिये " की शब्दावली में ही व्यक्त कर सके । इसी स्थिति का दूसरा नाम अध्यास है, जो सत्य का आभास देता है किन्तु सत्य नहीं होता मनोविज्ञान की शब्दावली में इस समूची परिदृश्य कल्पना को "जेस्टाल्ट" कहा गया है ।

असत् से सत् की उत्पत्ति संभव नहीं लेकिन असत् में सत् अनाहूत रूप से विद्यमान अवश्य रहता है । व्यक्ति के अपने होने का बोध जहाँ उसे

× देखिये , लेविन का क्षेत्र सिद्धान्त ।

पर्यावरण के प्रति एक जागरूकता से भरता है वहीं उसे पर्यावरण में व्याप्त अभावों के प्रति सचेत भी करता है । संदर्भित बोध ही उसका अस्तित्व बोध है जो अपने चतुर्दिक के अभावों की पूर्ति में अपने को समूचे पन से जुटा रहता है किन्तु उसकी अखण्डता उसकी इस प्रयास धर्मिता में खण्डित हो जाती है जिसके कारण वह अपने प्रयासों किंवा लक्ष्यों के प्रति भी संदिग्ध हो उठता है । व्यक्ति मानस की यह स्थिति उसकी द्वन्द्वात्मकता है ।

व्यक्ति -पर्यावरण की शून्यता एक अध्यास है । इसकी अध्यासिता का प्रमाण यह है कि इसे भरने के समस्त प्रयास अन्ततोगत्वा एक रिक्तता को सृष्टि करके ही चुक जाते हैं । इसके साथ ही इन पर्यावरणों के मध्य सक्रिय व्यक्ति का अस्तित्व बोध एक ओर आत्म-रक्षण यानी अपने बने रहने की चिन्ता से आकुल रहता है तो दूसरी ओर इस बने रहने की सातत्यता भी उसे चैन नहीं लेने देती । बने रहने की चिन्ता उसके मृत्यु-भय का विपर्यय है तथा बने रहने की सातत्यता का प्रयास अमरत्व की खोज । एक का प्रतिफलन विविध संघर्षों में होता है तो दूसरे की परिणति जैवतल की अतुलनीय पुलकों में अर्थात् आनन्दोपलब्धि में । आनन्दोपलब्धि के इस मार्ग में पुन: उसका मानस एक ओर सातत्य की विखण्डता से आकुल हो उठता है तथा दूसरी ओर उसके मानस की जागरूकता बोध अखण्डता की तलाश में विधि-निषेधों की संरचना कर अपने आप को अखण्डता से और दूर ढकेल देता है । विधि-निषेधों की यह संहिता उसकी नैतिकता है जो नयत्व की भूमिका का निर्वहण परम्परा के संदर्भों में करती हुई भी व्यक्ति लक्ष्य से दूर ले जाती है फलत: असत् से असत् की तथा शून्य से शून्य की ही सृष्टि

होने लगती है तथा इन सबका जोड़ जब व्यक्तित्व बोध के निकट आकार ग्रहण करके अपनी अर्थवत्ता में मुकुलित होता है तो शून्य का आकार इतना विराट हो जाता है कि सत्य-साधी के चर्मचक्षु अपने पूर्ण विस्फारण में भी उसे ग्रहण नहीं कर पाते । उसके आगे समस्याओं के आकार अनन्तता के क्षितिज का स्पर्श करने लगते हैं । तात्पर्य यह कि मूल संयुक्तावस्था को उपलब्ध करने के प्रयास में व्यक्ति -मानस के सम्मुख अनेक समस्यायें उगने लगतीं हैं ।

सामान्य अनुभव की बात है कि व्यक्ति जीवन में जिन अभावों का अनुभव करता है उनकी पूर्ति के क्षण में उसे एक भरे पन का अनुभव होता है । कहा जा सकता है कि जीवन में अनुभव होने वाला प्रत्येक अभाव एक रिक्तता का बोध है तथा उसकी पूर्ति एक पूर्णता का । यानी व्यक्ति अपने अभाव पूर्ति के क्षणों में पूर्णता के बोध से भरा होता है जिसके कारण उसे संतुष्टि का अनुभव होता है । भरने का या पूर्णता का यह बोध वस्तुत: व्यक्ति के जैव तल पर होने वाले उस पूर्णत्व बोध के आदिम बोध की एक झलक होती है जो सम्भवत: उसके व्यक्ति रूप में अभिव्यंजित होने से पूर्व उसकी संयुक्तावस्था में रही होगी । पर्यावरण की विविधता तथा व्यक्ति बोध की अस्तित्व जन्य एवं काल संदर्भित विखण्डनशीलता इस बोध की समग्रता को उसकी शाश्वतता में अनुभव नहीं होने देती परन्तु एकाग्रता की सतीरियों के मध्य काल की क्षणता का खण्ड बोध जब निश्शेष हो जाता है तो व्यक्ति अपने अस्तित्व कों केंचुल से बाहर आकर अखण्डता का अनुभव भी करता है । समग्रता के एकाग्र क्षणों में व्यक्ति के निकट न तो उसका अस्तित्व बोध ही होता

न काल बोध हो किन्तु अस्तित्व को बोध क्षमता इतनी बलवती होती है कि वह उसे पुनः दिक्-काल की सीमाओं में खींच लेती है जिसके कारण उसकी एकाग्रता की समाहिति नष्ट हो जाती है । नष्ट क्षणों में पूर्व क्षणों की स्मृति की संज्ञा व्यक्ति के अन्तर्मन में आत्मबोध की झलक बन जाती है जिसे प्राप्त करने के लिये वह पुनः प्रयत्नशील हो उठता है । वस्तुतः व्यक्ति का समस्त बोध एक खण्डबोध है जिसमें एक ओर एकाग्र समग्रता की स्मृतियाँ निहित रहतीं हैं तथा दूसरी ओर उन्हें पुनः प्राप्त करने के आकुल प्रयास ।

उर्वशी के तथ्य अनुशीलन में हमने पाँच समस्याओं का निर्धारण किया तथा उनका विश्लेषण करते समय उनके अनेक आयामों को रेखांकित करने का प्रयास किया । वस्तुतः ये समस्यायें पाँच न होकर अपने मूल में एक ही समस्या के पाँच आयाम हैं जो अस्तित्व और पर्यावरण के कारण विभिन्न आकारों में दिखाई देते हैं ।

अमरत्व की समस्या वस्तुतः उस संयुक्तावस्था का आदिम अनुभव है जिसे व्यक्ति अपने अचेतन में निरंतर ढोता रहता है, किन्तु अपने चेतन में उसका अभाव अनुभव किया करता है । अस्तित्व के स्तर पर पर व्यक्तित्व के साथ जब उसका पर्यावरण जन्य बोध सक्रिय हो उठता है तो वह अपने इस मूल प्राक्य की तलाश विभिन्न आयामों में किया करता है जिसके कारण ऐसा प्रतीत होता है मानो उसका व्यक्तित्व विकास का मार्ग खोज रहा हो । यहाँ पर ध्यातव्य है कि व्यक्तित्व के संदर्भ में खोज लक्ष्य को नहीं लक्ष्य तक पहुँचानेवाले मार्ग को ही प्रधान रहती है यद्यपि अमरत्व की आकांक्षा का

लक्ष्य उसके सामने रहता है । सौन्दर्य के रूप में वह जिस अरूप के दर्शन करता है वह उसके उस आदिम आदर्श का ही प्रारूप होता है जिसे वह यथावत् आत्मसात करना चाहता है उसे अपने आप में भर लेना चाहता है । उसकी आकांक्षा कदाचित साक्षात्कार के क्षणों में यह होती है यह समूचा सौन्दर्य उसके अन्दर समा जाय या वह इसका एक मात्र स्वामी बन जाय । सौन्दर्य को पूरी तरह पा लेना, अपने आप में भर लेना उसे भोगना है । किन्तु उपभोग के प्रयास में उसका अपना मृत्यु भय उस पर छा जाता है और वह अपनी और सौन्दर्य दोनों की अक्षुण्णता की चिन्ता से ग्रस्त हो उठता है । व्यक्ति सम्बन्धों को लेकर सौन्दर्य का सबसे उत्कृष्ट रूप पुरुष के निकट नारी होती है जिसकी सौन्दर्य सुधा को वह पूरी तरह पीकर अपनी समूची शून्यता को एक बारगी भरना चाहता है किन्तु शून्य की विराटता और सौन्दर्य की अनन्तता के समानान्तर चलने वाला व्यक्ति का क्षीण बोध उपभोग के मार्ग में समस्या खड़ी कर देता है ।

व्यक्ति के अस्तित्व तल पर सौन्दर्य और नारी का संयोग और उसके उपभोग की उद्दामता की अबाधित आकांक्षा की प्रेरणा जहाँ अमरत्व की खोज को सन्तति के रूप में परम्परा को शाश्वतता प्रदान करती है वहीं संयोग के क्षणों में होने वाला दिक्-काल का अतिक्रमण उसे आनन्दोपलब्धि की ऐसी पुलकों से भर देता है कि उन क्षणों का अनन्त विस्तार व्यक्ति का अस्तित्व काम्य हो उठता है ।[×] परन्तु बोध की जागरूक जड़ता व्यक्ति को इन अप्रमेय क्षणों के मधुमय उद्वेग की उद्दामता के मध्य सुप्त पुंसत्वहीन कर देती है जिसके

× एक सघन क्षण में समेटने दो विस्तार समय का,
एक पुष्प में भर त्रिकाल की सुरभि सूँघ लेने दो ।- उर्वशी, पृ.54.

कारण एक ओर उपभोग से व्यक्ति का काम वंचित रह जाता है तथा दूसरी ओर इसके दूरगामी परिणाम के फलस्वरूप शून्य को वह विराटता कुछ और फैलकर व्यक्ति को आत्मोपलब्धि का मार्ग अवरुद्ध कर देती है ।

नारी स्वत्व की समस्या वस्तुत: पुरुष के मन में नारी को लेकर उठने वाली समस्या की ही अभिव्यक्ति है । पुरुष एक ओर अपनी परुषता में नारी को अपने उपभोग की वस्तु मानता रहा है तथा दूसरी ओर उसकी परुषता को बगल में कुलबुलाती उसकी नारी चेतना पूरे वेग से अपने स्वत्व के लिये संघर्ष करना चाहती है । नारी अपने स्वत्व के क्षणों में पुरुष पर अपना एकाधिकार पाना चाहती है । उसके निकट पुरुष की भ्रमरवृत्ति उसके उस स्वत्व को चुनौती है जिसके द्वारा वह पुरुष को उसकी समग्रता में पाना चाहती है । आदिम चेतना का नारी अंश भी अपनी रिक्तता को पुरुष के सम्वेदन से भरना चाहता है । यह बिल्कुल अलग बात है कि नारी ने अपने इस शून्य को भरने के लिये कभी अपने नारी पन के सौन्दर्य को व्यंजित किया तो कभी समर्पण की श्रृंखलाओं का पाश फैलाया । उपायों की भिन्नता से उद्देश्य में अन्तर नहीं आता । नारी का अपना उद्देश्य भी वस्तुत: अपनी उस आद्य रिक्तता को भरना ही रहा है जिससे पुरुष परिचालित रहा है । जहाँ तक नर के सौन्दर्य का प्रश्न है नारी भी उससे पूरी तरह अभीभूत रही है । पुरुष के निकट यदि नारी प्रकृति का सबसे मनोहर चित्र रही है तो नारी के निकट पुरुष भी कभी कुछ कम सुन्दर नहीं रहा । ×

× " यह ज्योतिर्मय रूप प्रकृति ने किसी कनक पर्वत से
काट पुरुष प्रतिमा विराट निज मन के आकारों को,
महाप्राण से भर उसको फिर भू पर गिरा दिया है; (अगले पृ. पर)

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि व्यक्ति जीवन में उठनेवाली कोई भी समस्या चाहे वह अमरत्व की हो, व्यक्तित्व के विकास की हो, काम की हो, सौन्दर्य बोध की हो, अथवा नारी स्वत्व की हो, मूलत: उस शून्यता को भरने का प्रयास है जो उसकी अस्तित्व -यात्रा के क्षण में अपने मूल विन्दु से पृथक होने के कारण निर्मित हुआ था । बोध के स्तर पर चूँकि समस्त बोध व्यक्ति चिन्तन का परिणाम है - यदि व्यक्ति के अपने होने को "आत्म" स्वीकार कर लिया जाय तो व्यक्ति का अपने मूल से साक्षात्कार - यानी उस बोध का समाप्त हो जाना जिसके कारण उसे अलग या अलगाव प्रतीत होता है, क्योंकि अलगाव भी तो एक बोध ही है , - ही उसके जीवन की प्रमुख समस्या सिद्ध होती है तथा अन्य सभी समस्यायें उनके विभिन्न आयाम । इसके साथ ही व्यक्ति के जैव स्तर पर, उसके समस्त प्रयासों के मध्य - अर्थात् आत्म तथा जैव तल के मध्य - उसका मानस सदा सक्रिय रहता है जिसकी समस्त चेष्टा अपने मूल रूप से संश्लिष्ट हो जाने की रहती है, इसलिये, इस मूल समस्या की व्याख्या व्यक्तित्व संश्लेषण की समस्या के अन्तर्गत ही की जा सकती है ।

{ गत पृष्ट का शेष } :----

" स्यात् स्वर्ग की सुन्दरियों, परियों को ललचाने को,
स्यात् दिखाने को धरती जब महावीर जनती है,
असुरों से वह बली, सुरों से मनोज्ञ होता है । "

- - - उर्वशी, पृ. 59.

3.4.2 व्यक्तित्व संश्लेषण की समस्या का काव्य उर्वशी

व्यक्तित्व, बोध के तल पर उगा हुआ अभावों का वट-वृक्ष अपने मूल में भाव के सागर से रस ग्रहण किया करता है किन्तु उसकी ऊर्ध्वगामी शाखायें-प्रशाखायें जब आकाश की शून्यता को निहारती हैं तो उनके अन्दर अभाव का कहीं इतना गहरा बोध जाग उठता है कि वे अपनी अनन्त बाहों से समूचे आकाश को अपने अन्दर समेट लेना चाहती हैं । कदाचित वे नहीं जानतीं कि भाव की स्थिति उनके मूल में है तथा आकाश की ओर उनकी ऊर्ध्वगामी प्रवृत्ति ही उन्हें उनके मूल रूप से दूर करती जा रही है । व्यक्ति अपने जीवन में विश्व की समस्त विभूति को भर लेना चाहता है । उसकी आकांक्षा सहस्राक्ष होकर अपनी शून्यता को ताकती रहती है । व्यक्ति अपने जीवन में भरना चाहता है उसके सारे प्रयत्न, उसकी समस्त गति कुछ पा लेने के प्रयत्न में लगी दिखाई पड़ती है । वस्तुत: व्यक्ति अपने व्यक्तित्व में ही खाली है । वह अपने आप को सदा वस्तु या विचारों से भरना चाहता है । अधिकांशत: तो विचारों का स्थान भी वस्तु के बाद आता है । उसके निकट जो भी कुछ उसे भरता है वह वस्तु ही बन जाता है । भले ही वह करेन्सी नोट हो, सोना हो, रत्न हो, स्त्री हो, या परमात्मा हो । परमात्मा, जिसका अविष्कर्ता व्यक्ति स्वयं है तथा जिसकी पूजा भी व्यक्ति प्रत्यक्षत: किया करता है, भी उसके अपने भरने का साधन मात्र है । व्यक्ति जीवने में जब वस्तु से हटता है तो परमात्मा को पकड़ लेता है । और नहीं तो, जो लोग परमात्मा को नहीं मानते मुक्ति मोक्ष या फिर निर्वाण को पकड़ लेते हैं ; उन्हें कुछ न कुछ अपने

खालीपन के लिये बतौर खुराक चाहिये अवश्य । निवृत्ति मार्ग पर चलने वाली जीवन प्रवृत्ति ने संसार के वैभव त्याग की घोषणा बड़े जोर-शोर से की किन्तु संतोष से अपने आप को भरने का उपदेश उतने ही बल से लोगों को पिलाना आरम्भ कर दिया, गोया कि हम सब बिना कुछ भरे रह ही नहीं सकते ।

कलाकार अपनी कला के माध्यम से कुछ न कुछ पाना चाहता है । सांसारिक वैभव या भौतिकता के परित्याग की घोषणा उसकी निस्पृहता का उद्घोष भले ही हुई बन जाय किन्तु यश और त्याग का गौरव भी वह छोड़ सके ऐसा कम देखा जाता है । वैभव मिले न मिले, किन्तु यश तो मिलना ही चाहिये । और नहीं तो कला को, जिसका वह अपने आप को सर्जक मानता है, प्रशंसा तो होनी ही चाहिये । कला सृजन के माध्यम से कलाकार ऐसा बहुत कुछ पा लेने का प्रयास करता है जो सामान्यत: जीवन में उसका काम्य होते हुये भी उसे नहीं मिल पाता । भौतिक उपादानों की निन्दा में वह अपने त्याग का गौरव तो अनुभव करता ही है इसके साथ ही भौतिक वस्तुओं की निंदा प्राय: यह कह कर की जाती है कि ये सभी नाशवान है ; यानी यदि ये नाशवान न होकर अविनश्वर होतीं तो उन्हें स्वीकार करने में कोई हानि न थी । उनके अस्वीकृत किये जाने का मात्र इतना ही कारण है कि वे नाशवान हैं अर्थात् स्वीकार कर्ता स्वयं मृत्यु से भयभीत है तथा उसकी दृष्टि किसी ऐसी वस्तु पर केन्द्रित है जो अविनश्वर है । दृष्टि के बिन्दु बदल जाने से मूल प्रवृत्ति में कोई अन्तर नहीं पड़ता । सिद्ध यह होता है कि प्रत्येक कुछ न कुछ तलाश कर रहा है अपनी रिक्तता को भरने के लिये । खालीपन व्यक्ति के व्यक्तित्व का ढंग है ।

उर्वशी का सर्जक कलाकार अपनी रचना के माध्यम से अपनी किसी ऐसी रिक्तता को भरना चाहता है जिसकी पूर्ति अन्य किसी माध्यम से संभव न थी । भरने का भाव या भर जाने की तृप्ति की अनुभूति उसे भाव को किसी उस आदिम अनुभूति से संश्लिष्ट कर देती है जिसके खालीपन को वह रचना की पूर्ति तक अनुभव करता आया था । रचना की पूर्ति के क्षणों में होने वाला संतोष उसके समूचे व्यक्तित्व को उस मूल प्रत्यय से संयुक्त कर देता है जिसका वियोग उसके अन्दर दूरियों के शून्य भरता रहा था । उसका समूचा व्यक्तित्व जो अधूरेपन के बोध से छटपटा रहा था कला की पूर्णता के क्षणों में पूर्णत्व के बोध से भर जाता है । व्यक्तित्व का अपना होना ही इस महा-मिलन की वेला में मिट जाता है । तात्पर्य यह कि कला का समूचा प्रयास व्यक्तित्व को अपने मूल प्रत्यय से संश्लिष्ट करता है । उर्वशी का सर्जक इस तथ्य का अपवाद नहीं हो सकता अस्तु उर्वशी उसके अपने व्यक्तित्व की के संश्लेषण की समस्या का काव्य है जिसकी अविकल झंकृतियाँ उसकी रचना में स्पष्ट सुनी जा सकती हैं ।

पुरुरवा का अपना व्यक्तित्व अधूरा है । वह अपने व्यक्तित्व के संश्लेषण दो प्रत्ययों को पहचानता है जिनमें एक है -- उसका अमरत्व तथा दूसरा है उर्वशी का सानिध्य । अमरत्व के माध्यम से जैविक अभाव की पूर्ति होती है तथा उर्वशी के द्वारा उस आदिम क्षुधा को भोजन मिलता है जो अयुत युगों से × वियोग की भूख झेलती आयी थी तथा जिसकी तृप्ति उनके संयोग से संभव होती है । पुरुष जब किसी स्त्री को अपनी बाहों में कस लेता है तो जितना

× " अयुत युगों से प्रसून यों ही खिलते आये हैं,
नित्य जोहते पन्थ हमारे इसी महा मिलन का ।"
-- उर्वशी, पृ. 57.

सुख उसे इस स्पर्श जन्य पुलकाहट में मिलता है उससे कहीं अधिक इस भाव से कि वह स्त्री उसकी बाहों में है ; उसके अपने अधिकार में है । अधिकत्व का यह भाव ही उसके मन के खाली पन को भर कर उसके व्यक्तित्व को एक संश्लिष्ट-जन्य संतोष प्रदान करता है । पुरुरवा उर्वशी को प्राप्त कर चुका है किन्तु अधिकत्व का सुख भोग के प्रकम्पित आनन्द से कहीं अधिक है । उर्वशी के अन्तर्धान होने पर उसका समस्त पौरुष एकाएक खौल उठता है ; वह देव विजय के अभिमान पर निकल पड़ना चाहता है किन्तु प्रारब्ध का एक संकेत उसके मन्यु को शांत कर उसे सन्यासी बना देता है । खालीपन में वह रह नहीं सकता । अन्य की उपस्थिति उसे जिन क्षणों में पूर्णत्व के बोध से भरती है उन्हीं क्षणों में अस्तित्व बोध में होने की प्रक्रिया का श्री गणेश भी हो जाता है । पुरुरवा का व्यक्तित्व उर्वशी संश्लिष्ट होना चाहता है किन्तु हो नहीं पाता ।

उर्वशी उस देवलोक की अप्सरा है जिसे मनुष्य की मेधा पूर्णत्व के प्रतीक के रूप में मानती आयी है । किन्तु उसका अपना व्यक्तित्व भी शून्यता से भरा हुआ है । अमरलोक का समस्त वैभव व्यक्ति की अपनी अपूर्णता को दूर करने में सक्षम नहीं । इसीलिये उर्वशी अपने पूर्णत्व की खोज में इस पृथ्वी पर आती है । उसका व्यक्तित्व पुरुरवा का सानिध्य पा कर खिल उठता है :- -

" यह कैसे वैसी माधुरी ? कौन स्वर लय में गूँज रहा है
त्वचा -जाल पर रक्त शिराओं में अकूल अन्तर में ?
ये उर्मियाँ अशब्द नाद ! उफ री बेबसी गिरा की ।
जागे कोई शब्द ? कहूँ क्या कह कर इस महिमा को ? [×]

× × × ×

और मिले जब पृथक-पृथक तुम विद्युत चमक उठी थी
इन्द्र धनुष बन कर भविष्य के नीले अंधियाले पर । "[2]

× रामधारी सिंह दिनकर, उर्वशी, पृ. 57.

2 वही, पृ. 58.

" तुम मेरे प्राणेश ज्ञान गुरु लखा मित्र सहचर हो
जहाँ कहीं भी प्रणय सुप्त था शोणित के कण-कण में
तुमने उसको उसको छेड़ मुझे मूर्च्छा से जगा दिया है । "×

× × ×

" प्रथम-प्रथम हो सुना नाद डगमग पर बजते जग का,
प्रथम-प्रथम हो आँदि उषा को द्युति में भोग रहो हूँ ।"2

यह आदि उषा को द्युति में भोगना वस्तुत: उस आदिम बोध से संयुक्त होना है जिसको स्मृति व्यक्ति मानस अपने समूचे व्यक्तित्व में खोया करता है, किन्तु उर्वशी का व्यक्तित्व उशीनर की समस्या से मुक्त नहीं है । वह अभिशप्त है । वह पुत्र या पति दो में से किसी एक को ही पा सकती है तथा दोनों के आमने-सामने होने पर उसे पुन: उसके अभाव की शाश्वतता में जीना होगा ।

औशीनरी का समूचा व्यक्तित्व अवश्लिष्ट है । वह कभी अपने अहं को भरने के लिये पुरुरवा के प्रति समर्पित होने का छद्म बखान करती है, वस्तुत: समर्पण का छद्म भी तो अपने आप को भरने का दोहरा प्रयास है, एक ओर इस प्रयास के द्वारा व्यक्ति दूसरे को अपने वश में करता है तथा दूसरी ओर उसने समर्पण किया है - इस भावना से अपने अहं को सहलाया करता है ; तथा कभी कभी अपनी असफलताओं पर हाथ मलती है । समर्पण की पूर्णता के बिन्दु पर पश्चाताप के लिये कोई स्थान नहीं होता किन्तु औशीनरी में है :--

" हाय सखी ! मैं कदर्य दीनों अनुदार कृपण हूँ,
केवल शुभ कामना माँगलिक से क्या होता है ?
मैं ही दे पायी न भावमय वह आहार पुरुष को
जिसको उन्हें अमर क्षुधा, उतनी आवश्यकता थी ।

× × ×

× रामधारी सिंह दिनकर, उर्वशी, पृ. 58.
2. वही, पृ. 59.

" हार गयी मैं हाय ! अनुत्तम, अमर ऋद्धि जीवन की
प्राणों के प्रार्थना भवन में बैठी ध्यान लगा कर । "×

औशीनरी का यह इजहार वस्तुत: उसके व्यक्तित्व की विखण्डितावस्था का परिचायक है व्यक्तित्व की विखण्डितावस्था से मुक्ति का उपाय उसका संश्लिष्टीकरण है जिसका उसके व्यक्तित्व में पूर्णत: अभाव है ।

आयु के व्यक्तित्व को "उर्वशी" में न पर्याप्त अवसर मिला है न अवकाश किन्तु जितना कुछ वह दृष्टिगत होता है उसमें संश्लिष्टता का अभाव स्पष्ट है :--

" उदित हुआ सौभाग्य आयु ! तेरा अमर अंकट में । "2

आयु का सम्पूर्ण व्यक्तित्व स्त्रियों की छाया में ही विकसित होता है :--

" पिया दूध ही नहीं, जननि ! मैं करुणामयी त्रिया के
क्षीरोज्ज्वल कल्पना लोक में पलकर बड़ा हुआ हूँ ।
जो कुछ मिला नारी हृदय से, माँ के उजले उदर से,
मिला नहीं, मैंने जीवन में माताएँ देखी हैं । "3

प्रश्न उठता है कि मात्र क्षीरोज्ज्वल कल्पना लोक में पलने वाला व्यक्ति क्या संश्लिष्ट -व्यक्तित्व भी हो सकता है ? उत्तर भी स्पष्ट है नहीं । उर्वशीकार स्वयं इसी मत का समर्थक है :--

" किन्तु पुरुषों की रचना यदि नारियाँ करने लगें, तो पुरुष की कठोरता जाती रहेगी और अधिक भावप्रवण एवं मृदुलता से युक्त हो जायेगा । ..... पुरुष को रचना नारी करे तो लड़ाई में वह हार जाता है । "4

× रामधारी सिंह दिनकर, उर्वशी, पृ. 126.
2. वही, पृ. 121.
3. वही, पृ. 130.
4. वही, मेरी भूमिका, पृ. "ज".

इस प्रकार हम देखते हैं कि आयु के अपने व्यक्तित्व में संश्लेषण की समस्या विद्यमान है ।

महर्षि च्यवन और देवी सुकन्या को कदाचित संश्लिष्ट व्यक्तित्व कहा जा सकता है किन्तु वास्तविकता इससे भिन्न है । च्यवन का पत्नी आकर्षण उनकी तप की कठोरता से भी समाप्त न हो सका । समाधि भंग के अवसर पर सामने सौन्दर्य को पूरी जीवन्तता में पा कर स्थाणु में कोंपलें फूटने लगती हैं ।[×] उनके व्यक्तित्व की समूची असंश्लिष्टता संश्लिष्ट होने के लिये प्राणों की पूरी आकुलता के साथ प्रार्थना करने लगती है :--

" हरि प्रसन्न यदि नहीं सिद्धि बन कर तुम क्यों आयी हो ? "[2]

सुकन्या को पा लेना क्या च्यवन के व्यक्तित्व की पूर्ण संश्लिष्टता स्वीकार की जा सकती है । क्या सुकन्या को पाकर च्यवन पूर्ण संतुष्ट हो सकी इनकी पूरी कथा उर्वशी में नहीं है लेकिन जितनी है उससे स्पष्ट उनका पूर्णत्व सिद्ध नहीं होता क्योंकि उनके लिये सुकन्या ही नहीं यौवन भी काम्य है :--

" शुभे तपस्या के बल से यौवन मैं ग्रहण करूँगा
प्रौढ़ मेघ, पावस नवीन, मदकल किशोर कुंजर सा । "[3]

यशार्थिता सुकन्या महर्षि च्यवन को पाकर पूर्णत: संतुष्ट एवं संश्लिष्ट व्यक्तित्व वृद्धिगत होते है [4] किन्तु भोग की विविधता के अनुभव का अभाव वह स्पष्ट रूप से अनुभव करती है :--

" एकाचारिणी मैं क्या जानू स्वाद विविध भोगों का "[5]

× " वहाँ मिला यह रूप, देखते हो जिसको पावक को
दाहकता मिट गयी स्थाणु में बनी निकल रहे हैं । "---उर्वशी, पृ.87.

2. रामधारी सिंह दिनकर, उर्वशी, पृ.87.
3. वही, पृ. 87.
4. " क्या कुछ मिला नहीं मुझको दयिता महर्षि की होकर"--उर्वशी, पृ.84.
5. रामधारी सिंह दिनकर, उर्वशी, पृ. 84.

तथा अपनी सीमा और अक्षमता को तर्काचरण से आच्छादित करती है :--

" नहीं एक से अधिक प्राण नारी के भी होते है,
तो फिर वह पातिव्रत खिलाकर क्या विभिन्न पुरुषों को ?
और पुरुष कैसे जी लेता पाये बिना हृदय को ? " ×

चुकन्या के इस पूरे तर्क की पृष्ठभूमि में भारतीय नारी के पातिव्रत की परम्परा का विश्वास है, अनुभूति का बल नहीं :--

" किन्तु एक तरु से लग सारी आयु बिता देने में
जो प्रफुल्ल का गहन शान्ति है, वह क्या कभी मिलेगी
नये-नये फूलों पर नित उड़ती फिरनेवाली को । " 2

प्रश्न उठता है - जो चुकन्या स्थिति के केवल एक ही पक्ष से परिचित है वह दूसरे पक्ष की आलोचना कैसे कर सकती है ? निश्चित रूप से इसकी पृष्ठभूमि में पुरुष का वह आदर्श सक्रिय है जिसका प्रशिक्षण युगों से भारतीय नारी को मिलता रहा है । पुरुष ने कभी नहीं चाहा कि उसकी अपनी सम्पत्ति अपनी इच्छा से क्रियाशील हो सके । इस समूचे आदर्श के प्रशिक्षण की व्यवस्था से व्यक्तित्व का संश्लिष्टत्व छिन्न नहीं होता क्योंकि आरोपित आदर्शों के गिरते ही समस्त वर्जनायें भी समाप्त हो जाती हैं जिनके अन्तर्गत पुरुष सत्ता नारी को आदर्शित कर, शृंखलाबद्ध कर संतोष का आभास देने का प्रयत्न करती रही है । चुकन्या के व्यक्तित्व का असंश्लिष्टत्व उस समय उजागर होता है जब वह औशीनरी को नारी की महानता का उपदेश देती है । सांत्वना के मध्य मन की दमित पीड़ा अन्ततोगत्वा फूट ही पड़ती है :-

" हाय ! स्वप्न ! जाने भविष्य भू का वह दिन आयेगा,
जब धरती पर निनद नहीं, नीरवता राज करेगी ;
दिन भर कर संघर्ष पुरुष जो भी इतिहास रचेगा,
बन जायेगा काव्य, सांझ होते ही भवन-भवन में । " 3

×-2. रामधारी सिंह दिनकर, उर्वशी, पृ. 84.
3. वही, पृ. 129.

वह भविष्य में आ अवसर मिलने पर अपनी कल्पना के अनुरूप पुरुष को सृष्टि करना चाहती है :--

" किन्तु कभी यदि मिला हमें निर्बाध सुयोग सृजन का,
हम हो कर निष्पन्न सुकोमल ऐसा पुरुष रचेंगी,
कोलाहल चर्चा निनाद में भी जो श्रवण करेगा
कातर मौन पुकार दूर पर खड़ी हुई करुणा की ।"×

व्यथा की अभिव्यक्ति तथा कामना दोनों ही व्यक्तित्व के अधूरे पन की अभिव्यंजनायें हैं जिनसे संश्लेष की समस्या सिद्ध होती है ।

संश्लेषण वस्तुत: एक आदर्शीकृत प्राक्कल्पना है जिसका रेखीय प्रारूप तो व्यक्ति मानस में होता है किन्तु व्यक्तित्व के प्रति अस्तित्व की जागरूकता रहते इस प्राक्कल्पना को वास्तविकता में नहीं बदला जा सकता । प्राक्कल्पना के वास्तवीकरण में व्यक्ति का व्यक्तित्व यानी उसका अस्तित्व बोध ही सबसे बड़ी बाधा है । व्यक्ति के निकट उसके व्यक्तित्व को लेकर यदि कोई सबसे बड़ी समस्या है तो वह है उसके व्यक्तित्व के संश्लिष्टीकरण की । कहा जा सकता है कि व्यक्तित्व अपने मूल रूप में असंश्लिष्ट होता है इसीलिये व्यक्ति अपने पूरे जीवन में खण्डशत: दृष्टिगत होता है । जहाँ कलाकार की रचना की ओर एकान्विति और पूर्णता का प्रश्न है वह कला समीक्षकों के लिये उनकी दृष्टि में बहुत महत्वपूर्ण हो सकती है स्यात् इसीलिये वे समस्याओं का समाधान न चाहते हुये भी अपनी अधुना दृष्टि में कला की पूर्णता के लिये अन्विति को आवश्यक मानते हैं[2] तथा उसके अभाव में उन्हें कला प्रतिमा में दरारें पड़ती दिखाई देती हैं और सहृदय पाठक के चित्त की समाहिति बिखरती प्रतीत होती है ।[3] बहुत संभव है ऐसा हो । कला समीक्षक के मन पर ऐसा

× रामधारी सिंह दिनकर, उर्वशी, पृ. 129.

2. " प्रत्येक कला रूप के लिये अन्विति की अनिवार्यता असंदिग्ध है... यह मत प्राय: सर्वमान्य तभी से तभी बहुमान्य अवश्य हैकि कला का प्राणतत्व है सामंजस्य, अर्थात् अनेकता की एकता में परिणति ।"- डॉ नगेन्द्र, आस्था के चरण, नेशनल पब्लिशिंग हाउस नयी दिल्ली, 1980, पृ. 626.

3. वही, पृ. 627.

प्रभाव पड़ सकता है क्योंकि अनुभूति को वैयक्तिकता से इन्कार नहीं किया जा सकता किन्तु इसकेसाथ ही ध्यान देने की बात यह है कि रचना कलाकार के अपने व्यक्तित्व से बाहर की वस्तु नहीं होती । उसे दैवी कृपा या अज्ञात की सृष्टि मान लेने पर भी कलाकार माध्यम स्वरूप होता ही है और कला सृजन में माध्यम की भूमिका को नकारा नहीं जा सकता । व्यक्ति के समूचे चिन्तन में उसका अपना मानस सक्रिय रहता है जिसकी समस्त क्रियता की पृष्ठभूमि में महाशून्य के पार झाँकती अपने पूर्णत्व की एक धुंधली किन्तु ज्योतिर्मय आकृति उसे अपनी ओर निरन्तर आकृष्ट करती रहती है, जिससे एकमेक हो जाने के लिये वह सतत प्रयत्नशील रहता है । कलाकार के लिये इन प्रयत्नों का प्रतिफलन ही उसकी समूची कला और कृति होती है । संश्लिष्टीकरण के प्रयास में संजित होने के कारण कला में अन्विति की तलाश व्यर्थ है । कला की समूची चेतना एक प्रयास है व्यक्तित्व के संश्लेषण का अस्तु निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कला की मूल समस्या व्यक्तित्व संश्लेषण की होती है । कलाकार का समूचा प्रयास पूर्णत्व का होता है । पूर्णत्व नहीं होता । उर्वशीकार का समस्त प्रयास भी इसी दिशा में है किन्तु प्रयास को पूर्णत्व मानने का अर्थ है पड़ाव को मंजिल मान लेना । मंजिल तक पहुँच कर सारे रास्ते खत्म हो जाते हैं । मंजिल से कोई रास्ता नहीं जाता । रास्ते की उपयोगिता भी मंजिल तक जाने में ही है । रास्ते में आने वाले पड़ाव को मंजिल मानना भ्रामक है । उर्वशी भी व्यक्तित्व के संश्लेषण को समस्या का काव्य होने के कारण कोई समाधान नहीं प्रस्तुत करती तथा उसी प्रकार व्यक्तित्व संश्लेषण की समस्या से आकुल समाधान की तलाश में ही सक्रिय हैं । पुरुरवा का सन्यास भी गति की इस निरन्तरता का ही द्योतक है । अस्तु उर्वशी के अन्त में पुरुरवा का सन्यास उर्वशीकार की अन्तरंग जटिलता तथा अनुभूति की ईमानदारी का श्रेष्ठतम् प्रमाण है जिसके आधार पर यह निर्भ्रान्त रूप से स्थापित किया जा सकता है कि उर्वशी वस्तुतः व्यक्तित्व संश्लेषण की समस्या का काव्य है ।

****

३.५.३. आत्म साक्षात्कार की समस्या का काव्य : उर्वशी

व्यक्ति जीवन की समूची साधना, चाहे वह भक्ति के क्षेत्र में हो, कला के क्षेत्र में हो, चिन्तन के क्षेत्र में हो, अथवा व्यवहार के क्षेत्र में, द्वैत से ही आरम्भ होती है किन्तु उसकी परिणति का बिन्दु अद्वैतता की स्थिति ही होती है । कार्लमार्क्स ने अपने समूचे चिन्तन का आधार ही इस द्वैत की स्थिति को माना जिसके कारण व्यक्ति निरन्तर द्वन्द्वात्मक स्थितियों में जीता रहता है किन्तु इस पूरी द्वन्द्वात्मकता की अन्तिम स्थिति, कम से कम चिन्तन की तीमा तक, क्योंकि हम पहले ही कह चुके हैं कि व्यक्ति के समस्त अभियान में उसका चिन्तन ही प्रधान रहता है; अद्वैतता है । अद्वैतता के इस विचार के मूल में एक प्राक्कल्पना यह हो सकती है कि सृष्टि के मूल में यदि कोई आदिम शक्ति रही होगी तो वह भी अकेली रही होगी और फिर उसने अपने विस्तार के लिये सृष्टि की । स्यात् यह सृष्टि ही द्वैत की आधार शिला है । संभावना, कदाचित व्यक्ति अनुभव के निकट यह भी हो सकती है कि व्यक्ति जीवन में देखता दूसरों को है, व्यवहार दूसरों से करता है किन्तु इन दूसरों के मध्य अपनी समूची विनम्रता के साथ प्रमुखता अपने को ही देता है । उसके सारे चुनाव, उसका समस्त चिन्तन केन्द्र में अपने को ही मानकर चलता है । प्रश्न उठता है कि क्या उसका यह अपनापन उसकी अद्वैतता सिद्ध नहीं करता ? एक ही वृक्ष पर लगे सारी पत्तियाँ होती हैं सामान्य दृष्टि उन सभी का आकार और रंग सरलता से एक ही बता देती है किन्तु क्या ये एक ही वृक्ष की सारी पत्तियाँ आकार और रंग में एक सी ही होती हैं ? क्या इन सब में भिन्नता नहीं होती ? यह भिन्नता उन्हें एक बृहत् परिवार या वर्ग से संयुक्त करती हुयी भी उनकी अद्वैतता की घोषणा है जो प्रकृति हर पल किया करती है ।

व्यक्ति अपने जीवन में जो कुछ देखता है, जिस किसी से सम्पर्कित होता है उससे अपने को भिन्न पाता है किन्तु उस सब में अपनी ही

****

छाया देखा करता है । जिस स्थल पर उसको अपनी छाया जितनी स्पष्ट होती है व्यक्ति उसके उतना ही निकट होता है । यह नैकट्य चाहे अपत्य प्रेम के रूप में हो, प्रेयसी की देह लता के सौन्दर्य में हो अथवा भौतिक जगत् के जीवनोपयोगी उपादानों में हो । जीवनोपयोगी व्यक्ति दृष्टि की व्याख्या की सरलतम् अभिव्यक्ति मेरे विचार से उसकी आत्मकेन्द्रितता ही हो सकती है । वह अपने जीवन के लिये जिन जिन्हीं उपादनों को आवश्यक मानता है उन सबसे अपने को संयुक्त करना चाहता है । व्यक्ति जीवन को अपने संबंध में जो श्रेष्ठतम् कल्पना हो सकती है वह उसकी परमात्म कल्पना है । परमात्मा है या नहीं कहना कुछ लोगों के लिये सरल, कुछ के लिये कठिन तथा कुछ के लिये असंभव हो सकता है किन्तु व्यक्ति है इसलिये उसका परमात्मा भी है इसे मानने में कोई कठिनाई नहीं होती, क्योंकि अन्ततोगत्वा परमात्मा उसका विश्वास है और विश्वास उसकी निजी संपत्ति । इस दृष्टिकोण से विचार करने पर सरलता से इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि परमात्मा व्यक्ति की निजी संपत्ति है तथा कोई व्यक्ति जब भी परमात्मा से साक्षात्कार करने का प्रयास करता है वह वस्तुत: अपने आप से ही साक्षात्कार करने का प्रयास करता है । अहं ब्रह्मास्मि की घोषणा की पृष्ठभूमि में भी व्यक्ति की कुछ ऐसी ही धारणा सक्रिय रही हो तो आश्चर्य नहीं ।

कला के क्षेत्र में चाहे वह रचना से प्राप्त संतोष हो अथवा खजुराहो के शिल्पों की युग्मधर्मा सौन्दर्य चेतना, अपनी सर्जना की आत्यंतिकता में अपना ही साक्षात्कार करती है । उसकी कला वस्तुत: अपने अमूर्त के मूर्तन का ही प्रयास है । सौन्दर्य की अक्ष दृष्टि आलम्बन से ~~[illegible]~~ सन्निकर्षित होकर भी सौन्दर्य चेतना की तरंगों में आत्मानुसंधान ही किया करती है । यह आत्मानुसंधान ही आत्मसाक्षात्कार की प्रक्रिया है । इस प्रक्रिया में दो तथ्यों की स्वीकृति शामिल है - एक तो आत्मरूप को आलम्बन रूप में तथा दूसरी आश्रय को जो प्रयत्नशील रहता है । इसके साथ ही आलम्बन से आश्रय का तादात्म्य ही इसकी चरम परिणति है । बहुत संभव है कि अनेक

लोग इस चरम परिणति का अनुभव मानसिक स्तर पर स्वीकार न कर सकें जिसके कारण भी अनेक तथा उनके व्यक्तिगत हो सकते हैं किन्तु उनके अस्वीकार के निकट एक ऐसा बिन्दु भी है जिसके सानिध्य में आते ही उनके अस्वीकार को हिमशिला पिघलने लगती है । स्पष्टत: हमारा संकेत व्यक्ति की कामानुभूतियों की ओर है । काम के क्षणों में एक देहयष्टि अपनी बाहों में ले दूसरी देहयष्टि को समेटे, गहन स्पर्शों के मध्य जिस पुलक का अनुसन्धान करती है वह उसकी निजी और वैयक्तिक होती है । रतिकर्म में लिप्त युगम शरीर क्षरण किंवा आनन्द के चरम क्षणों में भी एक सा ही आनन्द प्राप्त करते हैं इस तथ्य की पुष्टि आज तक यौनविज्ञान के अनुसंधाता नहीं कर सके हैं । दोनों को ही आनन्द प्राप्त होता है किन्तु दोनों का ही आनन्द एक-सा होता है इसका कोई प्रमाण आज तक उपलब्ध नहीं किया जा सका है । तर्क कह सकता है कि ऐसा नहीं है इसका भी क्या प्रमाण है अथवा फिर आनन्द आनन्द होता है उसकी समता और विषमता से क्या प्रयोजन ? किन्तु तर्क की यह दृष्टि कदाचित चिन्तन के दृष्टिकोण से मान्य नहीं हो सकती क्योंकि स्त्री और पुरुष की शारीरिक संरचना ही इस बात का प्रमाण है कि दोनों का आनन्द एक सा नहीं हो सकता । जहाँ तक आनन्द की समानता का प्रश्न है आम खाने का और कलाकन्द खाने का आनन्द एक-सा नहीं हो सकता, यद्यपि दोनों मीठे होते हैं । और तो और अगर कलाकन्द भी दो अलग-अलग व्यक्तियों का बनाया हुआ है तो उनका स्वाद किंवा उससे प्राप्त होने वाला आनन्द एक-सा नहीं हो सकता । कहा यह भी जा सकता है कि एक ही प्रकार का कलाकन्द और एक ही व्यक्ति द्वारा बनाया हुआ भी जब दो व्यक्ति एक साथ खाते हैं तो उनके स्वाद में अन्तर हो सकता है । इसलिये प्रत्येक का का अपना आनन्द उसके वैयक्तिक ढंग का होता है । जिसका मूल कारण यह है कि इस वैयक्तिकता के प्रत्यय से वह आनन्द के क्षणों में भी आत्मसाक्षात्कार ही करता है । यह आत्म साक्षात्कार ही विभिन्नता का भी कारण है । आत्मा का रूप जो आनन्दमय कहा गया है उका भी यही कारण है । आत्म को उपलब्ध व्यक्ति आनन्दित होता है अर्थात् जो भी आनन्दित होता है वह आत्मा को उपलब्ध होता है । हाँ जब तक उसके

आनन्द के विषय में शंका नहीं की जा सकती उसकी आत्मोपलब्धि भी असंदिग्ध हो है, किन्तु साक्षात्कार के प्रयासों को उसकी परिणति के रूप परिगणित नहीं किया जा सकता । प्रयास साधना है । साधन कई प्रकार के हो सकते हैं तथा फल की प्राप्ति भी हो सकती है और नहीं भी हो सकती है । साधना की न्यूनता अथवा साधनों के अनुचित प्रयोग का अभाव साध्य की उपलब्धि में बाधक भी हो सकता है । इसलिये फल प्राप्ति के अभाव में भी आत्मसाक्षात्कार के प्रत्यय पर शंका नहीं की जा सकती । इस समूची प्रक्रिया की सबसे बड़ी विशेषता है -- द्वैत से आरम्भ तथा अद्वैत में परिणति । उर्वशीकार के मन में कला प्रयास के संदर्भ में ऐसी स्थिति होनी अनिवार्य है अन्यथा काव्य रचना ही संभव नहीं हो सकती । कवि अपनी रचना के माध्यम से अन्ततोगत्वा अपनी भावना, अपने विचार तथा अपने मानस -प्रभावों की ही सूक्ष्म संकृतियों को रूपायित करता है । उसके रूपायन का यह प्रयास ही तो अपने उसका आत्मसाक्षातकार है, किन्तु आत्मसाक्षात्कार के इस प्रयास में उसका मानस ठीक वैसा ही नहीं रहता जैसा किसी एक क्षण विशेष में रहा होगा इसलिये एक रचना के बाद उसकी कला और कला - प्रयास निश्शेष नहीं हो जाते । रचना का प्रत्येक प्रयास जहाँ उसे आत्मसाक्षात्कार का क्षणिक संतोष देता है वहीं उसकी मानस गतिशीलता, उसका अस्तित्व बोध उसे साक्षात्कार के पलों को सीमा के बाहर खींच लाता है, जिसके कारण आत्मसाक्षात्कार की समस्या कलाकार मानस के निकट यथावत् विद्यमान रहती है तथा उसकी समस्त रचना आत्मसाक्षात्कार का एक प्रयास भर बन जाती है ; यानी रचना का जन्म ही इसलिये संभव हो पाता है क्योंकि उसके निकट आत्मसाक्षात्कार की समस्या रहती है ।

उर्वशीकार के निकट भी आत्मसाक्षात्कार की यह समस्या रही है जिसके कारण ही "उर्वशी" की रचना संभव हो सकी । " उर्वशी" में व्यक्त सभी विचार और भाव कदाचित उर्वशीकार के अपने कहे जा सकते हैं, यह बिल्कुल अलग बात है कि वे अपने विस्तार में इतने व्यापक हैं कि ~~x~~ साधारणीकरण की क्षमता से युक्त मानस उनकी सार्वभौमता को नकार नहीं पाता । " उर्वशी" में कवि की इस समस्या की अविक्ल संकृतियाँ आद्यान्त सुनाई पड़ती हैं जो समस्या की सातत्यता का अकाट्य प्रमाण हैं ।

उर्वशी अपनी अद्वितीयता की घोषणा करती हुयी कहती है :--

" देवालय में देवता नहीं, केवल मैं हूँ ।
मेरी प्रतिमा को घेर उठ रही अगुरु गन्ध,
बज रहा अर्चना में मेरी मेरा नूपुर । " ×

तथा

" भू नभ का सब संगीत नाद मेरे निस्सीम प्रणय का है,
सारी कविता जयगान एक मेरे त्रयलोक विजय का है ।"[2]

उर्वशी का जन्म विश्वनर की अतृप्त आकांक्षाओं का परिणाम है ।[3] निश्चित रूप से विश्वनर की अतृप्त आकांक्षाओं का परिणाम होने के कारण उसे अपनी तृप्ति के लिये उसी वस्तु की खोज करना आवश्यक हो जाता है जिसकी अतृप्ति उसके जन्म का मूल कारण है । वह प्रत्यक्षत: अपनी तृप्ति की तलाश पुरुरवा के पुरुषत्व में करती है :--

" कहती थी, " यदि आलिंगन का अंक नहीं पाऊँगी ,
तो शरीर को छोड़ पवन में निश्चय मिल जाऊँगी ।
रोक चुकीं तुम बहुत, अधिक अब और न रोक सकोगी,
दिन में रख कर मुझे नहीं जीवित अवलोक सकोगी । "[4]

× × ×

" पर मैं नाटक नहीं जहाँ भी रही भूमि या नभ में,
वक्ष स्थल पर इसी भांति मेरा दुकूल रहने दो ।
कसे रहो, बस इसी भाँति उर-पीड़क आलिंगन में
और जलाते रहो अधर पुट को कठोर चुम्बन से । "[5]

-- तथा इस स्पर्श खोज में वह अपने आपको ही उपलब्ध करती है । प्रिय के बाहुवलय में आकर उर्वशी जिस आनन्द को प्राप्त करती है वह उसके अपने

× रामधारी सिंह दिनकर, उर्वशी, पृ. 76.
2. वही, पृ. 77.
3. " मैं केवल अप्सरा
विश्व नर के अतृप्त इच्छा सागर से समुद्भूत ।"- उर्वशी, पृ.75.
4. रामधारी सिंह दिनकर, उर्वशी, पृ. 13.
5. वही, पृ. 50.

होने का आनन्द है । उसके आत्म रूप का आनन्द है तभी तो वह कहती है :--

" ईश्वरीय जग भिन्न नहीं है इस गोचर धरती से,
इसी आवन में अदृश्य वह पावन सना हुआ है । "×

× × ×

" जिसे खोजता फिरता है तू, वह अरूप अनिकेतन
किसी व्योम पर देह धर बैठा नहीं मिलेगा
वह तो स्वयं रहा बह अपनी ही लीला धारा में
कर्दम कहीं कहीं पंकज बन, कहीं स्वच्छ जल बन कर । "[2]

व्यक्ति का अपना होना ही परमात्मा के होने का प्रमाण है । आनन्द की पुलकों में परमात्मा की उपलब्धि व्यक्ति का आत्मसाक्षात्कार है जिसे उर्वशी पुरूरवा के माध्यम से करती है और पुरूरवा अपनी प्रेयसी उर्वशी को जब अपनी स्वैण व्याकुलता में प्राप्त कर लेता है तो उसकी प्यास उस प्रेयसी को न होकर उस देवत्व की प्यास बन जाती है जो व्यक्ति मानस की संरचना है।[3] पुरूरवा की यह देवत्व प्राप्ति की आकांक्षा मात्र सौन्दर्योपासना के उस शाश्वत मार्ग की खोज है जिसका अनुशरण करके सौन्दर्य का उपभोग बिना किसी व्यवधान के किया जा सके । व्यक्ति जीवन में उसके निकट उसका सबसे बड़ा शत्रु यदि कोई है तो उसका काल बोध । काल बोध भी यदि अपने समूचेपन में हो तो वह प्रकारान्तर से व्यक्ति को अपनी शाश्वतता बन जाता है किन्तु उसका खण्डित बोध उसके अपने प्रतिपल चुकते जाने का बोध ही हो सकता है जिसके प्रति व्यक्ति कभी स्वीकार से नहीं भर पाता । वस्तुत: उसका यह अस्वीकार संभोग के क्षणों में मिटते काल बोध के साथ दिक्-काल का अतिक्रमण कर कुछ पलों के लिए समाप्त सा हो जाता है । काल को बूँद के रूप में एक - पात्रक में एकत्रित देखने-

× रामधारी सिंह दिनकर, उर्वशी, पृ. 58. 60.

2. वही, पृ. 64.

3. " देव कौन हैं ? सुकमल, श्रेष्ठ रूप मानव के । "
-- उर्वशी, पृ. 115.

वाली दृष्टि सबसुव हो व्यक्ति दृष्टि का वह शाश्वतबोध है × जो काल को व्यक्ति सीमा के पार अपने आत्म रूप का साक्षात्कार किया करता है ।

व्यक्ति के अस्तित्व बोध और आत्मसाक्षात्कार को कदाचित सबसे बड़ी कठिनाई व्यक्ति के अस्तित्व बोध की काल सीमा है । व्यक्ति के अस्तित्वबोध की काल सीमा वस्तुत: व्यक्ति का मानस है जो समस्त द्वैतों की संरचना किया करता है, किन्तु व्यक्ति जैसे ही अपने अस्तित्व बोध से मुक्त होता है यानी कुछ पलों के लिये ही सही जैसे ही उसका अस्तित्व अर्थात् मानस की सक्रियता शिथिल हो जाती है व्यक्ति का वह अन्तर्जगत उसके सामने उद्-भासित हो उठता है जिसके उद्भासित होते ही अद्वैतता की स्थिति आ जाती है तथा व्यक्ति आत्मसाक्षात्कार में समस्त हो जाता है । [2]

व्यक्ति के आत्मसाक्षात्कार के पल भी उसके अपने अस्तित्व बोध के सामने शीघ्र ही बुझ जाते हैं परन्तु उन पलों की स्मृति शेष रह जाती है जिनका प्रभाव व्यक्ति मानस पर इतना गहरा होता है कि वह बार-बार इस आत्मसाक्षात्कार के लिये प्रयत्न किया करता है । आत्मसाक्षात्कार के लिये हर बार किया जाने वाला प्रयत्न ही समस्या के रूप में उभरने लगता है

× " अतल, अनादि, अनन्त, पूर्ण पूंजित आकार अम्बर में
सीमा खोजने कहाँ ? निमिष पल दिवस, मास संवत्सर
महाकाश में टँगे काल के लक्षक से लगते हैं ।
प्रिय उस यन्त्रक को समेट लो जिसमें समय सनातन
क्षण, महूर्त, संवत् शताब्दि की बूँदों में अंकित है ।"--उर्वशी, पृ.54.

2. " मन की कृति यह द्वैत, प्रकृति में सचमुच द्वैत नहीं है ।
जब तक प्रकृति विभक्ति पड़ी है श्वेत श्याम खण्डों में,
विश्व तभी तक माया का मिथ्या प्रवाह लगता है ।
किन्तु, शुभाशुभ भावों से मन के तटस्थ होते ही,
न तो दीखता भेद न कोई शंका ही रहती है । " -- उर्वशी, पृ.61.

जिसके समाधान के प्रयास में व्यक्ति का तर्क अनुभूतियों का बटोर कर कला-मूर्तियाँ गढ़ने लगता है । ×

व्यक्ति के जैव मानस तल पर उठनेवाली कामनाओं के हिलकोरे उसके अन्तर की व्याकुलता की अभिव्यक्ति है जिसकी पूर्ति के लिये मानस दृष्टिकोण जहाँ व्यक्ति संश्लेषण का प्रत्यय प्रस्तुत करता है वहीं मनोदार्शनिक दृष्टिकोण से उसकी व्याख्या आत्मसाक्षात्कार के रूप में की जा सकती है । व्यक्ति जीवन में जो कुछ भी पाने का प्रयत्न करता है, उसको इस प्राप्ति के बोध से जो आनन्द उपलब्ध होता है वह वस्तुतः उसके आत्मसाक्षात्कार का ही आनन्द है क्योंकि व्यक्ति चित्त अपने अधिकारों रूप में सदा आनन्दित हो रहता है । अधिकारी व्यक्ति चित्त है वह है जो काल की अनन्तता के साथ जीता है, जिसके निकट कालबोध उसके अपने व्यक्तित्व के अस्तित्व बोध की सहधर्मिता में खण्ड बोध न होकर काल के समूचे पन का बोध है । यहाँ पर यह स्पष्ट करना भी आवश्यक है कि प्रकृति सदा गतिक है । उसकी यह गत्यात्मकता की परिणति कर्म है । कर्म के अतिरिक्त जीवन की अन्य कोई परिणति हो ही नहीं सकती । यह कर्म ही आनन्द है तथा यही आनन्द का स्रोत भी[2] किन्तु

× "मैं रक्त चेतना का मधुमय, प्रच्छन्न स्रोत,
रेखाओं में अंकित कर अंगों के उभार,
भंगिमा तरंगितवर्तुलता, वीचियाँ लहर,
तक प्रकाशित रंगों के में लिये उतरती हूँ ।
पाषाणों के अनगढ़ अंगों को काट छाँट
मैं ही निबिड़स्तनता, मुष्टिमध्यमा, श्
मदिर लोचना, कामकुंलिता नारी
प्रस्तरावरण कर भंग,
तोड़ तम को उन्मत उभारती हूँ । - - उर्वशी, पृ. 76-77.

2. हम निसर्ग के स्वयं कर्म हैं, कर्मस्वभाव हमारा,
कर्म स्वयं आनन्द कर्म ही रस समस्त कर्मों का ।
- - उर्वशी, पृ. 62.

इस आनन्द की उपलब्धि प्रयत्न साध्य नहीं है :--

" मुक्त वही, जो सहज भावना से इसमें बहते हैं,
विधि-निषेध से परे छूटकर सभी कामनाओं से,
किसी ध्येय के लिये नहीं, केवल बहते रहने को,
क्योंकि और कुछ भी करना सम्भव या श्रेयस्कर नहीं है।
जाने क्यों तैराक चतुर तब भी प्रशान्त धारा में
बना बना कर हाथ बाँध विक्षोभ व्यर्थ करते हैं ।
कौन सिद्धि है जो मिलती अन्तरण -दक्ष साधक को,
और नहीं मिलती अकाम जल में बहने वाले को । "×

× × × ×

" वह तो अनायास, जैसे बूँदें स्वाती की
आ गिरती हैं, अनायास, सीपी के खुले हृदय में ।
सिद्धि दिया वह नहीं, मात्र वह ग्रहण किया जाता है । "2

-- इसीलिये उर्वशी किसी मुक्ति की कामना नहीं करती क्योंकि यह कामना भी तो प्रयासों का निमित्त हो सकती है जबकि सारे प्रयास आनन्द की उपलब्धि में बाधक हैं :--

" घर खोजें क्यों मुक्ति ? प्रकृति हम प्रसन्न अवयव हैं,
जब तक रहे प्रकृति, तब तक हम भी बहते जायेंगे
लीलामय की सहज, शान्त आनन्दमयी धारा में । "3

लीला की धारा के प्रवाह के साथ-साथ प्रवाहित होना वस्तुस्थिति को वर्तमानता का यथावत् स्वीकार है । स्वीकार करने से संघर्ष समाप्त हो जाता है तथा इस प्रकार वह व्यक्ति चेतना जो संघर्षों में रत रहने के कारण अपनी एकाग्रता की अन्विति में संयोजित नहीं रह पाती अभंग होकर बहने लगती है । चेतना की यह अभंगता ही आत्मसाक्षात्कार को संभव करती

× रामधारी सिंह दिनकर, उर्वशी, पृ. 64.
2. वही, पृ. 68.
3. वही, पृ.69.

है क्योंकि अभोक्ता के पलों में ही व्यक्ति अपने मूल रूप से सम्पर्कित हो सकता है । वस्तुत: उसका यह मूल रूप उससे भिन्न नहीं है । वह तो सदा से उसके साथ ही है । व्यक्ति के होने का वह अभिन्न अंग है किन्तु व्यक्ति को समस्त चेतना चेतन-यात्रा का प्रारम्भ द्वैत से होता है । द्वैत की दृष्टि पृथक करण की दृष्टि होती है । पृथक्कर करण की दृष्टि उसे देख भी कैसे सकती है जो वह स्वयं है ? इसीलिये पुरुरवा, उर्वशी तथा औशीनरी आदि संघर्ष-शील दृष्टिगत होते हैं । उर्वशी के समस्त पात्र संघर्ष रत हैं, उनका समस्त संघर्ष वस्तुत: अपने साक्षात्कार का संघर्ष है क्योंकि उनका सर्जक स्वयं संघर्षरत है । कलाकार की अचूकी चेतना के छन्दों से ही कला का जन्म संभव हो सका है । कला ही नहीं प्रत्युत समस्त चिन्तन एवं वैज्ञानिक गवेषणाओं के मूल में यही आत्मसाक्षात्कार का संघर्ष क्रियाशील देखा जा सकता है । चूँकि व्यक्ति जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उसका यह आत्मसाक्षात्कार का संघर्ष ही क्रियाशील है अस्तु यह निष्कर्ष सरलता से निकाला जा सकता है कि आत्मसाक्षात्कार अपने आप में व्यक्ति जीवन की महत्वपूर्ण मूल समस्या है । उर्वशीकार से लेकर उर्वशी केसभी पात्रों तक हम इस संघर्ष की कलमलाहट को साफ देख सकते हैं इसलिये "उर्वशी" मूलत: मनोदार्शनिक दृष्टिकोण से आत्मसाक्षात्कार की समस्या का काव्य है ।

+/+/+/+/+/+/+
* 9*9*9*9*9*9 *
+/+/+/+/+/+/+

"हम है जहाँ वहाँ अकेले कोई राह नहीं है" उर्वशी पृ. 65.

4. शोधयात्रा के अंतिम पड़ाव पर

जीवन और जगत् का समस्त प्रसार व्यक्ति-मानस की संरचना है तथा उसके सद्भाव एवं असद्भाव उसकी गतिशीलता का प्रमाण। व्यक्ति-अनुभव, अनुभूति एवं अभिव्यक्ति के मध्य सतत गति-शील क्षणबोध की शाश्वतता अपने क्षणानुभवों में उसके व्यक्तित्व के निकट अस्तित्वबोध का प्रत्यय ग्रहण करती है। इस अस्तित्वबोध को जैवमानसिक अनुभूति जहाँ व्यक्तित्व, जो अनेकानेक गतिमय परिवेशीय संव्यूहनों को झेलता एवं उनसे प्रभाव ग्रहण करता हुआ ही व्यस्त होता है, अहं केन्द्रित होती है वहीं उसकी मनोदार्शनिकता उसके अवेतन में स्थित उस समग्रता की आत्मानुभूति के रेखीय प्राप्य को सौन्दर्य-दर्शन की भाव-भूमि पर अंकित करती हुई उसे आत्म संज्ञा से अभिहित करती है।

समग्रता की यह अनुभूति ही व्यक्ति मानस के निकट पूर्णत्व का बोध है जो उसे अनायास ही चेतना के ऐसे दिव्य स्पंदनों से भर देता है जिनकी आकृतियों का समुच्चय आनन्द कहलाता है। फुल-फिलमेन्ट का यह बोध दिक्-काल के अतिक्रमित क्षणों का अनुभव है किन्तु व्यक्ति मानस में इसका बोध अनुभव के अनुभूति बनने पर ही अभिज्ञान का विषय बनता है।

व्यक्ति का अस्तित्वबोध उसे अपनी अस्मिता

का अतिक्रमण नहीं करने देता जिसके कारण व्यक्ति-मानस के निकट आत्म-साक्षात्कार की स्थिति जीवन की प्रमुख एवं शाश्वत् समस्या बन जाती है ।

सभ्यता, संस्कृति और कला के समस्त आयाम इस समस्या के समाधान के प्रयास में ही पर्यावरणभिन्नता के संयोग से निर्मित होते चलते हैं । अस्तु काव्य रचना भी इसी शाश्वत समस्या के समाधान की संरचनात्मक गवेषणा है । " उर्वशी" भी अपनी रचनात्मकता में इसका आवाद नहीं हो सकती ।

सभ्यता के विविध रूप प्रकारान्तर से इसी मूल समस्या के विभिन्न आयाम हैं जो दृष्टिभेद के कारण एक दूसरे से इतने पृथक् प्रतीत होते हैं कि उनके मध्य सामान्य सूत्र की खोज अपने आप में एक समस्या बन जाती है ।

कृति कलाकार के चिन्तन का परिणाम होती है, और चिन्तन समस्या का प्रतीक । कलाकार एक समय में एक ही स्थिति विशेष में नहीं जीता उसके अन्तर की समग्रता एक ही विन्दु में समाने की पूरी चेष्टा के बावजूद भी स्वाभाविक गतिशीलता के कारण बहुआयामिता से मुक्त नहीं होती जिसके परिणामस्वरूप कलाकार को कला के एक ही क्षण में उभरनेवाले चिन्तन में समस्या के विभिन्न पहलू चाहे-अनचाहे सिमट ही

आते हैं जिनसे कदाचित सर्जक स्वयं अनभिज्ञ रह जाता है । सृजन की इस प्रक्रिया में होता यह भी है कि कलाकार की यात्रा किसी एक ज्ञात तट से आरम्भ होती है दूसरे ज्ञात तट के लिए किन्तु यात्रा के मध्य अनेक अज्ञात तटों का स्पर्श सम्पूर्ण यात्रा को इतनी महिमा से भर देता है कि उपादानों के समस्त संयुक्त बौना जाते हैं ।

"उर्वशी" वस्तुत: जैवमानसिक तल पर जहाँ व्यक्तित्व संश्लेषण ~~अपरेशन~~ की समस्या का काव्य है वहाँ मनोदार्शनिक स्तर पर आत्मसाक्षात्कार की समस्या की अभिव्यक्ति का । अस्तित्व द्वारा व्यक्तित्व के स्तर पर अनुभूति शून्यता वस्तुत: उस अदृश्य आत्मानुभव के रेखीय प्राप्य से संश्लेषण का प्रयास है जिसका प्रतिफलन आनन्दानुभूति है । समस्या की शाश्वतता विराट शून्य को भरती हुई व्यक्ति-प्रयासों की वह निरंतरता है जो अपनी अंतिम परिणति में असफलता के उपकूलों पर समर्पण के प्रयास में पूरी आस्था से प्रार्थना किया करती है । पुरुरवा का सन्यास, उर्वशी का अभिशाप तथा औशीनरी की असफलता इस स्थिति के प्रबल एवं अकाट्य प्रमाण हैं ।

उपसंहार के व्याज से प्रस्तुत शोध-यात्रा के उपर्युक्त निष्कर्ष यात्रा के अन्तिम पड़ाव के रूप में ही माने जाने चाहिए । पड़ाव मंजिल नहीं होता । पड़ाव सिर्फ पड़ाव होता है जहाँ से आगे की

और रास्ते जाते हैं। सत्य के द्वार पर आत्यांतिकता का अन्वेषी मानस अधिक से अधिक पड़ाव तक पहुँच कर अनागत की ओर संकेत ही कर सकता है। मंजिल का दावा पूर्णता का दावा है। चूँकि हर दावा एक झूठ पर आधारित होता है इसलिए सत्यान्वेषण की राह में इसके लिए कोई स्थान नहीं। और कदाचित पूर्णता के शिखर पर पहुँच कर सारे प्रयास जम जाएँगे, भाव जड़ हो जाएँगे क्योंकि इसके बाद जाने के लिए गंतव्य होगा ही नहीं। लेकिन गंतव्य और अपूर्णता का अनादिकाल से चोली-दामन का साथ रहा है इसीलिए प्रयासों की ऊष्मा जीवन को एक मीठा-सा सेंक देती रहती है जिसकी गुनगुनी गरमाई में उसकी कुलबुलाहट सुगबुगाती हुई अस्फुट स्वरों की रहस्यमयता में अनागतिक मेधा के स्वागत में सोहर गाया करती है।

--- ::: -000- ::: ---

आधार ग्रन्थ

उर्वशी, रामधारी सिंह दिनकर, उदयाचल प्रकाशन, राजेन्द्र नगर पटना, 1973.

सहायक ग्रन्थ सूची

1. अनुसन्धान की प्रक्रिया, डॉ. सावित्री सिन्हा, डॉ. विजेन्द्र स्नातक, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1967.
2. अध्ययन और अनुसन्धान, डॉ. एन.के. कुट्टन्नपिल्लै, प्रगति प्रकाशन, आगरा, 1975.
3. अध्यात्म उपनिषद, आचार्य रजनीश, रजनीश फाउन्डेशन पूना, 1976.
4. अर्धनारीश्वर, रामधारी सिंह दिनकर, प्र.सं. जनवाणी प्रकाशन, कलकत्ता।
5. असामान्य मनोविज्ञान के मूल आधार, डॉ.लाभसिंह, डॉ.गोविन्द तिवारी, विनोद पुस्तक मंदिर आगरा, 1973.
6. आधुनिक बोध, रामधारी सिंह दिनकर, पंजाबी पुस्तक भंडार, दिल्ली, 1973.
7. आधुनिकता के हाशियें में उर्वशी, जयसिंह नीरद, साहित्य भारती, 1977.
8. आधुनिक हिन्दी कविता, डॉ. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1977.
9. आधुनिक हिन्दी काव्य, डॉ. कुमार विमल, अर्चना प्रकाशन, आरा, बिहार, 1964.
10. आधुनिक हिन्दी काव्य पर अरविन्द दर्शन का प्रभाव, डॉ. कृष्णा शारद, काशी नागरी प्रचारिणी सभा वाराणसी, 1972.
11. आलोचक की आस्था, डॉ. नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1966.
12. आधुनिक हिन्दी कवियों के काव्य सिद्धान्त, डॉ. सुरेशचन्द्र गुप्त, हिन्दी साहित्य संसार दिल्ली, 1960.
13. आस्था के चरण, डॉ. नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1980
14. इतिहास के आँसू, रामधारी सिंह दिनकर, उदयाचल, पटना, 1976.
15. उर्वशी एक नवीन दृष्टि, डॉ. सतीशकुमार भार्गव, दिनमान प्रकाशन, दिल्ली, 1973.
16. उर्वशी उपलब्धि और सीमा, डॉ. विजेन्द्र नारायण सिंह, परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद, 1967.

सहायक ग्रन्थ सूची

17. उर्वशी विचार और विश्लेषण, सं. डॉ. बचनदेव कुमार, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1973.

18. उर्वशी संवेदना और शिल्प, डॉ. टीकाराम शर्मा, डॉ. सुशीला शर्मा, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 1976.

19. एकोत्तर शती, रवीन्द्रनाथ टैगोर, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, 1958.

20. एकादशोपनिषद, अनुवृत सिद्धान्तालंकार, विजय कृष्ण लखन पाल एण्ड कं. विद्याविहार, देहरादून, [बिना तिथि] .

21. ऋग्वैदिक आर्य, राहुल सांकृत्यायन, किताब महल, इलाहाबाद, 1957.

22. ऋग्वेद संहिता, चतुर्थ संस्करण, श्रीमती परोपकारी सभा द्वारा प्रकाशित.

23. कठोपनिषद, डॉ. रामरंग शर्मा, भारतीय विद्या प्रकाशन वाराणसी, 1979.

24. कथा सरित्सागर, क्षान्तरकार गोपालकृष्ण कौल, सस्ता साहित्य मंडल, नयी दिल्ली, 1959.

25. कुरुक्षेत्र, रामधारी सिंह दिनकर, राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली, 1975.

26. काव्यशास्त्र, डॉ. भगीरथ मिश्र, विश्वविद्यालय प्रकाशन, चौक, वाराणसी, 1972.

27. गीता केरी सरकरा, आचार्यरजनीश, रजनीश फाउन्डेशन पूना, 1975.

28. चक्रवाल, रामधारी सिंह दिनकर, उदयाचल प्रकाशन पटना,

29. जातक, भदन्त श्री आनन्द कौशल्यायन, हिन्दीसाहित्य सम्मेलन प्रयाग, सं. 2013.

30. तुला और तारे, डॉ. साविरी सिन्हा, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1966.

31. तुलनात्मक शोध और समीक्षा, डॉ. पी आदेश्वर राव, प्रगति प्रकाशन, आगरा, 1972.

32. दिनकर, डॉ. साविरी सिन्हा, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 1970.

33. दिनकर एक पुनर्मूल्यांकन, डॉ. विजेन्द्र नारायण सिंह, परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद, 1955.

34. दिनकर का रचना संसार, डॉ. छोटेलाल दीक्षित, प्रतिभा प्रकाशन, इलाहाबाद, 1976.

35. दिनकर की काव्य भाषा, डॉ. यतीन्द्र तिवारी, ग्रन्थम, कानपुर, 1970.

सहायक ग्रन्थ सूची

35. दिनकर की सूक्तियाँ, रामधारी सिंह दिनकर, उदयाचल पटना, 1965.

37. दिनकर की डायरी, रामधारी सिंह दिनकर, उदयाचल,पटना,1973.

38. दिनकर के गीत, रामधारी सिंह दिनकर, पंजाबी पुस्तक भंडार, दिल्ली,1973.

39. दिनकर व्यक्तित्व एवं कृतित्व, सं.जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी,प्रबोधप्रकाशन, दिल्ली, 1976.

40. दिनकर वैचारिक क्रान्ति के परिवेशमें, डॉ. पी.आदेश्वर राव,

41. दिनकर सृष्टि और दृष्टि, डॉ. मोतीलाल दीक्षित, अभिलाषा प्रकाशन, कानपुर, 1978.

42. दिनकर सृष्टि और दृष्टि, सं. गोपीकृष्ण कौल, वातायन प्रकाशन, गाजियाबाद, 1965.

43. द्वन्द्वगीत रामधारी सिंह दिनकर

44. नये सुभाषित, रामधारी सिंह दिनकर,

45. नयी समीक्षा के प्रतिमान, डॉ. निर्मला जैन, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1977.

46. नीड़ का निर्माण फिर, डॉ. हरिवंशराय बच्चन, राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली, 1973.

47. नीम के पत्ते, रामधारी सिंह दिनकर,

48. नील कुसुम, रामधारी सिंह दिनकर, उदयाचल पटना, 1960.

49. पंत, प्रसाद और मैथिलीशरण, रामधारी सिंह दिनकर, उदयाचल,पटना, 1965.

50. प्रणभंग तथा अन्य कवितायें, रामधारी सिंह दिनकर, राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली, 1976.

51. पत्थर युग के दो बुत, आचार्य चतुरसेन, राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली,1975.

52. पावन संस्मरण, श्री नारायण चतुर्वेदी, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली,1977.

53. पौराणिक काव्य आधुनिक संदर्भ, गो.रा. कुलकर्णी, विद्या-विहार आचार्य नगर, कानपुर, 1978.

54. प्राचीन भारत की संस्कृति और सभ्यता, डी.डी. कोसाम्बी, अनु. नेमिचन्द्र जैन, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1969.

55. ब्रिटिश कालीन भारत का इतिहास, पी.ई. राबर्ट्स, एस.चन्द्र एण्ड कं. दिल्ली, 1955.

56. बिहार, सत्यदेव नारायण सिन्हा, राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली, 1972.

सहायक ग्रन्थ सूची

57. बिहार का गौरव, राजेश्वर प्रसाद सिंह, आत्माराम एण्ड सन्ज, दिल्ली, 1960.

58. बिहार ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक परम्परा, पूर्वांचल प्रकाशन, पटना, 1974.

59. भारत की झाँकियाँ, डॉ. ज्ञानवती दरबार, रंजन प्रकाशन दिल्ली, 1961.

60. भारतीय आतंकवाद का इतिहास, आचार्यचन्द्रशेखर शास्त्री, शिवप्रसाद एण्ड सन्ज बुक डिपो, इलाहाबाद, 1954.

61. भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन का इतिहास, ताराचन्द, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, 1965.

62. भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा, डॉ. नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1975.

63. मृत्ति तिलक, रामधारी सिंह दिनकर, लक्ष्मी प्रकाशन पटना, 1964.

64. मनुस्मृति, पं. केशव प्रसाद शर्मा त्रिवेदी, वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई, सं. 2005.

65. महाभारत, गीता प्रेस गोरखपुर ।

66. युग चारण दिनकर, डॉ. शान्ति सिन्हा, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई सं. दिल्ली.

67. युगचेता दिनकर और उनकी उर्वशी, डॉ. राजपाल शर्मा, हिन्दी साहित्य संसार, दिल्ली, 1972.

68. यौन मनोविज्ञान, हैवलाक एलिस अनु. मन्मथनाथ गुप्त, राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली, 1975.

69. यौन शास्त्र, पक्षी, राकेश पब्लिकेशन गाजियाबाद, 1963.

70. रश्मिरथी, रामधारी सिंह दिनकर, उदयाचल, पटना, 1973.

71. रसवंती, रामधारी सिंह दिनकर, उदयाचल, पटना, 1966.

72. रामचरित मानस (विजयाटीका), तुलसीदास, मोतीलाल बनारसीदास, बनारस.

73. रामधारी सिंह दिनकर, मन्मथनाथ गुप्त, राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली, 1978.

74. रामायण, (रामाभिनंदिनी टीका) रामतेज शास्त्री, पंडित पुस्तकालय, दिल्ली, 1951.

75. राष्ट्रकवि दिनकर, सं. डॉ. गोपालराय, डॉ. शंकर देव शर्मा, ग्रन्थनिकेतन, पटना, 1975.

76. राष्ट्रकवि दिनकर और उनकी काव्य कला, डॉ. श्री शेखरचन्द जैन, जयपुर पुस्तक सदन, जयपुर, 1973.

77. राष्ट्रकवि दिनकर और उनकी साहित्य साधना, सं. प्रतापचन्द जैसवाल, समीक्षालोक कार्यालय, आगरा, 1976.

सहायक ग्रन्थ सूची

78. राष्ट्रभाषा और राष्ट्रीय एकता, रामधारी सिंह दिनकर, उदयाचल, पटना, 1958.

79. राष्ट्रीय आन्दोलन का इतिहास, मन्मथनाथ गुप्त, शिवलाल अग्रवाल एण्ड कं. लिमिटेड, 1948.

80. रेणुका, रामधारी सिंह दिनकर, उदयाचल, पटना [illegible]

81. विवाह की मुसीबतें, रामधारी सिंह दिनकर, स्टार पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 1975.

82. विवाह सेक्स और प्रेम, डॉ. प्रमिला कपूर, अनु. मुनीश नारायण सक्सेना, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 1977.

83. विश्व इतिहास की झलक, जवाहर लाल नेहरू, अनु. चन्द्र गुप्त वार्ष्णेय, सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन, दिल्ली, 1952.

84. विष्णुमहा पुराण, श्री वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, सं. 1969.

85. वोल्गा से गंगा, राहुल सांकृत्यायन, किताब महल, इलाहाबाद, 1943.

86. शोध प्रविधि, डॉ. विनय मोहन शर्मा, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1973.

87. श्री भक्तमाल, गोस्वामी श्री नाभादास, प्रियादास प्रणीत टीका, 1937.

88. सबै सयाने एक मत, आचार्य रजनीश, रजनीश फाउन्डेशन पूना, 1976.

89. संचयिता, रवीन्द्रनाथ टैगोर

90. संचयिता, रामधारी सिंह दिनकर,

91. संभोग से समाधि की ओर, आचार्य रजनीश, ईश्वरलाल ना. शाह, जीवन जागृति केन्द्र, 53-रम्पायर बिल्डिंग, 146 डॉ. डी.एन. रोड, बम्बई, 1971.

92. सामधेनी, रामधारी सिंह दिनकर, उदयाचल, पटना, 1975

93. साहित्यकार की आस्था तथा अन्य निबन्ध, महादेवी वर्मा

94. साहित्य सिद्धान्त और शोध, डॉ. आनन्द प्रकाश दीक्षित.

95. सृजन की मनोभूमि, डॉ रणवीर रांग्रा, वाणी प्रकाशन

96. साहित्य स्वरूप मूल्य और मूल्यांकन, डॉ. रामविलास शर्मा, अक्षर प्रकाशन, प्र. सं. 1968.

97. शिवपूजन रचनावली, शिवपूजन सहाय, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, 1956.

98. हुंकार, रामधारी सिंह दिनकर, उदयाचल पटना.

99. हारे को हरिनाम, रामधारी सिंह दिनकर, पटना, 1970.

सहायक ग्रन्थ सूची

100. हिन्दी की आधुनिक कविता का पौराणिक आधार, डॉ. नन्दकिशोर नंदन, प्रकाशन संस्थान, 216, श्री रामनगर, दिल्ली, 1978.

101. हिन्दी के आधुनिक प्रतिनिधि कवि, डॉ. द्वारिका प्रसाद सक्सेना, विनोद पुस्तक मंदिर आगरा, 1977.

102. हिन्दी महाकाव्य सिद्धान्त और मूल्यांकन, देवी प्रसाद गुप्त, आलोक पब्लिकेशन, जयपुर, 1968.

103. हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास, भारतेन्दु भवन चंडीगढ़, 1965.

104. हिन्दू विवाह की उत्पत्ति और विकास, डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय, भारतीय लोकसंस्कृति शोध संस्थान, वाराणसी, 1974.

105. हिन्दी महा काव्य, प्रभात चन्द शर्मा, आकाशवाणी प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, 1969.

कोश

1. अंग्रेजी हिन्दी कोश, सं. फादर कामिल बुल्के, एस.चन्द्र. एण्ड कं. दिल्ली, 1981.

2. नालान्दा विशाल शब्द सागर, श्री नवल जी, न्यूइम्पीरियल बुक डिपो, देहली, सं. 2007.

3. पौराणिक कोश, सं. ~~भगवत शरण उपाध्याय~~ राणाप्रसाद शर्मा, ज्ञानमंडल, लिमिटेड, वाराणसी, सं.2028.

4. बृहत हिन्दी कोश, सं. कालिका प्रसाद, ज्ञानमंडल लि. वाराणसी, सं.2030.

5. भारतीय व्यक्ति कोश, सं. भगवत शरण उपाध्याय.

6. बृहत अंग्रेजी हिन्दी कोश, सं. डॉ. हरदेव बहारी, ज्ञानमंडल लि. वाराणसी, 1969.

7. मानक अंग्रेजी कोश, सं. सत्यप्रकाश तथा बलभद्रप्रसाद मिश्र, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, 1971.

8. व्यावहारिक हिन्दी अंग्रेजी कोश, सं. महेन्द्र चतुर्वेदी, तथा डॉ. बी.एन. तिवारी, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1980.

सहायक ग्रन्थ सूची

कोश

9. संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ, सं. चतुर्वेदी तारका प्रसाद शर्मा, तरणीश झा, रामनारायण लाल इलाहाबाद, 1957.
10. साहित्य कोश, डॉ. धीरेन्द्रवर्मा
11. हिन्दी शब्द सागर, सं. श्याम सुन्दर दास, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सं. 2030.
12. संस्कृत साहित्य कोश, सं. डॉ. राजवंश होरा

सहायक ग्रन्थ सूची

पत्रिकायें

1. अजन्ता : मासिक : हिन्दी प्रचार सभा हैदराबाद, फरवरी, 1953.
2. अवन्तिका : मासिक : जून, जुलाई, 1954; तथा अक्टूबर, 1955.
3. कल्पना : मासिक, जून, 1950; जनवरी, 1954; मार्च, 1954; अप्रैल, 55; दिसम्बर, 1955; अगस्त, 1960; मार्च, 1961; मई, जून, 1961; अप्रैल, 1963; तथा सितम्बर, 1964.
4. दक्षिण भारत : द्वि मासिक : सितम्बर, अक्टूबर, 1961.
5. भाषा : त्रैमासिक : केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, भारत सरकार, दिसम्बर, 1963.
6. सरस्वती, : मासिक : मार्च, 1962; जनवरी, 1964; अक्टूबर, 1968; तथा फरवरी, 1970.
7. सरस्वती संवाद : मासिक : अगस्त, 1954; सितम्बर, 1954; तथा दिसम्बर, 1956.
8. आलोचना, जनवरी, 1959.
9. साप्ताहिक हिन्दुस्तान, 7 जून, 1970 तथा 12 मई, 1974.
10. धर्मयुग 20 सितम्बर, 1974.

B I B L I O G R A P H Y

1. ABC of Relativity (3rd Edn) - Bertrand Russe - George Allen & Unwin, London.

2. A General Introduction to Psycho Analysis - Sigmund S. Freud, Tr. J. Riviere, New York Perma Giants, 1953.

3. A Propose to Lady Chatterlies lover & others Essays - D.H. Lawrence Penguin Books Limited, England, 1967.

4. Beyond the Pleasure Principle - Sigmund S. Freud - Tr.J. Strachy (International Psychoanalitical Library, Ed. E. Jones No.4) London, 1950.

5. Civilization and its Discontents - Freud - Tr. J. Riviere (International Psychoanalytical Library - Ed.E.Jones No.17) Hogarth Press, London-1930.

6. Collected Papers (ix Impression) - The Hogarth Press Ltd., London-1956.

7. Contemporary Theories & systems in Psychology - Benjamin B. Wolman - Indian Reprint - 1979 - Freeman Book Company, Kamalanagar, Delhi.

8. Cosmic Religion - Albert Einstein - Covici Friede - New York -1931.

9. Crime Passionnel - Jean Paul Sartre - Tr. Kitty Black - Eyre Mathuen Limited, London - 1978.

10. Current Social Problems - Gillette John.M. & James M. Reinhardt - American Book Company, Chicago - 1937.

11. Formalization & Progress in Psychology - Dawin Kurt - John Willy & Sons, New York - 1973.

12. Fundamentals of Research - Busnagi Rajannan Librarian - American Studies Research Centre - Hyderabad (N.D.)

13. Glimpses of the Great - Viereck George Sylvester - Macaulay Company, London - 1940.

14. Group Psychology & Analysis of the Ego - Sigmund Freud - Tr. J.Strachey (International Library No.6) - London - 1922.

15. Hindu World - Benjamin Walker - George Allen & Unwin Ltd., London - 1968.

16. History of India (1857 - 1916) - Bhatia O.P. Sing - S. Amardeep Publishers - New Delhi - 1968.

17. An Analysis of Human Sexual Response - Ed. Ruth & Breacher - Andre Deutsch - London - 1967.

18. Human Development A Transactional Perspective - Ira J. Garden, Harper & Rao, Incorporation, New York - 1975.

19. Ideal Marriage (Its Psychology & Technique) - Th. H. Van de Velde - Allied Publishers Limited, Delhi - 1976.

20. India of To-day - Khan Syed Sirdar Ali - Times Press, Bombay - 1908.

21. Life Against Death - Dr. Norman O. Brown - Sphere Book Ltd., London 1976.

22. Madness & Civilization - Michel Foucault - Tr. Richard Haward - Vintage Books - New York - 1973.

23. Elementry Psychiatry - Roshen Master - Asia Publishing House, Bombay - 1967.

24. Marriage & Morals - Bertrand Russell - G.A.U. Limited, London-1958.

25. Objective Knowledge - An Evolutionary Approach - Karl R. Popper - Oxford University Press, London - 1975.

26. Ordinary Ecstasy - John Rowan - Routledge & Kegan Paul Limited, London - 1976.

27. Personality & Personal Growth - James Fauiman & Robert Frager - Hoper & Row, New York - 1976.

28. Philosophy of Psycho Analysis - Dr. Mrinal Miri - Indian Institute of Advanced Study, Simla - 1977.

29. A theory of Human Motivation, Psychology of the World To-day - Edt. by Robert V. Gulhrie - Addison Westey Publishing Co., London - 1971.

30. Science & Human Experience - Dingle.W - William & Norgate - London - 1931.

31. Sketch for a theory of the Emotions - Sartre Jean Paul - Tr. Philip Mairet Methuen & Company Ltd., London - 1977.

32. Sri Aurobindo (Vol.5) Collected Poems, - Sri Aurobindo - Sri Aurobindo Asharam Press, Pondichery - 1971.

33. Marriage as a Psychological Relation-ship - Jung C.G. - The collected works of C.G. Jung (Vol.17) Tr. by R.F.C. Hull - Routledge & Kegen Paul Ltd., London - 1977.

34. The Divided Self - R.D.Laing - Penguin Books Ltd., England - 1976.

35. L o v e - Douglass N. Morgan - Jaico Publishing House - Bombay-1966.

36. The Facts of Life - R.D. Laing - Penguin Book Ltd., England - 1977.

37. The Grammer of Living - David Cooper - Penguin Books Ltd., England - 1976.

38. The Imperial Gazetteer of India (Vol.XVII) - Oxford at the Clarendon Press - 1908.

39. The Indian Ideal of Marriage - Rabindra Nath Tagore - The Book of Marriage - Edt. Count Hermann Keyserling - Jonathan Cope Thirty Bedford Square - London - 1927.

40. The Language of Poetry - Robberrt Millar M.A. & Ian Currie M.A. - Hainemann Educational Books Limited - 48 Charls Street, London - 1976.

41. The Language Poets Use - Mrs. Winifred Nowothy - The Athlone Press University of London - 1975.

42. The Last Years of British India - Michael EdwardesS. Madras - 1963.

43. The Life & World of Call Girls in India - Dr. Promila Kapur - Vikas Publishing House, New Delhi - 1978.

44. The Pill, The Sezual Revolution & The School - Montagu Ashley, Psychology in the World To_day.

45. The Principles of Psychology - William James (Vol-I) Dover Publication - Inc. New York - 1950.

46. The Politics of Experience - R.D. Laing - Penguin Book Limited, Middlesex, England - 1977.

47. The Portable Blake - Blake W. - Ed. A. Kazim - Viking Press, New York - 1953.

48. Theories of Personality - Calvin S. Hall & Gardner Lindzey - John Wiley & Sons Limited, New York - 1975.

49. The Speaking Tree - Richard Lannoy - Oxford University Press, New York - 1971.

50. Einstein Theoretical Physicist Aylesa Forsee - The Macmillan Company New York - 1963.

51. The Sacred Book of the East F. Max Mullar (Vol. XIV) Tr. Julius Egeling)

52. Understanding Human Behaviour (Vol.I) Ed. Nicolas Wright - Purnel Reference Books - A division of Macdonald Rain Tree - Inc. 205 - West High Land Avenue - Wisconsion -1977.

53. Women in Love - Lawrance D.H. - Penguin Books Limited, England - 197

54. Western Philosophical Thought - Bertrand Russell - George Allen and Unwin Limited, London - 1946.

55. Britanica Atlas - Encylopedia Britanica Inc. - Ed. Frank J. Sutley - London - 1977.

DICTITIONARIES & ENCYCLOPEDIAS

1. A Sanskrit English Dictionary - Sir Monior Williams Clarendon Press Oxford - 1956.

2. Encyclopedia of Science & Technology - Mac Grow Hill Book Co.,-1977.

3. Longman Modern English Dictionary - Ed. Owen - Watson, Longman Group Limited, London - 1976.

4. New Standard Dictionary of the English Language - Ed. Isaac Funk - The Standard Literary Company Limited - 1910.

5. The Illustrated Heritage Dictionary & Information Book, Mifflin Company - Boston - 1977.

6. The Advanced Learner's Dictionary of Current English - Ed. A.S. Hornby, Oxford University Press - 1963.

7. The Modern Medical Encyclopedia - Ed. Benjamin F. Miller - Golden Press - Inc. New York - 1965.

8. The New Caxton Encyclopedia (Vol.14) Caxton Publishing Company Ltd., London - 1977.

9. The New Oxford Illustrated Dictionary, - Oxford University Press-1978

10. The Oxford English Dictionary (Vol.VII) - Clarendon Press - 1970.

11. The Random House Dictionary of the English Language - Ed. Jess Stein - The Tulsi Shah Enterprises, Bombay - 1970.

12. Webster's Third New International Dictionary - Ed. Philip Babcock Gove, G. Bell & Sons Limited - Spring Field Mass - G.& C. Marrian Company Limited, London - 1968.

PERIODICALS & JOURNALS

1. L i f e - 9th January, 1950.

2. Royal Society of Health Journal - May/June, 1966.

3. Scientific American - April, 1950 -

4. Dissent - Fall, 1980.

परिशिष्ट

* उन सहायक ग्रन्थों की सूची जो मुख्य सूची में नहीं आ पाये हैं । *

1. आदिशास्त्र, गजराज नाथ शाह, श्रीकृष्ण दास, बम्बई, 1958.
2. ईशावास्योपनिषद, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, 1977.
3. कालिदास ग्रन्थावली, सं. आचार्य सीताराम चतुर्वेदी, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, 1930.
4. कविता की तीसरी आँख, डॉ. प्रभाकर श्रोत्रिय, नेशनलपब्लिशिंग, दिल्ली, 1980.
5. केनोपनिषद, डॉ. सुमन शर्मा, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, 1980.
6. देश विदेश, दिनकर, उदयाचल पटना, * बिनातिथि *
7. दिनकर के पत्र, सं. कन्हैयालाल सहकार, दिनकर शोध संस्थान, कलकत्ता, 1981.
8. परशुराम की प्रतीक्षा, रामधारी सिंह दिनकर, उदयाचल, पटना, 1966.
9. पारस्कर गृह्यसूत्र, डॉ. हरिदत्त शर्मा, भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली, 1971.
10. प्लेटो के काव्य सिद्धान्त, डॉ. निर्मला जैन, नेशनलपब्लिशिंग, दिल्ली, 1965.
11. भारतीय दर्शन, आचार्य बलदेव उपाध्याय, चौखम्बा ओरियन्टियालिया, दिल्ली, 1979.
12. भारतीय सौन्दर्य शास्त्र की भूमिका, डॉ. नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग, हाउस, दिल्ली, 1974.
13. मिथक और साहित्य, डॉ. नगेन्द्र, नेशनलपब्लिशिंग, हाउस, दिल्ली, 1979.
14. माण्डूक्योपनिषद, यमुना प्रसाद त्रिपाठी, भारतीय विद्याप्रकाशन, दिल्ली, 1966.
15. मिट्टी की ओर, रामधारी सिंह दिनकर, उदयाचल, पटना, 1973.

16. वैष्णव, शैव और अन्य धार्मिक मत, डॉ. आर जी. भण्डारकर, अनु. महेश्वरी प्रसाद, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, 1977.
17. वैदिक विचारधारा का वैज्ञानिक आधार, सत्यव्रत ~~सिद्धालंकार~~ सिद्धान्तालंकार, गोविन्दराम हासानन्द, दिल्ली, 1931.
18. श्वेताश्वरोपनिषद, डॉ. तुलसीराम शर्मा, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, 1976.
19. संस्मरण और श्रद्धांजलियाँ, रामधारी सिंह दिनकर, उदयाचल, पटना, 1969.
20. शुद्ध कविता की खोज, रामधारी सिंह दिनकर, उदयाचल, पटना, 1966.
21. संस्कृति के चार अध्याय, रामधारी सिंह दिनकर, उदयाचल, पटना, 1977.
22. साक्षी है सौन्दर्य प्रातिभ, डॉ. रमेशकुन्तल मेघ, नेशनल पब्लिशिंग, हाउस, दिल्ली, 1974.
23. हमारी सांस्कृतिक एकता, रामधारी सिंह दिनकर, उदयाचल, पटना, [illegible] बिना तिथि [illegible]
24. हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ, डॉ. नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1960.
25. भीतर का घाव, डॉ. देवराज, राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली, 1973.
26. मध्य युगीन साहित्य की लोक तात्विक अध्ययन, डॉ. सत्येन्द्र, विनोद पुस्तक मंदिर आगरा. 1960.
27. क्या भूलूँ क्या याद करूँ, डॉ हरवंश राय बच्चन, राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली, 1977.
28. फाँसी के तख्ते से, यूलियस फूचिक, अनु. अमृतराय, हंसप्रकाशन, इलाहाबाद, 1977.
29. रामधारी सिंह दिनकर, रश्मिलोक, स्टार पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 1974.
30. उजली आग, रामधारी सिंह दिनकर, उदयाचल, पटना